* श्रीराघवाय नमः *

गणेश-ग्रन्थमाला—(१)

रघुवंश

महाकवि कालिदास-कृत रघुवंश महाकाव्य का
पद्यबद्ध हिन्दी अनुवाद।

अनुवादक—
रामप्रसाद सारस्वत एम. ए. एल. टी.
अध्यापक, बलवन्त राजपूत इंटरमीजियेट कालेज, आगरा

प्रकाशक—
गणेशाश्रम बुक डिपो,
मदियाकटरा, आगरा।

प्रथम संस्करण
१०००

वि० सं० १९९२
मूल्य ३॥)

मुद्रक—सत्यव्रत शर्मा, शान्ति प्रेस, आगरा।

स्वर्गीय श्री पं० गणेशीलालजी सारस्वत, साहित्याचार्य ।

स्मरण

***

श्री पितृ-पाद-पद्मों की
मिलती न आज झांकी है।
उस अति विचित्र सत्ता का
यह चित्र-मात्र बाकी है॥१

उस प्रतिमा पर विस्मृति का
परदा पड़ता जाता है;
क्षण-क्षण के रज-कण-गण का
गरदा चढ़ता जाता है॥२

कल्पना रूप-रचना में
निर्बल होती जाती है;
चिंतना-शक्ति निज बल को
पल-पल खोती जाती है॥३

तो भाव-जगत से भी क्या
गुरुवर! तुम खो जाओगे?
विस्मृति-सागर में सीकर
बनकर गुम हो जाओगे?४

क्या सूख जायगा यों ही
वह स्नेह-सुधा का सागर?
क्या रह जावेगी रीती
मेरी यह बीती गागर?-५

सब सह वह मुझे बचाना
जग के संताप-शरों से;
सह ताप आप ज्यों शिशु को
ढक लेता कीर परों से॥६

वह बाल-सुलभ सीधापन;
वह जीवन गंगा-जल-सा;
वह सद्व्यवसाय निरंतर;
वह अध्यवसाय अचल-सा;७

संतत सत्यानुचरण का
वह प्रण प्रशस्य अति पावन;
मन, वचन, तथा करनी का
वह सामंजस्य सुहावन;८

निगमागम का वह निस्पृह
अध्ययन तथा अध्यापन;
सुमधुर कल कर्ण-सुधा-सा
वह रस-मय काव्यालापन;९

वह शक्ति लोक-सेवा की,
अनुरक्ति देश की भारी;
वह राष्ट्रीयता अखंडित
'पंडित-प्रथा' से न्यारी;१०

घर का वह धर्म सनातन;
कर का वह कर्म सनातन;
तन का वह वर्म सनातन;
मन का वह मर्म सनातन; ११

हे हरे ! भाव ये प्यारे
सारे विसरे जाते हैं;
ये खरे रत्न विस्मृति की
रज में बिखरे जाते हैं ॥ १२

पर लगा काल के काले
ये खग उड़ने वाले हैं;
तज नीड़, शून्य में रमकर,
फिर क्या मुड़ने वाले हैं ? १३

उड़ते विहंगमो ! आओ,
इस वंश-यष्टि पर गाओ;
विस्मरण-मरण की भीषण
नीरवता तुरत भगाओ ॥ १४

जिस पर तुम रमते थे, अब
वह विटप विशाल नहीं है,
घर रुको, एक यह उसकी
छोटी सी डाल रही है ॥ १५

तुम यहाँ पितृ-चरणों की
पुण्य स्मृति को सरसाओ,
परमेश ! वहाँ तुम उन पर
सुख-शम अशेष बरसाओ १६

विनीत—
रामप्रसाद ।

पूर्वाभास

समाज और संस्कृति—

"धर्म-संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे" की घोषणा करने वाले भगवान् कृष्णचन्द्र द्वारा संस्थापित धर्म-मर्यादा लगभग ई० पू० ७०० में ढीली पड़ गई। जनता की धार्मिक पिपासा को शान्त करने में तत्कालीन हिन्दू-धर्म असमर्थ होगया। उसकी आध्यात्मिक-विचार-सम्पदा तो बहुत बढ़ी चढ़ी थी, ईश्वर-जीव-प्रकृति, कर्म-उपासना-ज्ञान, जन्म-मरण-मोक्षादि का वह बहुत पहिले पूर्ण विवेचन कर चुका था, किन्तु इस विचार-वैभव का उपयोग करने वाले इने-गिने सुशिक्षित और शिष्ट-जन थे। अधिकांश समाज अन्धकार-सागर में चक्कर काटता फिरता था। प्रकाश का स्तम्भ उसकी पहुँच के परे था। शान्ति का तट उसके लिए दुर्गम हो रहा था। धर्म के तत्व संस्कृत की सुदृढ़ मंजूषा में बन्द थे। जनता के अविकसित मस्तिष्क किन्तु भावुक हृदय के अनुकूल धर्म के सरल किन्तु सरस स्वरूप का निरूपण या प्रचार करने में तत्कालीन विचारक और प्रचारक निष्फल रहे। वैदिक कर्म-काण्ड के जटिल जाल से, यज्ञ अनुष्ठानादि के विकट विधान से, एवं इन्द्र, वरुण, रुद्र, सूर्य, अग्नि, ऊषा, पवनादि वैदिक देवताओं की भारी भीड़ से सारी जनता घबड़ा गई।

बौद्ध-धर्म का उद्भव और विकास—

धार्मिक असंतोष की यह आग कब तक दबी रह सकती थी? वह एक दम भड़क उठी। फल-स्वरूप एक धर्माचार्य का

प्रादुर्भाव हुआ, जिसने धर्मोत्सुक जनसाधारण के सामने उन्हीं की सीधी सादी भाषा में उनकी चित्त-वृत्ति और विचार-शक्ति के अनुकूल धर्म का एक सरल रूप रख दिया। ये धर्माचार्य थे करुणावतार श्री बुद्धदेव, जो देश के सामने एक नया सन्देश लेकर आये। धर्म के नाम पर चलनेवाले नीरस और हृदयहीन क्रिया-कलाप से घबड़ाई हुई जनता ने इस देव-दूत का हृदय से स्वागत किया। इसके शुद्धाचरण, अहिंसा, दया, संयम, त्यागादि मनोमोहक आदर्शों पर वह एक दम रीझ गई। उधर प्राचीन अंध परम्परा, इधर नवीन-विचार-स्वातन्त्र्य, उधर कर्मकांड की अत्यन्त जटिलता, इधर उसकी पूर्ण सरलता; उधर जाति-पाँति की विषमता, इधर भ्रातृभाव की व्यापक समता; उधर धार्मिक तत्वों का निरूपण करनेवाली दुरूह संस्कृत, इधर उनके प्रतिपादन मे प्रयुक्त बोलचाल की सरल पाली; उधर अजगरी वृत्ति वाले धर्माध्यक्ष, इधर अपनी धर्म-ध्वजा को देश के कोने कोने मे फहराने वाले घुटमुंडे भिक्षु और क्षपणक! बस फिर क्या था। वैदिक धर्म का सिंहासन हिल गया और बौद्धधर्म की विजय-भेरी बजने लगी। इधर राज-शक्ति का भी इस नवीन धर्म को पूरा पूरा सहारा मिला। अशोक और कणिष्क जैसे प्रतापी सम्राटों के हाथों में आकर बौद्धधर्म की विजय-वैजयन्ती भारत मे ही नहीं, ब्रह्मा, लंका, सीरिया, मिश्र, मकदूनिया, चीन, जापानादि सुदूरवर्ती देशों में भी फहराने लगी।

उसका ह्रास—

किन्तु काल-चक्र का वेग बड़ा ही प्रचंड होता है। इसकी चपेटों से भूधर भी थर्रा जाते हैं। बौद्ध धर्म का पौधा, जो अशोक जैसे प्रतापी सम्राटों से परिपोषित होकर एक विशाल

वृक्ष बन गया था, लगभग छः शताब्दियों तक अपना जौहर दिखाकर, अपने ही जन्म-स्थान मे सूखने और घुनने लगा। बुद्धदेव के अनुयायी उनके भव्य भावों और उच्च आदर्शों को भुलाकर उनकी प्रतिमाओं को पूजने और तदर्थ भारी सजधज की आयोजना तथा विशाल भवनों का निर्माण करने लगे। आत्म-संस्कार, अहिंसा, प्रेम, परोपकारादि उच्च आदर्श, जिन पर संसार एक दम रीझ गया था, पीछे हटने, और उनके स्थान मे मिथ्याडंबर अपनी धाक जमाने लगे। इस प्रकार मूलाधार के जर्जर होने पर अन्त मे बौद्ध धर्म के पैर भी लड़खड़ाने लगे।

हिन्दूधर्म का पुनरुत्थान—

हिन्दू धर्म के पास विचार-सामग्री की तो पहिले भी कमी नहीं थी। कमी थी केवल रुचि-समयानुकूलता की। बौद्धधर्म के आशातीत अभ्युदय ने उसको होश मे ला दिया। उसे अपनी विस्मृत शक्ति का स्मरण हो गया और अपनी न्यूनताएँ उसने खूब समझलीं। अतः कुछ समय के लिये पीछे हटा हुआ हिन्दू धर्म अपनी नवीन वेष-भूषा बनाकर, नवीन आदर्शों और नवीन संदेशों की घोषणा करता हुआ, भारतीय रंग-मंच पर फिर आ धमका।

उसकी नवीन रूप-रेखा—

समाज के भिन्न-भिन्न भागों की भिन्न-भिन्न रुचियों और प्रवृत्तियों के अनुसार अपने एक ही मुख्य सिद्धान्त को अनेक रूपों में प्रदर्शित करने की समयोचित पटुता में अब की बार उसने चमत्कार कर दिखाया, और तदनुसार उसे अद्भुत सफलता प्राप्त हुई। उसका ईश्वर कर्म-कांड और ज्ञान का ही

आलम्बन न रहकर भक्ति और उपासना के क्षेत्र में पूर्णतः प्रतिष्ठित होगया। प्रचंडता और भीषणता के आवरण को हटाकर उसको प्रेम, दया, भक्ति विश्वास आदि कोमल भावनाओं का भंडार बना दिया।

शैव धर्म—

वेदों के भयावह रुद्रदेव, जिनसे भयभीत होकर आर्य यह प्रार्थना करते थे—"हे रुद्र ! हमारे पुत्र-पौत्रों, मनुष्यों, गायों, घोड़ों और वीरों का बध न कर", अब आशुतोष शिव, शङ्कर, शंभु के मनोहर मृदुल रूप में आविर्भूत हुए। जल, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और पवन, जिनकी देवता-रूप से पृथक्-पृथक् पूजा का वैदिक साहित्य मे विधान है, और जिनमे पाँचों तत्वो का समावेश हो जाता है, तथा यजमान, जिसमे चैतन्य तत्व भी सम्मिलित हो जाता है, भगवान् शङ्कर में सन्निहित होगये, और तदनुसार वे अष्टमूर्ति बन गये। इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति का एक मात्र आधार सदाशिव को, तथा आद्या शक्ति का प्रतीक उनकी पत्नी पार्वती को बनाकर, भगवद्भावना मे भावुकता और रागात्मकता का गहरा पुट डाल दिया गया। वेदान्तियों के ईश्वर और प्रकृति, जो केवल ज्ञान और गूढ़ चिंतन के विषय थे, जिनमें भक्त की भावुक भाव-साधना के लिये क्षेत्र ही न था, उपासना-क्षेत्र में शंकर और पार्वती बन गये। भगवद्भावना हार्दिकता से ओत-प्रोत हो गई। उसमें आत्मानुरूपता का गहरा रंग लगा दिया गया, और भगवान् भक्त को अपने, अपने से, अपनी दुनियाँ के, नहीं नहीं, अपने घर के दीखने लगे। उनसे रिश्ता पैदा होगया। मनुष्यता को आश्वासन मिला। हिमालय के आकाश-चुंबी शिखरों पर, कैलाश की रजत-राशि पर, गन्ध-

भादन पर्वत की क्रीड़ा-कुंजों में जगत के जननी-जनक गौरी-शंकर उसे लोक-रक्षा के लिये सन्नद्ध दिखाई देने लगे। देश के कृतार्थ हृदय से उद्‌गार निकल पड़े—'जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।'

वैष्णव धर्म—

वैदिक साहित्य के विष्णु का भी इसी भाँति काया-कल्प हुआ। लक्ष्मी-नारायण क्षीर-सागर में ही शयन करते न रहे, वरन् सीताराम और राधाकृष्ण के रूपों में क्रमशः अयोध्या और गोकुल मे आकर नर-लीला करने लगे। हिमालय के शिखरों से उतर कर और क्षीर-सागर की लहरों से निकल कर भगवान् धीरे धीरे भारत के घरो में प्रविष्ट हो गये। भगवद्‌भावना में आत्मानुरूपता का और भी गहरा पुट पड़ गया।

जैसे दृष्ट फूल को सूँघ कर सूँघनेवाला अदृष्ट गंध का आनंद लेता है, भारतवर्ष भी व्यक्त सत्ता से अव्यक्त या, प्रत्यक्ष से परोक्ष का, परिमत से अपरिमित का, सगुण से निर्गुण का, और उसी प्रकार द्वितीय से प्रथम का आभास और आनन्द लेने लगा। ज्ञान और उपासना भाई बहिन की भाँति एक ही घर मे हिलमिल कर खेलने लगे। इस तरह भारत में शैव और वैष्णव धर्मों के रूप में ईश्वर-जीव-प्रकृति का, और कर्म-उपासना-ज्ञान का अद्भुत समन्वय हुआ, जिसके सामने बौद्ध-धर्म के पैर उखड़ गये। दोनों ने वेदो के महत्व को, दर्शन-शास्त्र की विचार-परंपरा को, और धर्म-शास्त्र की वर्णाश्रम-व्यवस्था को अक्षुण्ण रखते हुए, एक नवीन भाव-धारा बहा दी, जिसमें ज्ञानी और भक्त, शिक्षित और अशिक्षित सब रुच्यनुसार अवगाहन करने लगे। विलक्षण समीकरण था!

हिन्दू धर्म ने ये सब तैयारी बौद्ध धर्म से मोरचा लेने के लिये ही नहीं की थी। वैष्णव और शैव धर्म का बीज-वपन तो रामायण काल मे ही हो चुका था, किन्तु यज्ञ-कुण्डों के धूमानल तथा कर्म-काण्ड के प्रकांड बवंडर से ये पौधे झुलसते रहे। ई० पू० द्वितीय शताब्दी के लगभग ये पिर पनपने और शनैः शनैः देश पर अपना आधिपत्य जमाने लगे। विदेशी भी इनके जादू से प्रभावित होने लगे। यूनान के राजा एन्टीसीडस का राजदूत हील्योडोरस भागवत था, और कुशन सम्राट बीमा कैडफिसीज अपने को माहेश्वर कहता था।

साहित्य—

इस परिवर्तन के प्रभाव से साहित्य कैसे अछूता रह सकता था? हिन्दू धर्म की सर्वेसर्वा संस्कृत फिर मैदान मे उतरी। शिष्ट समुदाय पाली और अन्यान्य प्रान्तीय प्राकृतों के असंस्कृत रूप से सन्तुष्ट न रह कर संस्कृत की संस्कृत, कोमल, कान्त पदावली पर रीझने लगा। कालान्तर में संस्कृत शिष्ट समाज के भाव-विनिमय का प्रधान साधन बन गई, और उसने वह प्रतिष्ठित पद प्राप्त कर लिया, जो आजकल उत्तरी भारत में खड़ी बोली को प्राप्त है। राज-प्रशस्तिओं की भाषा संस्कृत बन गई। राज-दरबारों मे संस्कृत काव्य-तंत्री की झनकार गूँजने लगी। सम्राटों के प्रोत्साहन-पय से सींचा हुआ संस्कृत-काव्य-कानन लहलहा उठा, और उसके सुरम्य सुमनों के सौरभ ने उत्तरी भारत को महका दिया। व्यापक और प्रचुर प्रयोग से संस्कृत में अद्भुत भाव-वाहकता और ध्वनि-सौन्दर्य का समावेश हुआ।

हिन्दू-धर्म के नवीन आदर्शों ने काव्य-क्षेत्र में नवीन जीवन का संचार किया। कैलास-वासी शिव, अयोध्या-वासी राम और

द्वारका-वासी कृष्ण के मानवी रूपों में परब्रह्म की पूर्ण प्रतिष्ठा ने काव्य के लिए नये द्वार खोले, और भारतीय साहित्य के आदर्श पर व्यापक और स्थायी प्रभाव डाला। आदर्शवाद भारतीय काव्य-परंपरा का अमिट अङ्ग बन गया।

मानवी भगवान में भक्ति, रति, वात्सल्य, मैत्री, दया, क्रोध निग्रह, घात, प्रतिघातादि अनेक कोमल और क्रूर भावों की संस्थापना होने के कारण भगवच्चरित मे सर्वाङ्गीणता और भावशबलता का समावेश हुआ, जो महाकाव्य नाटकादि के लिए बहुत ही अनुकूल पड़ा।

भगवान के मानवी रूप की प्रतिष्ठा से काव्य की इयत्ता भी बहुत प्रभावित हुई। जहाँ केवल ज्ञान, चिन्तन और स्वानुभूति की पैंठ थी, वहाँ भाव और राग का भी प्रवेश हो गया। अतः काव्य-सामग्री प्रचुर प्रमाण मे प्राप्त होने लगी, जिसका विकसित संस्कृत भाषा ने बहुत लाभ उठाया, और शिव-राम-कृष्ण-विषयक काव्य से अपना भंडार भरा।

समाज का सर्वाङ्गीण विकास—

हिन्दू धर्म के इस पुनरुत्थान-काल में भारतवर्ष की सर्वतोमुखी उन्नति हुई। धन, धर्म, समाज, साहित्य, कला, वाणिज्य, व्यवसायादि सब की समृद्धि से देश जगमगा उठा। हिन्दू धर्म की धुरी को धारण करने वाले गुप्तवंशी सम्राटों के साम्राज्य-विस्तार के साथ साथ हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति का भी विस्तार हुआ। अतः उनके काल में यह उत्थान अपनी चरम सीमा को पहुँच गया। पतझड़ के बाद यह भारत के रमणीय वसन्त-काल का पुनरागमन था, जिसमें सर्वत्र सुख, शान्ति और समृद्धि ही दिखलाई देती थी। इन पंक्तियों के लेखक की

यह धारणा है कि इसी विशद वसन्त-काल में कवि-कुल-किरीट कालिदास की कविता-कोकिला ने अपनी कमनीय कूक से संसार को मुग्ध किया था। उनकी काव्य-रचना से इस काल की शांति और समृद्धि के स्वर स्पष्ट सुनाई देते हैं। नवीन हिन्दू-धर्म और संस्कृति की उसमें से अचूक अलाप निकलती है। शैव और वैष्णव धर्मों का रमणीय गान तथा सुदृढ़ वर्णाश्रम-धर्म की तीव्र तान को वह निर्भ्रान्त रूप से अलापती है। काव्य के नये आदर्श और रूप की उससे साफ झनकार निकलती है।

परन्तु इस महाकवि का काल बड़े बड़े विद्वानों के लिए भी एक पेचीदा पहेली है। बाह्य या आभ्यन्तरिक पुष्ट प्रमाणों के अभाव में जब यह विषय कालिदास-रत्नाकर के अगस्त्यों के लिए भी अनुमान-गम्य बन रहा है, तो मुझ जैसे अकिंचन के लिए तत्सम्बन्धी सुनिश्चित सिद्धान्त पर तुरन्त ही कूद पड़ना अवश्य ही अनधिकार-चेष्टा होगी। अतः इस प्रश्न पर प्रकाश डालने का यही सब से अच्छा ढङ्ग मालूम होता है कि प्रमुख प्रमुख विचारकों के तद्विषयक विचार पाठकों के सामने रख दिए जायँ, उनका यथाशक्ति विवेचन कर लिया जाय, और अंत में सर्वाधिकसंख्यक प्रमाण से पुष्ट सिद्धान्त को अपना लिया जाय।

कालिदास-काल
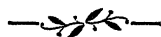
१६ शताब्दियों में व्याप्त—

कालिदास जी महाराज ई० पू० ८ वीं से ई० प० ११ वीं तक उन्नीस शताब्दियों की विशाल काल-कन्दरा के अन्धकार मे छिपे बैठे हैं। खोज लेते हुए खोजी उसमे चक्कर काट रहे हैं, किन्तु लौट कर कोई भी सुनिश्चित रूप से यह नहीं कहता कि वह चित-चोर अमुक कोने मे पकड़ लिया।

ई० पू० ८ वीं शताब्दी—

कालिदास-काल को सबसे अधिक प्राचीनता की ओर ले जाने वाले महाशय हिपोलिट फौच हैं, जो इस महाकवि का अस्तित्व सूर्य-वंश के विलासी राजा अग्निवर्ण के पुत्र के अभिषेक के समय बतलाते है, और इस अभिषेक-समय को ई० पू० आठवीं शताब्दी मे नियत करते हैं।

किन्तु यदि यह बात है तो कालिदास ने उस अभिषेक और उस अभिषिक्त का वर्णन क्यों नहीं किया? रघुवंशकार अपने समय तक सूर्य-कुल की पूरी वंशावली देकर रघुवंश को राजतरंगिणी की भाँति एक ऐतिहासिक पुस्तक नहीं बनाना चाहता था। उसकी यदि यह मंशा होती तो महाराज दिलीप से ही उसका श्रीगणेश क्यों करता? रघु-कुल-नरेशो के प्रशस्य नमूनों से छुट्टी पाकर, अन्तरवर्ती राजाओ की ओर संकेतमात्र करता हुआ, वह द्रुतगति से अग्निवर्ण की ओर इसलिए दौड़ा है कि उसकी हेय और कलुषित रीतिनीति का, तथा उसके दुःखद परिणाम का सविवरण वर्णन किये बिना तत्कालीन

राजसत्ता के लिये दिया हुआ उसका सन्देश और उपदेश सर्वाङ्गीण न होता। अतः हमारी राय में कथा-सूत्र के अग्नि-वर्ण और उसकी सगर्भ रानी तक चलने से कवि की नीति सटी हुई है, न कि उसकी आयु।

कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र में शुङ्गवंशी राजा पुष्यमित्र, तत्पुत्र अग्निमित्र, और तत्पौत्र वसुमित्र से सम्बद्ध कुछ घटनाओं का उल्लेख किया है। इतिहासानुसार पुष्यमित्र वृहद्रथ मौर्य को मार कर ई० पू० १८५ में गद्दी पर बैठा। ई० पू० १५५-१५३ में उसने यवनराज मलिन्द (Menander) को परास्त किया। अतः आठवीं शताब्दी के सिद्धान्त का मालविकाग्निमित्र से भारी विरोध पड़ता है।

ई० पू० द्वितीय शताब्दी—

इसी नाटक के आधार पर श्री महादेव शिवराम परांजपे कालिदास को पुष्यमित्र का समकालीन मानते हैं। महाशय राइडर लिखते हैं—"The play presents Agnimitra's father, the founder of the Sunga Dynasty, as still living"—अर्थात् नाटक यह प्रकट करता है कि शुङ्ग-वंश के प्रवर्तक और अग्निमित्र के पिता उस समय भी जीवित थे। श्री के. एस. रामस्वामी शास्त्री इसी नाटक की पंक्ति "संपत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे,"—अग्निमित्र के शासक रहते हुए प्रजा विपन्न न होगी—के जोर पर कहते है—"These words show that the poet and the king were contemporaries." अर्थात् ये शब्द सिद्ध करते हैं कि कवि और राजा समकालीन थे।

परन्तु दृश्य काव्य में तो अतीत वर्तमान रूप में ही प्रदर्शित किया जाता है। उपर्युक्त वचनों को अब भी कोई नाटक-

कार अग्निमित्र के मुख में रख सकता है। शास्त्री जी की राय में ये शब्द कवि के हैं, जो उसने भरत-वाक्य के रूप मे कहे हैं, क्योंकि अग्निमित्र के मुख में ऐसी गर्वोक्ति रखकर वह नेता के चरित्र को दूषित न करता। किन्तु नाटक में तो स्पष्टतः यह अग्निमित्र की ही उक्ति है। दूसरे इसमें हम तो कोई दोष नहीं देखते। पराक्रमी नर-पुङ्गवों की अपने ही विषय मे कही हुई स्वाभिमान-पूर्ण उक्ति कभी-कभी उनके चरित्र को भूषित करती है न कि दूषित। महाराज रघु से भी तो निराश लौटते हुए अर्थार्थी कौत्स से कालिदास ने ये शब्द कहलाये हैं:—

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत्परीवादनवावतारः॥

(रघुवंश ५–२४)

अतः मालविकाग्निमित्र नाटक के क्रिया-व्यापार और कथोपकथन नाटककार और अग्निमित्र की समकालीनता के लिये दलील नहीं बनते।

ई० पू० प्रथम शताब्दी—

श्री एस. पी. पंडित, महाशय रे, महाशय पीटरसन, सर विलियम जोन्स, आचार्य नन्दरगीकर, प्रो० आप्टे, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीयुत एम. आर. काले प्रभृति विद्वान् कालिदास को किसी उस राजा विक्रमादित्य का समकालीन बतलाते हैं जिसने, प्रचलित परम्परानुसार, शकों को पराजित किया, और ई० पू० ५७ में अपने नाम का संवत् चलाया। उसी की राजसभा के नवरत्नों में एक कालिदास भी थे, जैसा कि इस प्रसिद्ध श्लोक से सिद्ध होता है:—

(क) धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंह शंकु
वेतालभट्टघटकर्पर कालिदासाः
ख्यातो वराहमिहरो नृपतेः सभायाम्
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

विक्रम-संवत का सबसे प्रथम उल्लेख चंडमहासेन के धौलपुर-शिलालेख मे—"वसु-नवअष्टवर्ष-गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य (वि० सं० ८९८)—इन शब्दों में मिलता है। इससे पहिले के शिलालेखो मे मालव संवत का नाम आता है। डा० फ्लीट, डा० कीलहार्न, प्रो० पाठक प्रभृति की राय में विक्रम संवत ही नौ शताब्दियो तक मालव संवत के नाम से प्रचलित था, जैसा कि इन उद्धरणो से प्रतीत होता है:—

मालवानां गणस्थित्या याते शत चतुष्टये
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्य घनस्वने ॥

(मन्दसौर सूर्यमन्दिर का शिलालेख)

अर्थात्—वह मालवगण की स्थिति के संवत् ४९३ में बना।

पंचेषु शतेषु शरदां यातेष्वेकोनवनवतिसहितेपु
मालवगणस्थितिवशात् कालज्ञानाय लिखितेषु ॥

(मालव गण की स्थिति के सं० ५८४ में)

प्रयाग के स्तम्भ में उत्कीर्ण समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में भी मालवगण या मालव जाति का इस प्रकार उल्लेख है—"मालवार्जुनायनयौधेय..........खरपरिकादिभिश्च" (मालव, अर्जुनायन, खरपरिकादिक जातियों से सेवित)। मालवाप्रान्तस्थ नागर-नामक स्थान में कुछ सिक्के मिले हैं, जिनमें "मालवानां जयः" ये शब्द लिखे मिलते हैं।

इन लेखों और सिक्कों से यह विदित होता है कि मालव नामक एक गण या संघ था, जिसने अपना स्वतन्त्र संगठन (स्थिति) बना लिया था। ऐसे स्वतन्त्र संघों या गणो का वर्णन महाभारत और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी आया है, और ई० पू० तृतीय शताब्दी तक इतिहास ने भारतवर्ष मे इनका अस्तित्व माना है। इनमें से ही एक मालव-नामक गण ने अपनी स्वतन्त्र स्थिति की स्मृति मे ई० पू० ५७ में मालव संवत चलाया—यह बात "मालवगणस्थितिवशात्", "मालवानां गणस्थित्या" आदि शब्दो से प्रकट होती है। इससे विद्वानों ने यह भी निष्कर्ष निकाला है कि मालव, अर्जुनायन, यौधेयादि जातियों का शासन प्रजा द्वारा होता था, राजा द्वारा नहीं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का यह श्लोक इसकी पुष्टि करता है—

कुलस्य वा भवेद्राज्यं कुलसंघो हि दुर्जयः।
अराजव्यसनाबाधः शश्वदावसति क्षितिम्॥

इन कुलसंघों या गणों के गणमुख्य और गण-प्रतिनिधि प्रजा-द्वारा नियुक्त किये जाते थे, और वे ही राज-संचालन करते थे। महाभारत शान्तिपर्व में बाबा भीष्म गण-वृत्ति के विषय में महाराज युधिष्ठिर से कहते हैं—

प्रज्ञान् शूरान् महोत्साहान् कर्मसु स्थिरपौरुषान्।
मानयन्तः सदायुक्ता विवर्द्धन्ते गणा नृप॥
न गणा कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत।
गणमुख्यैस्तु संभूय कार्यं गणहितं मिथः॥

तदनुसार संभव है मालव गण ने अपने प्रजातन्त्र राज्य का गणमुख्य (प्रेसीडेण्ट) विक्रमादित्य नामधारी या उपाधि-

धारी किसी वीर को अपने आप बनाया हो, संभव है इस वीर ने ही तक्षशिला या मथुरा के किसी तत्कालीन शक क्षत्रप को पराजित करके शकाराति की उपाधि भी प्राप्त करली हो। परन्तु इतिहास इस विक्रमादित्य और इस शकाराति के विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहता। ई० पू० ५७ के विक्रम संवत के प्रवर्तक विक्रमादित्य की पहेली उसके लिये अभी तक दुरूह ही बनी हुई है।

हमें तो इतिहास की यह चुप्पी भी सार्थक मालूम होती है। उपर्युक्त परिस्थिति से यह प्रकट होता है कि महावीर विक्रमादित्य किसी राजकुल का छत्रधारी राजा नहीं था। रायबहादुर सी. वी. वैद्य के कथनानुसार वह मालवगण का गण-मुख्य या प्रेसीडेण्ट था, जिसका नाम उसी के व्यक्तित्व तक सीमित रह कर, राजा तथा राज-वंश के भक्त भारत से सदा के लिये विदा होगया। जब उसके सभापतित्व मे चलाया हुआ संवत भी उसके नाम से नहीं, प्रत्युत उसके गण के नाम से ही चला, तो ऐसी परिस्थिति मे "नृपतेः सभायाम् रत्नानि वैवररुचिर्नव विक्रमस्य" इन पंक्तियों का लक्ष्य यही वीर विक्रमादित्य है—यह बात कैसे गले उतरे? यदि यह कहा जाय कि विक्रम संवत और मालव संवत दो चीज़ें हैं तो भी ठीक नहीं, क्योकि दशम शतकसे पहिले प्रथम का और तत्पश्चात् द्वितीय का उल्लेख नहीं मिलता। विक्रम संवत् के प्राचीनतर उल्लेख न मिलने तक दोनों एक ही संवत् के दो नाम मानने पड़ेंगे। ऐसा मानने में कोई अड़चन भी नहीं पड़ती, क्योकि काल-निर्धारण मे दोनों की ठीक ठीक संगति बैठ जाती है।

नवरत्न वाली किंवदन्ती के पोषक दो प्रमाण हैं—ज्योतिर्विदाभरण-नामक पुस्तक और बुद्धगया का शिलालेख। ज्योतिर्वि-

दाभरण के विषय में आचार्य नन्दरगीकर मेघदूत की भूमिका में लिखते हैं-"The only work that connects the Navaratnas with Vıkramaditya of the first century B. C. ıs the ज्योतिर्विदाभरण, bearing the name of Kalidas as its auothor. But Dr. Bhaudaji has well shown that the work is not the production of the author of Raghuvamsha. Rava Bahadur S. P. Pandit calls it a jain forgery. Dr Hall believes it to be not only pseudonymons, but of recent composition, and Dr. Kern concurs in his opinion"

अर्थात्—वह एकमात्र ग्रंथ, जो नवरत्नों का ईसा-पूर्ववर्ती विक्रमादित्य से सम्बन्ध जोड़ता है, ज्योतिर्विदाभरण है, जिसमे रचयिता का नाम कालिदास दिया हुआ है। परन्तु डा० भाऊदा जी ने यह अच्छी तरह दिखा दिया है कि यह रघुवंशकारकी कृति नहीं है। राव बहादुर एस. पी. पंडित इसे जैनों का जाल कहते हैं। डा० हौल इसको जाली-नामधारी ग्रंथ ही न मानकर अर्वाचीन रचना भी मानते हैं, और डा० कर्न इनकी सम्मति से सहमत हैं।

रहा बुद्ध-गया के मन्दिर का शिलालेख, सो उसकी तिथि वि० सं० १०५० है। इसमें अमरदेव को इस मन्दिर का निर्माता और विक्रम-सभा के नव-रत्नों मे से एक रत्न कहा गया है। किन्तु वि० सं० १०५० के इन अमरदेव (अमरसिंह) और वि० सं० १ के कालिदास का क्या सम्बन्ध ! यदि अमरकोशकार अमरसिंह की ओर उसका संकेत है तो उसका काल भी डा० मेकडानल आदि विद्वान् ई० प० पंचम शतक नियत करते हैं। महाभाष्य-

कार की एक उक्ति के आधार पर डा० कीथ और डा० मेकडानल वररुचि को ई० पू० द्वितीय शतक में बताते हैं। ब्रह्मगुप्त कृत खंडखाद्य की अमरराजकृत टीका के "नवाधिकपंचशतसंख्य-शाके वराहमिहराचार्यो दिवंगतः" के अनुसार ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर शक सं० ५०६ अर्थात् ५८७ ई० में पंचत्व को प्राप्त हुए। इस प्रकार जब विक्रम-सभा के रत्न अनेक शतकों में बिखरे फिरते हैं, तो कालिदास को ही प्रथम शतक के शकाराति और संवत-प्रवर्तक महाराज विक्रमादित्य की सभा का रत्न कैसे माना जा सकता है ?

विक्रमादित्य उपाधिधारी या नामधारी कई राजा हुए हैं। राजतरंगिणी में तीन विक्रमादित्यों का उल्लेख है। चालुक्यवंशी कई राजाओ ने विक्रमादित्य की उपाधि से अपने को विभूषित किया। इसी प्रकार कालिदास भी अनेक हो गये है। ऐसी परिस्थिति में शकुन्तलाकार कालिदास और संवत-प्रवर्तक विक्रमादित्य को ही समकालीनता की रस्सी मे बलात् बाँध देना ठीक नहीं है।

(ख) ई० पू० प्रथम शतक की पुष्टि में दूसरा प्रमाण दिया जाता है भीता का शुङ्ग-कालीन चित्र-पदक, जिसमें इस सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रथमाङ्क का वह चित्र चित्रित है, जहाँ शकुन्तला पेड़ों को सींचती हुई दिखाई गई है। शुङ्ग-वंश ने ई० पू० १८५ से ई० पू० ७३ तक राज किया। अतः यह पदक कालिदास को ई० पू० प्रथम शतक में सिद्ध करता है।

इसमें पेड़ों को सींचती हुई एक कुमारी का चित्र है, और दो पुरुष उसकी ओर देखते हुए प्रदर्शित किये गये हैं। परन्तु इस अनुमान का कि यह चित्र शाकुन्तल के वाटिक-सिंचन को प्रदर्शित करता है, कोई भी आधार नहीं मिलता। पेड़ों को सींचती

हुई एक कुमारी का चित्र कालिदास की शकुन्तला का ही चित्र कैसे माना जा सकता है ? दोनों का विवरण भी तो नहीं मिलता। शाकुन्तल के दृश्य में एक पुरुष और तीन कुमारियाँ हैं, और इसमें दो पुरुष और एक कुमारी। संभव है इसका पंच-वटी-वासी राम, लक्ष्मण और सीता की ओर संकेत हो। विद्वान् इस पदक में कालिदास-काल की कोई सामग्री नहीं पाते। डा० भांडारकर की राय में तो यह चित्र कालिदास-काल का किसी भी हालत में निर्णायक नहीं हो सकता, और न इसको इस दृष्टि से कोई महत्व देने की ही आवश्यकता है।

(ग) इस सिद्धान्त के समर्थन में भाषा-सम्बन्धी प्रमाण भी दिया जाता है। कालिदास ने कहीं-कहीं संस्कृत के उन रूपों का प्रयोग किया है जो वैयाकरण पाणिनि से अनुमोदित हैं, किन्तु पतञ्जलि से नहीं। पाणिनि का काल ई० पू० चतुर्थ शतक में और पतञ्जलि का ई० पू० द्वितीय शतक में माना गया है। ई० पू० ३०० से ई० पू० १०० तक संस्कृत का परिवर्तन-काल था, जिसमें पाणिनि के वैकल्पिक प्रयोग भी प्रचलित थे। कालिदास के ये प्रयोग श्रीयुत एस. रे की सम्मति में यह सिद्ध करते हैं कि उनका रचना-काल ई० पू० प्रथम शतक में था।

परन्तु कालिदास के इने-गिने पतंजलि-विरुद्ध प्रयोगों के आधार पर उनको पतंजलि का पूर्ववर्ती, समकालीन या कुछ ही परवर्ती सिद्ध करना भाषा-विकास के नियमों की अवहेलना करना और कवियों की सर्व-स्वीकृत निरंकुशता को अस्वीकृत करना है। क्या कालिदास से शताब्दियों बाद के कवियों ने ऐसा नहीं किया ? यदि किया तो क्या उनकी अपाणिनीयता या अपतंजलीयता के आधार पर ही उनको इन वैयाकरणों

अतः हमारी राय में तो कालिदास ने ही बुद्धचरित और ललितविस्तर का अनुकरण किया और जान बूझकर किया। भाषा या भाव की भिक्षा के लिए नहीं, बल्कि आदर्श की शिक्षा के लिए। परिणामतः इस साम्य के आधार पर तो कालिदास को ही अश्वघोष का परवर्ती मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

(ङ) ई० पू० प्रथम शतक के समर्थन में एक नीति-विधान-सम्बन्धी प्रमाण भी दिया जाता है। अभिज्ञान शाकुन्तल के छठे अंक में समुद्र-व्यापारी धनमित्र की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसका गर्भस्थ पुत्र निश्चित किया गया है, न कि उसकी विधवा स्त्री। इसी अंक के प्रवेशक में मुद्रिका-चोर धीवर को पुलिस के कर्मचारियों ने मृत्यु-दण्ड की धमकी दी है। इससे प्रकट होता है कि कालिदास के काल मे विधवा का पति की सम्पत्ति मे कुछ भी अधिकार न था, और रत्न-चोर को मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। प्रो० आप्टे की सम्मति मे दायभाग और दण्ड का ऐसा विधान भारत में ईसा से पूर्व ही प्रचलित था, जबकि मनु, आपस्तंब और वसिष्ठ की स्मृतियों के अनुसार ही समाज-संचालन होता था। बृहस्पति, शंख, याज्ञवल्क्यादि परवर्ती स्मृतिकारो ने उपर्युक्त कड़े विधान को कुछ नरम कर दिया। बृहस्पति ने रत्न-चोर के लिये धन-दण्ड का विकल्प भी नियत कर दिया। बृहस्पति-काल ईसवी प्रथम शतक माना गया है। अतः इसके पूर्ववर्ती होने से कालिदास-काल ई० पू० प्रथम शतक में सिद्ध हुआ।

परन्तु अनेकों स्मृतियों की रचना हो जाने पर भी सदा मनुस्मृति को प्राधान्य दिया गया है। इसीलिए कालिदास की राजसत्ता में मनुस्मृति को तत्कालीन सब स्मृतियों से उच्च-स्थान

हुई एक कुमारी का चित्र कालिदास की शकुन्तला का ही चित्र कैसे माना जा सकता है ? दोनो का विवरण भी तो नहीं मिलता। शाकुन्तल के दृश्य मे एक पुरुप और तीन कुमारियाँ हैं, और इसमें दो पुरुप और एक कुमारी। संभव है इसका पंचवटी-वासी राम, लक्ष्मण और सीता की ओर संकेत हो। विद्वान् इस पदक मे कालिदास-काल की कोई सामग्री नहीं पाते। डा० भांडारकर की राय मे तो यह चित्र कालिदास-काल का किसी भी हालत में निर्णायक नहीं हो सकता, और न इसको इस दृष्टि से कोई महत्व देने की ही आवश्यकता है।

(ग) इस सिद्धान्त के समर्थन में भाषा-सम्बन्धी प्रमाण भी दिया जाता है। कालिदास ने कहीं-कहीं संस्कृत के उन रूपों का प्रयोग किया है जो वैयाकरण पाणिनि से अनुमोदित हैं, किन्तु पतञ्जलि से नहीं। पाणिनि का काल ई० पू० चतुर्थ शतक में और पतञ्जलि का ई० पू० द्वितीय शतक में माना गया है। ई० पू० ३०० से ई० पू० १०० तक संस्कृत का परिवर्तन-काल था, जिसमें पाणिनि के वैकल्पिक प्रयोग भी प्रचलित थे। कालिदास के ये प्रयोग श्रीयुत एस. रे की सम्मति में यह सिद्ध करते हैं कि उनका रचना-काल ई० पू० प्रथम शतक में था।

परन्तु कालिदास के इने-गिने पतंजलि-विरुद्ध प्रयोगों के आधार पर उनको पतंजलि का पूर्ववर्ती, समकालीन या कुछ ही परवर्ती सिद्ध करना भाषा-विकास के नियमों की अवहेलना करना और कवियों की सर्व-स्वीकृत निरंकुशता को अस्वीकृत करना है। क्या कालिदास से शताब्दियो बाद के कवियों ने ऐसा नहीं किया ? यदि किया तो क्या उनकी अपाणिनीयता या अपतंजलीयता के आधार पर ही उनको इन वैयाकरणों

अतः हमारी राय में तो कालिदास ने ही बुद्धचरित और ललितविस्तर का अनुकरण किया और जान बूझकर किया। भाषा या भाव की भिक्षा के लिए नहीं, बल्कि आदर्श की शिक्षा के लिए। परिणामतः इस साम्य के आधार पर तो कालिदास को ही अश्वघोष का परवर्ती मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

(ङ) ई० पू० प्रथम शतक के समर्थन में एक नीति-विधान-सम्बन्धी प्रमाण भी दिया जाता है। अभिज्ञान शाकुन्तल के छठे अंक में समुद्र-व्यापारी धनमित्र की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसका गर्भस्थ पुत्र निश्चित किया गया है, न कि उसकी विधवा स्त्री। इसी अंक के प्रवेशक में मुद्रिका-चोर धीवर को पुलिस के कर्मचारियों ने मृत्यु-दण्ड की धमकी दी है। इससे प्रकट होता है कि कालिदास के काल में विधवा का पति की सम्पत्ति में कुछ भी अधिकार न था, और रत्न-चोर को मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। प्रो० आप्टे की सम्मति में दायभाग और दण्ड का ऐसा विधान भारत में ईसा से पूर्व ही प्रचलित था, जबकि मनु, आपस्तंब और वसिष्ठ की स्मृतियों के अनुसार ही समाज-संचालन होता था। वृहस्पति, शंख, याज्ञवल्क्यादि परवर्ती स्मृतिकारों ने उपर्युक्त कड़े विधान को कुछ नरम कर दिया। वृहस्पति ने रत्न-चोर के लिये धन-दण्ड का विकल्प भी नियत कर दिया। वृहस्पति-काल ईसवी प्रथम शतक माना गया है। अतः इसके पूर्ववर्ती होने से कालिदास-काल ई० पू० प्रथम शतक में सिद्ध हुआ।

परन्तु अनेकों स्मृतियों की रचना हो जाने पर भी सदा मनुस्मृति को प्राधान्य दिया गया है। इसीलिए कालिदास की राजसत्ता में मनुस्मृति को तत्कालीन सब स्मृतियों से उच्च-स्थान

मिला है, समयादि के कारण नहीं। महाराज दिलीप की प्रजा के लिये आप कहते हैं:—

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्।

न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः॥ (रघुवंश १-१७)

मनु-पथ सदा भारतवर्ष के लिये क्षुण्ण-पथ रहा है। 'यत्किंचिन्मनुरवदत्तद्भेषजम्'—ये छान्दोग्य ब्राह्मण की उक्ति आज भी भारतीय-समाज में गूँज रही है। स्वयं बृहस्पतिजी ने श्री मनुजी के लिये ये शब्द लिखे हैं:—

वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्नैव शस्यते॥

अर्थात्—वेदार्थ—निबंधना के कारण मनु को प्राधान्य दिया गया है। जो स्मृति मन्वर्थ (मनुस्मृति) के विपरीत है वह प्रशंसनीय नहीं है।

अतः स्मृतियों के पूर्वत्व-परत्व से कालिदास-काल को सटाना युक्ति-संगत नहीं है। भारतीय-समाज में मनुस्मृति का शाश्वत महत्व ऐसा करने की आज्ञा नहीं देता।

कालिदास के ई० पू० प्रथम शतक वाले सिद्धान्त के समर्थक भिन्न-भिन्न प्रमाणों का विवेचन करके हम तत्संबन्धी अन्यान्य मुख्य सिद्धान्तों की ओर बढ़ते हैं।

ई० पू० छठी शताब्दी—

डा० भाऊदाजी कालिदास-काल को छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में रखते हैं। डा० फ्लीट, डा० भांडारकार, डा० फर्ग्युसन, डा० कर्न, श्री आर. सी. दत्त, म. म. हरप्रसाद शास्त्री, प्रो० के० बी०

के इतिहास में आर्य असंग वसुबन्धु के बड़े भाई कहे गये हैं। होइनसंग लिखता है कि वसुबन्धु के गुरु मनोरथ श्रावस्ती-नरेश विक्रमादित्य की सभा मे हिंदू पंडितो से वितंडा-द्वारा पराजित हुए थे। फरिश्ता और डा० फरग्यूसन की सम्मति में इस विक्रमादित्य का शासन-काल ५३० ई० में समाप्त होता है। होइनसंग अशोक-काल को निर्वाण से एक शतक पश्चात् नियत करता है। अशोक-काल ई० पू० २५६ से ई० पू० २२२ ई० पू० तक निश्चित हो चुका है। अतः असंग का काल ५४१ ई० ठहरता है। कालिदास का प्रतिपक्षी दिङ्नाग आर्य असंग का शिष्य था, अतः कालिदास का अस्तित्व भी ५४१ ई० के आसपास सिद्ध होता है, और श्रावस्ती-नरेश विक्रमादित्य से भी उसकी सम-कालीनता स्थापित हो जाती है।

डाक्टर साहब के इस सारे ऊहापोह का आधार मल्लिनाथ की टीका है। उपर्युक्त पंक्तियों का सरल अर्थ तो यह है— मार्ग में दिङ्नागों (दिग्गजों) की विशाल शुण्डों के स्पर्श से बचता हुआ (लक्षणा से-पर्वतों के तुङ्ग शृङ्गों से न टकराता हुआ) हे मेघ ! तू इस निचुलो (वेतों) के सजल स्थान से उत्तराभिमुख होकर आकाश को उठ। परन्तु मल्लिनाथ ने इन का यह व्यङ्ग्यार्थ भी किया है—रसज्ञ निचुल के इस स्थान से प्रादुर्भूत होकर, दिङ्नागादि के करो से किये हुए भारी दोषों का मार्ग मे परिहार करती हुई हे प्रतिभे ! तू उन्नत हो। आचार्य नन्दरगीकर, प्रो० आप्टे, प्रो. एस. सी. दे आदि विद्वान् मल्लि-नाथ की इस क्लिष्ट कल्पना से सहमत नहीं हैं। मेघदूत की वल्लभदेव कृत टीका सब से प्राचीन मानी जाती है। किन्तु उस में यह अर्थ नहीं किया गया।

मिला है, समयादि के कारण नहीं। महाराज दिलीप की प्रजा के लिये आप कहते हैं:—

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्।

न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः॥ (रघुवंश १-१७)

मनु-पथ सदा भारतवर्ष के लिये क्षुण्ण-पथ रहा है। 'यत्किंचिन्मनुरवदत्तद्भेपजम्'—ये छान्दोग्य ब्राह्मण की उक्ति आज भी भारतीय-समाज में गूंज रही है। स्वयं बृहस्पतिजी ने श्री मनुजी के लिये ये शब्द लिखे हैं:—

वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्नैव शस्यते॥

अर्थात्—वेदार्थ—निबंधना के कारण मनु को प्राधान्य दिया गया है। जो स्मृति मन्वर्थ (मनुस्मृति) के विपरीत है वह प्रशंसनीय नहीं है।

अतः स्मृतियों के पूर्वत्व-परत्व से कालिदास-काल को सटाना युक्ति-संगत नहीं है। भारतीय-समाज में मनुस्मृति का शाश्वत महत्व ऐसा करने की आज्ञा नहीं देता।

कालिदास के ई० पू० प्रथम शतक वाले सिद्धान्त के समर्थक भिन्न-भिन्न प्रमाणों का विवेचन करके हम तत्संबन्धी अन्यान्य मुख्य सिद्धान्तों की ओर बढ़ते हैं।

ई० पू० छठी शताब्दी—

डा० भाऊदाजी कालिदास-काल को छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में रखते हैं। डा० फ्लीट, डा० भांडारकार, डा० फर्ग्युसन, डा० कर्न, श्री आर. सी. दत्त, म. म. हरप्रसाद शास्त्री, प्रो० के० बी०

के इतिहास में आर्य असंग वसुबन्धु के बड़े भाई कहे गये हैं। होइनसंग लिखता है कि वसुबन्धु के गुरु मनोरथ श्रावस्ती-नरेश विक्रमादित्य की सभा में हिंदू पंडितों से वितंडा-द्वारा पराजित हुए थे। फरिश्ता और डा० फरग्यूसन की सम्मति में इस विक्रमादित्य का शासन-काल ५३० ई० में समाप्त होता है। होइनसंग अशोक-काल को निर्वाण से एक शतक पश्चात् नियत करता है। अशोक-काल ई० पू० २५६ से ई० पू० २२२ ई० पू० तक निश्चित हो चुका है। अतः असंग का काल ५४१ ई० ठहरता है। कालिदास का प्रतिपक्षी दिङ्नाग आर्य असंग का शिष्य था, अतः कालिदास का अस्तित्व भी ५४१ ई० के आसपास सिद्ध होता है, और श्रावस्ती-नरेश विक्रमादित्य से भी उसकी सम-कालीनता स्थापित हो जाती है।

डाक्टर साहब के इस सारे ऊहापोह का आधार मल्लिनाथ की टीका है। उपर्युक्त पंक्तियों का सरल अर्थ तो यह है— मार्ग मे दिङ्नागों (दिग्गजों) की विशाल शुण्डों के स्पर्श से बचता हुआ (लक्षणा से-पर्वतों के तुङ्ग शृङ्गों से न टकराता हुआ) हे मेघ! तू इस निचुलों (वेतों) के सजल स्थान से उत्तराभिमुख होकर आकाश को उठ। परन्तु मल्लिनाथ ने इन का यह व्यङ्ग्यार्थ भी किया है-रसज्ञ निचुल के इस स्थान से प्रादुर्भूत होकर, दिङ्नागादि के करों से किये हुए भारी दोषों का मार्ग में परिहार करती हुई हे प्रतिभे! तू उन्नत हो। आचार्य नन्दरगीकर, प्रो० आप्टे, प्रो. एस. सी. दे आदि विद्वान् मल्लि-नाथ की इस क्लिष्ट कल्पना से सहमत नहीं हैं। मेघदूत की वल्लभदेव कृत टीका सब से प्राचीन मानी जाती है। किन्तु उस में यह अर्थ नहीं किया गया।

मदरास सरकार द्वारा सन् १६०६ मे प्रकाशित की हुई हस्तलिखित पुस्तकों की सूची में ११वीं शताब्दी के भोजकालीन किसी कालिदास के नानार्थशब्दरत्न-नामक ग्रन्थ का और उसकी निचुलकृत तरलाख्या व्याख्या का उल्लेख है। उसमें टीकाकार निचुल लिखता है:—

स्वमित्र कालिदासोक्तशब्दरत्नार्थजृंभितम्।
तरलाख्यांलसद्व्याख्यामाख्याते तन्मतानुगम्॥

बहुत सम्भव है इसी कालिदास-निचुल-मैत्री के भ्रम में पड़कर मल्लिनाथ ने रघुवंशकार कालिदास के साथ निचुल और दिङ्नाग की क्रमशः मित्रता और शत्रुता सटा दी हो।

बहुत सम्भव है मल्लिनाथ के समय में (डा० कीथ के अनुसार १४वीं शताब्दी) में ऐसी किंवदन्ती प्रचलित हो। किन्तु क्या नवरत्नों की किवदन्ती के समान यह भी निराधार नहीं हो सकती?

यह इतिहास प्रसिद्ध बात है कि राज्य-विस्तार होने पर विक्रमादित्य ने पाटलिपुत्र के अतिरिक्त अयोध्या और उज्जयिनी भी राजधानियाँ बना ली थीं। श्रावस्ती-नरेश विक्रमादित्य, विद्वानों की सम्मति में, गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त का ही नामान्तर है। इसी के समय में कालिदास और वसुबन्धु का प्रादुर्भाव माना जाता है।

रही हाइनसंग-लिखित तिथियों की बात, सो वह भी बहुत विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती। प्रो० मेक्समुलर अपनी India-what it can teach us. नामक पुस्तक में लिखते हैं—

Hiouen Tsang is fully aware of the existence of three different eras. He says that some

सप्तम शतक के मध्यकाल से आगे तो जाने ही नहीं देतीं। यही प्रमाण उन जैन पंडितों को चुप करने के लिए अलं है जो कालिदास को उनके मेघदूत के आधार पर पार्श्वाभ्युदय-नामक ग्रंथ रचयिता, नवीं शताब्दी के जिनसेनाचार्य का समकालीन बताते हैं। बहुत संभव है श्रीयुत बेंटले के सिद्धान्त की तह मे उसी भ्रम ने काम किया हो जिसमें मल्लिनाथ पड़गये मालूम होते है।

गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय और कालिदास।

ईसवी पंचम शताब्दी—

कालिदास के मालविकाग्निमित्र का नेता शुङ्गवंशी पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र है। पुष्यमित्र ने ई० पू० १५० के लगभग यवनराज मलिन्द (Menander) को परास्त किया था। इसका उसमें उल्लेख है। अतः कालिदास ई० पू० १५० से बहुत पीछे नहीं हटते। इधर आयहोल जिला बीजापुर के ६३४ ई० वाले शिलालेख की "विजयताम् रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः" इस पंक्ति से और कन्नौजाधिपति हर्षवर्धन के (६०६-६४७) के राजकवि बाणभट्ट के "निर्गतासुक न वाकस्य कालिदासस्य सूक्तिषु, प्रीतिर्मधुरसाद्रासु मंजरीष्विव जायते"–इस श्लोक से यह निश्चित होगया कि कालिदास ६३० से बहुत आगे नहीं बढ़ते। उनके काल की ये दो पूर्वोत्तर सीमाये हुई। अब इन्हीं के भीतर किसी राजा विक्रमादित्य को तलाश करना चाहिये, क्योंकि कालिदास की दो पुस्तको में हम इस नाम का स्पष्ट उल्लेख पाते हैं। एक विक्रमोर्वशीय नाटक मे विक्रम-नामक कोई पात्र न होते हुए भी उसका यह नामकरण कालिदास के प्रिय विक्रम नरेश की ओर सार्थक संकेत

मद्रास सरकार द्वारा सन् १९०६ में प्रकाशित की हुई हस्तलिखित पुस्तकों की सूची में ११वीं शताब्दी के भोजकालीन किसी कालिदास के नानार्थशब्दरत्न-नामक ग्रन्थ का और उसकी निचुलकृत तरलाख्या व्याख्या का उल्लेख है। उसमे टीकाकार निचुल लिखता है:—

स्वमित्र कालिदासोक्तशब्दरत्नार्थजृंभितम्।
तरलाख्यांलसद्व्याख्यामाख्याते तन्मतानुगम्॥

बहुत सम्भव है इसी कालिदास-निचुल-मैत्री के भ्रम में पड़ कर मल्लिनाथ ने रघुवंशकार कालिदास के साथ निचुल और दिङ्नाग की क्रमशः मित्रता और शत्रुता सटा दी हो।

बहुत सम्भव है मल्लिनाथ के समय मे (डा० कीथ के अनुसार १४वीं शताब्दी) में ऐसी किंवदन्ती प्रचलित हो। किन्तु क्या नवरत्नों की किंवदन्ती के समान यह भी निराधार नहीं हो सकती?

यह इतिहास प्रसिद्ध बात है कि राज्य-विस्तार होने पर विक्रमादित्य ने पाटलिपुत्र के अतिरिक्त अयोध्या और उज्जयिनी भी राजधानियाँ बना ली थीं। श्रावस्ती-नरेश विक्रमादित्य, विद्वानों की सम्मति में, गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त का ही नामान्तर है। इसी के समय मे कालिदास और वसुबन्धु का प्रादुर्भाव माना जाता है।

रही होइनसंग-लिखित तिथियों की बात, सो वह भी बहुत विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती। प्रो० मेक्समुलर अपनी India-what it can teach us. नामक पुस्तक में लिखते हैं—

Hiouen Tsang is fully aware of the existence of three different eras. He says that some

सप्तम शतक के मध्यकाल से आगे तो जाने ही नहीं देतीं। यही प्रमाण उन जैन पंडितों को चुप करने के लिए अलं है जो कालिदास को उनके मेघदूत के आधार पर पार्श्वाभ्युदय-नामक ग्रंथ रचयिता, नवों शताब्दी के जिनसेनाचार्य का समकालीन बताते हैं। बहुत संभव है श्रीयुत बेंटले के सिद्धान्त की तह मे उसी भ्रम ने काम किया हो जिसमें मल्लिनाथ पड़गये मालूम होते है।

गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय और कालिदास।

ईसवी पंचम शताब्दी—

कालिदास के मालविकाग्निमित्र का नेता शुङ्गवंशी पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र है। पुष्यमित्र ने ई० पू० १५० के लगभग यवनराज मलिन्द (Menander) को परास्त किया था। इसका उसमें उल्लेख है। अतः कालिदास ई० पू० १५० से बहुत पीछे नहीं हटते। इधर आयहोल जिला बीजापुर के ६३४ ई० वाले शिलालेख की "विजयताम् रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः" इस पंक्ति से और कन्नौजाधिपति हर्षवर्धन के (६०६-६४७) के राजकवि बाणभट्ट के "निर्गतासुक न वाकस्य कालिदासस्य सूक्तिषु, प्रीतिर्मधुरसाद्रासु मंजरीष्विव जायते"–इस श्लोक से यह निश्चित होगया कि कालिदास ६३० से बहुत आगे नहीं बढ़ते। उनके काल की ये दो पूर्वोत्तर सीमायें हुईं। अब इन्हीं के भीतर किसी राजा विक्रमादित्य को तलाश करना चाहिये, क्योंकि कालिदास की दो पुस्तकों में हम इस नाम का स्पष्ट उल्लेख पाते हैं। एक विक्रमोर्वशीय नाटक में विक्रम-नामक कोई पात्र न होते हुए भी उसका यह नामकरण कालिदास के प्रिय विक्रम नरेश की ओर सार्थक संकेत

करता है; दूसरे अभिज्ञान शाकुन्तल में सूत्रधार की "आर्ये! रस-भाव-विशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्य नरपते रभिरूप भूमिष्ठापरिषदियम्"—उस उक्ति में भी राजा विक्रमादित्य का नाम आता है। इन पुस्तकों के अतिरिक्त प्रचलित परंपरा भी विक्रम-कालिदास का घनिष्ट सम्बन्ध बताती है।

हां तो इस बीच में लोक-विख्यात तीन विक्रमादित्य हुए-(१) संवत-प्रवर्तक विक्रमादित्य (इ० पू० ५७) (२) गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३७५ ई०) (३) श्वेत हूणों का विजेता यशोधर्मण (विक्रमादित्य ५२८ ई०)

कालिदास जैसे लोक प्रसिद्ध प्रतिभाशाली कवीन्द्र का सम्मान-भाजन कोई ऐसा प्रतापशाली विक्रमादित्य अवश्यमेव रहा होगा जिसकी उत्कृष्ट राजशक्ति, प्रगाढ़ भगवद्भक्ति, उच्च कलात्मक रुचि, और स्वच्छ संस्कृति इस सरस्वती-सुत की असाधारण प्रतिभा को उत्तेजित, तथा उसकी स्वच्छन्द वृत्ति को लीन कर सकती। कालिदास अपने आश्रयदाता के कोरे चाटुकार नहीं थे। वे उन नरेशों पर रीझते थे, जिन्होंने "किया शैशव में पठन तारुण्य में उपभोग; तप जरामें अन्त में देहान्त करके योग। सतत शुद्ध फलाप्ति तक जो कार्य में थे लीन; नभगरथपति जलधि तक वसुधाधिपति स्वाधीन।"

अब देखना है कि इस कसौटी पर उपर्युक्त विक्रमादित्यों में से कौनसा खरा उतरता है। प्रथम के वारे में पहले कहा जा चुका है। जगद्विदित कालिदास का आश्रयदाता वह विक्रमादित्य नहीं हो सकता, जिसके अस्तित्व तक मे उसके देशवासी शंका कर सकते हैं; जिसके नाम और काम का विज्ञापक अभी तक एक भी पाषाण, पुराण, या धातु-पत्र न मिला हो; जिसके बारे मे इतिहास एकदम चुप हो।

ई० पाँचवी शताब्दी के प्रारम्भ में ही कुछ समय तक रहा। बाद को हूणों ने ईरान-नरेश फीरोज को ४८४ ई० में हरा कर बलोचिस्तान अफगानिस्तान आदि अपने राज्य मे मिला लिये थे। ई० ५२० में वहाँ होकर भारत आने वाले चीनी यात्री शुंगयून के लेखों से भी यही बात सिद्ध होती है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि कालिदास के रघुवंश में पश्चिमोत्तरीय और उत्तरीय राज्यों का जो संनिवेश है वह चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन मे ही मौजूद था; आगे बदल गया। अतः कालिदास भी इस समय मौजूद मानने चाहियें।

(७) रघुदिग्विजय मे कालिदास ने मगध की पराजय का कहीं ज़िक्र नही किया; प्रत्युत इन्दुमती-स्वयंवर मे उपस्थित राज-समाज मे सब से प्रथम और सब से उत्कृष्ट प्रशंसा मगध-नरेश की कराई है। उसके विषय मे आप कहते हैं;—

"यह शरणागत-साधु अमित-बल नृपति, मगध है जिसका धाम,
जन-रञ्जन में लब्ध-कीर्ति है, मिला परन्तप सार्थक नाम॥
(रघु. ६-२१)

की जगती नृपवती इसी ने, यद्यपि हैं नृप अन्य अनेक।
(रघु. ६,२२)

रेखाङ्कित शब्दों का संकेत मगध-नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय की ओर माना जाय तो क्या बुराई है? क्या वह हमारे कवि-राज के लिए वास्तव मे शरणागत-साधु नहीं था? क्या उस समय उसकी सार्वदेशिक राजसत्ता नहीं थी? और क्या अनेकों छोटे २ राजा होते हुए भी केवल उसी से तत्कालीन भारत-मही नृपवती नहीं थी? और फिर आगे देखिये—उसका "सरल प्रणति से ही तन्वी ने किया बिना बोले परिहार", जबकि अंगेश के

करता है; दूसरे अभिज्ञान शाकुन्तल में सूत्रधार को "आर्ये! रस-भाव-विशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्य नरपते रभिरूप भूमिष्ठापरिषदियम्"—उस उक्ति मे भी राजा विक्रमादित्य का नाम आता है। इन पुस्तको के अतिरिक्त प्रचलित परंपरा भी विक्रम-कालिदास का घनिष्ट सम्बन्ध बताती है।

हां तो इस बीच मे लोक-विख्यात तीन विक्रमादित्य हुए—(१) संवत-प्रवर्तक विक्रमादित्य (इ०, पू० ५७) (२) गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३७५ ई०) (३) श्वेत हूणो का विजेता यशोधर्मण (विक्रमादित्य ५२८ ई०)

कालिदास जैसे लोक प्रसिद्ध प्रतिभाशाली कवीन्द्र का सम्मान-भाजन कोई ऐसा प्रतापशाली विक्रमादित्य अवश्यमेव रहा होगा जिसकी उत्कृष्ट राजशक्ति, प्रगाढ़ भगवद्भक्ति, उच्च कलात्मक रुचि, और स्वच्छ संस्कृति इस सरस्वती-सुत की असाधारण प्रतिभा को उत्तेजित, तथा उसकी स्वच्छन्द वृत्ति को लीन कर सकती। कालिदास अपने आश्रयदाता के कोरे चाटुकार नहीं थे। वे उन नरेशों पर रीझते थे, जिन्होने "किया शैशव में पठन तारुण्य में उपभोग; तप जरामें अन्त में देहान्त करके योग। सतत शुद्ध फलाप्ति तक जो कार्य मे थे लीन; नभगरथपति जलधि तक वसुधाधिपति स्वाधीन।"

अब देखना है कि इस कसौटी पर उपर्युक्त विक्रमादित्यों में से कौनसा खरा उतरता है। प्रथम के बारे मे पहले कहा जा चुका है। जगद्विदित कालिदास का आश्रयदाता वह विक्रमादित्य नहीं हो सकता, जिसके अस्तित्व तक में उसके देशवासी शंका कर सकते हैं, जिसके नाम और काम का विज्ञापक अभी तक एक भी पाषाण, पुराण, या धातु-पत्र न मिला हो; जिसके बारे में इतिहास एकदम चुप हो।

ई० पाँचवी शताब्दी के प्रारम्भ में ही कुछ समय तक रहा। बाद को हूणों ने ईरान-नरेश फीरोज को ४८४ ई० में हरा कर बलोचिस्तान अफगानिस्तान आदि अपने राज्य में मिला लिये थे। ई० ५२० में वहाँ होकर भारत आने वाले चीनी यात्री शुंगयून के लेखों से भी यही बात सिद्ध होती है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि कालिदास के रघुवंश में पश्चिमोत्तरीय और उत्तरीय राज्यों का जो संनिवेश है वह चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन में ही मौजूद था; आगे बदल गया। अतः कालिदास भी इस समय मौजूद मानने चाहियें।

(७) रघुदिग्विजय में कालिदास ने मगध की पराजय का कहीं जिक्र नहीं किया; प्रत्युत इन्दुमती-स्वयंवर में उपस्थित राजसमाज में सब से प्रथम और सब से उत्कृष्ट प्रशंसा मगध-नरेश की कराई है। उसके विषय मे आप कहते हैं;—

"यह शरणागत-साधु अमित-बल नृपति, मगध है जिसका धाम,
जन-रञ्जन में लब्ध-कीर्ति है, मिला परन्तप सार्थक नाम॥

(रघु. ६-२१)

की जगती नृपवती इसी ने, यद्यपि हैं नृप अन्य अनेक।

(रघु. ६,२२)

रेखाङ्कित शब्दों का संकेत मगध-नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय की ओर माना जाय तो क्या बुराई है? क्या वह हमारे कविराज के लिए वास्तव में शरणागत-साधु नहीं था? क्या उस समय उसकी सार्वदेशिक राजसत्ता नहीं थी? और क्या अनेकों छोटे २ राजा होते हुए भी केवल उसी से तत्कालीन भारत-मही नृपवती नहीं थी? और फिर आगे देखिये—उसका "सरल प्रणति से ही तन्वी ने किया बिना बोले परिहार", जबकि अंगेश के

आगे—"चलो—सखी से कहा कुमारी ने नरपति से नयन उतार ॥" अज के सिवाय किसी नरेश को कुमारी ने प्रणाम आदि नहीं की। क्या ये बातें तत्कालीन मगध-नरेश चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से कालिदास के विशेष लगाव को द्योतित नहीं करतीं ?

(८) रघुद्वारा हूणों की पराजय को गुप्त सम्राट स्कन्दगुप्त की हूण-विजय का द्योतक मानना बेजा नहीं।

(६) इन संकेतों के अतिरिक्त गोप्ता (रक्षक) शब्द भी रघुवंश में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है, जो विचारकों की सम्मति में गुप्त नरेशों का सूचक है। परन्तु कुछ विद्वान् इन बातों को निराधार मानते हैं और बाल की खाल नोचना कहते हैं। उनका यह प्रतिवाद है कि कालिदास को अपने आश्रयदाताओं की स्पष्ट प्रशंसा करने से किसने रोका था जो उन्होंने दूसरों की आड़ लेकर इस अस्पष्ट और अव्यक्त रूप से उनका गुणगान किया ? बात ठीक है, परन्तु ऐसे गूढ़ संकेतों में संस्कृत कवियो को कुछ आनन्द आता है। मुद्राराक्षस अंक १ में:—

"क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसं पूर्णमंडलमिदानीम्।
अभिभवितुमिच्छति बालाद्रक्षत्येनन्तु बुध योगः"॥

इस श्लोक मे कवि ने चन्द्रगुप्त चाणक्यादि का स्पष्ट कथन न करके गूढ़ संकेतों से ही काम लिया है। दूसरे गुप्त सम्राटों की ओर स्पष्ट संकेत करने से कालिदास राष्ट्रीय सम्पत्ति न रहते; एक के होते हुए भी वे सबके न रह पाते; उनकी कृति का इतना व्यापक मूल्य न रहता; उनकी स्पष्ट-वादिता शायद कुछ कुण्ठित हो जाती। इसी लिये उन्होंने सामान्य से विशेष की ओर, या एक विशेष से दूसरे विशेष की ओर संकेत किया है।

बिना अग्निवर्ण का सहारा लिये अपने आश्रयदाताओं के उत्तराधिकारियों के पतन का आभास देना उनके लिये कठिन हो जाता, और तत्कालीन राज-सत्ता के सामने राजाओं के उत्तम मध्यम और निकृष्ट आदर्शों को वे इतनी खूबी के साथ न रख सकते। इसीलिये रघुवंश में इन्होंने संकेतात्मक प्रणाली का प्रयोग किया है। पाठक उनके इन संकेतों को समझलें, और वे अपनी वाणी को इनसे पूर्णतः गर्भित कर सकें—यही प्रार्थना करते हुए उन्होंने रघुवंश का इस प्रकार श्री गणेश किया है:—

वागर्थाविवसंपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

(रघु० १-१)

(१०) कालिदास की प्राकृत भी अशोक-कालीन प्राकृत से बहुत भिन्नता और गुप्त-कालीन प्राकृत से बहुत समता रखती है।

(११) मन्दसौर के मार्तण्ड-मन्दिर पर लिखे हुए श्लोक, जो ४७३ ई० में वत्सभट्टि ने रचे थे और तभी उत्कीर्ण हुए थे, कालिदास के उन श्लोकों के प्रतिच्छाया-रूप हैं जो उन्होंने अलकापुरी के सम्बंध में मेघदूत में लिखे हैं। इनमें कालिदास का स्पष्ट अनुकरण है। अतः कालिदास इनके आधार पर ई० ४७३ से पूर्व सिद्ध होते हैं।

(१२) प्रसिद्ध इतिहासज्ञ वी. ऐ. स्मिथ के अनुसार सर्व-प्रथम संस्कृत-शिलालेख मथुरा में मिलता है, जो ई० १४४ में उत्कीर्ण हुआ। तदनन्तर गिरनार में क्षत्रप रुद्रदमन की ई० १५२ की लम्बी विजय-प्रशस्ति मिलती है। इनके पहिले के लेख पाली में मिलते हैं। अतः संस्कृत का पुनरुत्थान ईसवी प्रथम शताब्दी से प्रारम्भ होकर ई० पाँचवीं और छठी शताब्दी में चरम सीमा

को पहुँचता है, और इसी पूर्ण विकास का प्रत्यक्षीकरण हम महाकवि कालिदास में पाते हैं। यों तो वाल्मीकि-काल में भी रामायण के रूप में संस्कृत की उत्कृष्ट रचना हुई, किन्तु महाकाव्य के नवीन सर्गबद्ध रूप का पूर्ण विकास कालिदास-काल अर्थात् ई० पाँचवीं शताब्दी में ही हो सका, और तदनन्तर छठी शताब्दी में तत्सम्बन्धी सुनिर्धारित नियम बन गये।

इन्हीं प्रमाणों के आधार पर, जो हमें अन्य पक्षों के समर्थक प्रमाणों से अधिक वज़नी मालूम होते हैं, हम कालिदास को गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन मानते हैं। ऐसा मालूम होता है कि ये कविवर सम्राट् स्कन्दगुप्त के प्रारम्भिक शासन-काल तक भी थे। रघुवंश में हम इन तीन सम्राटों की जीवन-घटनाओं की ओर संकेत पाते हैं। तीनों शासकों के साक्षित्व के लिए असंभव वय-विस्तार भी अपेक्षित नहीं है। इन तीनों सम्राटों का शासन-काल ३७५ ई० से ४७० ई० तक रहता है।

डा० वेबर, श्रीयुत जैकोबी, मानियर विलियम्स, वी. ए. स्मिथ, डा० कीथ, साहित्याचार्य रामावतार शर्मा, श्री एस. सी. दे, डा० रमेश मजूमदार, श्रीयुत अक्षयकुमार सरकार आदि अनेक पाश्चात्य और पौर्वात्य विद्वानों की भी यही धारणा है।

कालिदास का जन्म-स्थान

इनके काल का प्रश्न जितना जटिल है उतना ही स्थान का भी, क्योंकि इस विषय में भी आप एक दम चुप हैं। भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रान्त इस कवि-कुल-किरीट की जन्म-भूमि कहलाने के सौभाग्य को प्राप्त करने के लिये लालायित से मालूम होते हैं। स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में विचारक कालिदास-वर्णित प्रदेशों और पुरों पर दृष्टि जमाते हैं, और जिसकेवर्णन में

उन्हें कवि का अत्यधिक ममत्व और प्रगाढ़ परिचय प्रतिभासित होता है, उसी को इस महाकवि की जन्म-भूमि का गौरव दे रहे हैं। कोई उन्हें पिण्डखजूर-शालि आदि के वर्णन के आधार पर बंगवासी कहते हैं, तो कोई वैदर्भी रीति के आधार पर विदर्भवासी। कोई उन्हें सीलोन तक ले पहुँचे हैं।

म० म० हरप्रसाद शास्त्री मालवा प्रान्त को कालिदास की जन्मभूमि मानते हैं। ऋतुसँहार में छः ऋतुओं का चित्रण है, जिनका स्पष्ट प्रत्यक्षीकरण, उनकी सम्मति में, मालवा के पश्चिमीय भाग में ही होता है। विन्ध्याटवी और विन्ध्याचल की ओर कवि ने अपने ग्रंथों में बार बार सार्थक संकेत भी किये हैं, यथा—"वनानि वैन्ध्यानि हरन्ति मानसं- (ऋ० सं० २-८); "समुपजनिततापंह्लादन्तीव विन्ध्यम्" (ऋ० सं० २-२७); "विद्युद्दाम्ना मेघराजीव विन्ध्यम्" (मा० मि० ३-२१); विन्ध्यस्य मेघप्रभवाइवापः (र० वं० १४-८)।

मेघदूत में तो वक्र पथ होते हुए भी मेघ से यक्ष द्वारा उज्जयिनी होके जाने की सानुरोध प्रार्थना कराई है—"वक्रः पन्थाः यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां–सौधोत्संगप्रणयविमुखो मास्मभूरुज्जयिन्याः" (पू० मे० दू० २८)। उज्जयिनी, विदिशा, दशपुर आदि नगरो को दिखाते हुए मेघ को लम्बे रास्ते से ले जाना, जबकि रामगिर से अलका पहुँचने के लिए सीधा मार्ग प्रयाग, लखनऊ, बरेली होकर होता, तथा पूर्वोक्त पुरों के मार्मिक वर्णन कालिदास का उनसे पूर्ण परिचय और ममत्व प्रकट करते तथा उनको मालवा-प्रान्तीय सिद्ध करते हैं।

किन्तु उनके ग्रंथों में हिमालय का वर्णन मालवा के वर्णन से कहीं अधिक विशद और व्यापक है, जो लेखक का इस

पर्वत से अत्यधिक परिचय और ममत्व प्रकट करता है। कुमार संभव में स्थान-स्थान पर इस पर्वत-राज की छटा दिखाई देती है। मेघदूत हिमालय के सूक्ष्म और सविस्तर वर्णन से भरा हुआ है, जो कवि के उससे पूर्ण परिचित होने में कोई संदेह नहीं रहने देता। विक्रमोर्वशीय, शाकुन्तल और रघुवंश में भी इस पर्वत को महत्वपूर्ण घटनाओं का केन्द्र बनाया गया है। श्रीयुत म० म० हरप्रसाद शास्त्री का यह कहना है कि कालिदास ने प्रकृति-प्रेम के कारण हिमालय जैसे प्रकृति के लोक-प्रसिद्ध क्रीड़ा-केन्द्र का इतना विस्तृत वर्णन किया है और उसको इतना महत्व दिया है। परन्तु जब हम कालिदास को हिमालय पर्वत के छोटे-छोटे स्थानों, दृश्यों, रीति-रस्मों रूढ़ियों, और आदर्शों की ओर मार्मिक संकेत करते पाते हैं तो उस वर्णन की तह में केवल प्रकृति-प्रेम ही नहीं, वरन् इस प्रदेश के लिये वह ममत्वपूर्ण परिचय भी मिलता है, जिसके आधार पर हम कालिदास को वहाँ का निवासी मान सकते हैं।

इस संबंध में स्टीफेन्स कौलिज देहली के प्रोफेसर लक्ष्मीधर कल्ला का मत बहुत माननीय मालूम होता है, जो संक्षेपतः इस प्रकार है:—

राजतरंगिणी के सम्पादक महाशय स्टीन की सम्मति में काश्मीर का आधुनिक बनगथ प्राचीन वसिष्ठाश्रम है, और वह महात्म्यों में इसी नाम से विख्यात है। रघुवंश के वसिष्ठाश्रम से कवि का इसी बनगथ की ओर संकेत हो सकता है, क्योंकि दोनों के पास ही देवदारुनिकुञ्ज, गौरी-गुरु-गह्वर और गंगा-प्रपात हैं। गंगा से यहां काश्मीर गंगा या उत्तर गंगा का अभि-प्राय हो सकता है, जो बनगथ या वसिष्ठआश्रम के पास ही है। शाकुन्तल के कनकरस-निस्यन्दी हेमकूट का संकेत काश्मीर

के हरमुकुट पर्वत से हो सकता है, जिससे कनकवाहिनी नदी निकलती है। इसी के तट पर नन्दीक्षेत्र-नामक एक तीर्थ-मण्डल है। इसमें भूतेश्वर आदि पुण्य स्थान हैं, जिनका उल्लेख कुमार-संभव के हिमाद्रिप्रस्थ और नन्दी-सेवित भूतपते रास्पदम् द्वारा किया गया है। ब्रह्म-सर, अप्सरा तीर्थ, शची तीर्थ, सोम तीर्थ, मालिनी, शक्रावताराादि छोटे-छोटे स्थान भी उत्तर काश्मीर में हैं। विक्रमोर्वशीय का नायक प्रयाग से कश्यपाश्रम (काश्मीर) में सूर्योपस्थानार्थ गया है। यहां कश्यपस्वामिमार्तण्ड-नामक प्रसिद्ध सूर्य-मन्दिर था, जो नीलमतानुसार काश्मीर के संस्थापक कश्यप ऋषि ने बनवाया था।

कालिदास के ग्रंथों में काश्मीर के स्थानों और दृश्यों का सामान्य वर्णन ही नहीं है, कवि का उनके प्रति अचूक प्रेम भी है। हिमालय प्रान्त के शीतातिशय की सफाई देते हुए आप कहते हैं—

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एकोहि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवाङ्कः॥
(कु० सं० १-३)

नीलमत की पौराणिकगाथानुसार काश्मीर को कश्यप ने बनाया और बसाया था। उन्हीं के आश्रम, अर्थात् काश्मीर के हरमुकुट पर्वत पर कवि ने दुष्यन्त के मुँह से ये उद्गार निकाले हैं—, "स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम्। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि"

रघुवंश के कुमुद नाग, निकुम्भादि का उल्लेख नीलमत की काश्मीरी गाथाओं से मिलता है। अजेन्दुमती-विवाह की आचार-धूम ग्रहण, लाजा-होम, आर्द्राक्षत-रोपण, स्वयं न डाल

कर इन्दुमती का धात्री-करों से अज के गले में माला डलवाना इत्यादि रीतियाँ काश्मीरी विवाह-विधि से पूरा मेल खाती हैं। 'अथतेन दशाहतः परे' (र० वं० ८-७३) की टीका करता हुआ वल्लभ-नामक काश्मीरी टीकाकार लिखता है-"दशाहोऽत्र विधिविशेषो ननु दश दिनानीति।"

मृत्यु के बाद दशाह नामक एक क्रिया अब भी काश्मीर में प्रचलित है। शाकुन्तल के मछुए की भांति काश्मीर में मछुए बहुत प्राचीन काल से अत्यन्त घृणापात्र रहे हैं, और काश्मीर के शक्रावतार और शचीतीर्थ में इनका पूरा जमाव भी है। महाभारत में मछुआ और मुदरी का कोई वर्णन न होते हुए भी शचीतीर्थ तथा शक्रावतार का उल्लेख करते समय लेखक की अन्त दृष्टि में बहुत संभव है उपर्युक्त वस्तुएँ रही हों। शिशिर और हेमन्त में स्त्रियाँ स्तनों पर कुंकुम-लेप करती है- इस बात का वर्णन उधर काश्मीरी कवि विल्हण अपने विक्रमांक चरित में करते हैं, इधर कालिदास अपने ऋतु-संहार मे। केसर और धान की फसलों की भिन्न भिन्न दशाओं का सूक्ष्म निरीक्षण कालिदास को काश्मीरी सिद्ध करता है, क्योंकि ये दो चीजें साथ-साथ काश्मीर में ही पैदा होती हैं।

आध्यात्मिक आदर्श की दृष्टिसे भी कालिदास काश्मीरी ही सिद्ध होते हैं। वे प्रत्यभिज्ञानशास्त्राभिमत शैव धर्म के अनुयायी थे। तदनुसार एक ही स्वतंत्र चैतन्य तत्व है, जिसका नाम सदाशिव है। शिव और शक्ति इसकी दो सत्ताएँ हैं, जो अर्थ और वाणी की भांति अभिन्न हैं। शिव अपनी शक्ति से अपने सृष्टि-रूप में अभिव्यक्त होता है। यह अभिव्यक्ति आभास कहलाती है। अपनी शक्ति के तिरोधान या पिधान-नामक तत्व से शिव जीव-

रूप में प्रकट होकर अपनी शक्ति को भूल जाता है। इसी की शक्ति का अनुग्रह-नामक तत्व उसे फिर उसकी शक्ति का प्रत्यभिज्ञान कराता है। यह सब सदाशिव की स्वतंत्र क्रीड़ा है।

कालिदास के ग्रंथों में हम इस प्रत्यभिज्ञानात्मक शैवधर्म का अचूक आभास पाते हैं। अपने प्रत्येक ग्रंथ का उन्होंने शिव-स्तवन से आरम्भ किया है। रघुवंश के "वागर्थाविव संपृक्तौ" में इसी शिव और शक्ति की अभिन्नताकी झलक है। शाकुन्तल में तो दुष्यन्त और शकुन्तला की ओट में शिव और शक्ति के अन्वय-व्यतिरेक की सब दशाओं की स्पष्ट अभिव्यक्ति की गई है, और नाटक का "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" नाम ही इस सार्थकता से ओतप्रोत है। उनके अन्य ग्रंथों में भी इसका आभास मिलता है। प्रत्यभिज्ञानात्मक शैव धर्म का प्रचार कालिदास-काल, अर्थात् ईसवी पाँचवीं शताब्दी, में काश्मीर में था, जैसा कि नीलमत के लेखों से प्रकट होता है। कालिदास ने इसको वहीं अपनाया, क्योंकि काश्मीर के बाहर इसका प्रचुर प्रचार आठवी शताब्दी मे चलकर भगवान् शंकराचार्य द्वारा हुआ।

मेघदूत भी काश्मीर की ओर संकेत करता है। मालवा प्रान्त मे प्रवास के दिन व्यतीत करते हुए यक्ष मे हमे तो प्रवासी कालिदास जी ही छिपे दीखते हैं। बहुत संभव है कि कुबेर ने शाप, अर्थात् निर्धनता, के कारण इन्हे अपनी जन्मभूमि काश्मीर को छोड़ना पड़ा हो। बहुत संभव है वर्षा ऋतु में विन्ध्याचल के मेघावृत पठारों पर घूमते हुए इनके भावुक हृदय में जाया और जन्मभूमि का स्मरण आया हो, और मेघदूत में उसकी रागात्मक अभिव्यक्ति हुई हो। काश्मीर की प्राचीन परम्परा में यक्षों का महत्व-पूर्ण स्थान है। लोग पर्वतों

पर उनका निवास मानते हैं। आजकल भी पौष वदी अमावास्या को काश्मीर मे यक्ष-पूजा होती है। कुछ काश्मीरी परिवारों का यक्ष गोत्र भी है। बहुत संभव है हमारे कालिदास जी ने इन्हीं मे से किसी एक परिवार को अपने जन्म से पवित्र किया हो।

अतः इन प्रमाणों के आधार पर, और अन्य दृढ़तर प्रमाणों के अभाव में इस निश्चय पर पहुँचना वेजा न होगा कि कालिदास की जन्म-भूमि काश्मीर थी; जीविका-वश उन्हे बाहर जाना पड़ा; उन्होंने भारतवर्ष के लगभग प्रत्येक प्रान्त का भ्रमण किया; तदनुसार उन्होने देश के प्रत्येक भाग का अपने ग्रंथों मे मनोहर वर्णन किया; काश्मीर के पार्वत्य-प्रदेश और हिमालय से विशेष संबंध होने के कारण वहां का वर्णन बहुत ही मार्मिक और ममत्वपूर्ण हुआ; काश्मीर के संस्कारों को लेकर ये बाहर निकले; इनकी लोकोत्तर प्रतिभा से मुग्ध होकर तत्कालीन बड़े-बड़े राजे महाराजे इनको आश्रय देने में अपना गौरव समझने लगे; ये देशभर में घूमे और राष्ट्रीय कवि के उच्चपद को प्राप्त हुए; मालवा की उज्जयिनी नगरी मे इनका अधिक जमाव रहा; वहाँ रहकर इन्होंने अपनी अद्भुत काव्य-छटा दिखाई; बीच-बीच मे काश्मीर की स्मृति हृत्तन्त्री को झंकृत कर देती थी, और उसकी झनकार यत्र-तत्र-सर्वत्र इनके ग्रन्थों में गूंज जाया करती थी।

कालिदास का काव्य

महाकवि कालिदास कब और कहां थे--इन प्रश्नों के विवेचन के बाद एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण प्रश्न आता है, और वह है—कालिदास क्या थे? इस प्रश्न का संतोषजनक और सहेतुक उत्तर देना मुझ जैसे अल्पज्ञ के लिये बहुत ही कठिन

है। पाठक निश्चय समझें, मेरे इस कथन में विनयोक्ति नहीं, खालिस सत्योक्ति है। परन्तु चूंकि आबनी है, इस पहेली पर अनिवार्यतः कुछ न कुछ विचार करना ही है।

ग्रंथ—जिस प्रकार कालिदास अनेक कालों और स्थानों में घसीटे गये हैं, उसी प्रकार इनके सर पर लगभग ४० ग्रंथो का पुलन्दा लादा गया है। उन सब का उल्लेख करना लेख को व्यर्थ बढ़ाना है। इन सब की काट छांट करके विचारक प्रायः इन सात ग्रंथों को कालिदास-रचित मानते हैं—ऋतुसंहार, मेघदूत, कुमारसंभव, रघुवंश, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र और शाकुतन्ल। इनमें प्रथम और द्वितीय उद्भट काव्य है; तृतीय—चतुर्थ महाकाव्य, और अन्तिम तीन नाटक हैं। कुछ आचार्य मेघ-दूत को भी महाकाव्य की कोटि मे ही लाते हैं, परन्तु प्रचलित महाकाव्य के लक्षण और रूप से उसकी संगति नही बैठती। इसमें कालिदास ने स्वतन्त्र-कल्पना और राग के गोलकों को कथा-सूत्र मे पिरोया अवश्य है, किन्तु नाममात्र को। घटनावली में काव्यानुरूप संकुलता नहीं है। ऐसा मालूम होता है मानो उत्तरी भारत और हिमालय के प्राकृतिक वर्णन में मनोवेग और मानवी तत्व का गहरा पुट डालने के लिये कालिदास ने अपनी स्वतंत्र भावनाओं का रागात्मक उद्गार यक्ष-द्वारा कराया है।

कालिदास की काव्य-तन्त्री के इन सात तारों से जो अलौ-किक संगीत निकला है, उसे सुनकर समस्त संसार मंत्र-मुग्ध सा हो गया है। इधर महाकवि बाणभट्ट उस पर रीझकर कहते हैं—"निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु, प्रीतिर्मधुरसार्द्रासु मंजरीष्विव जायते," तो उधर जर्मन महाकवि गेटी के मुख से ये उद्गार निकल पड़ते हैं:—

"Wouldst thou the earth and heaven itself in one sole name combine? I name thee, O Sakuntala, and all at once is said."

इधर कविवर राजशेखर यह दावा करते हैं कि "एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्" तो उधर महाशय हियोलिट फौच कालिदासकृत मेघदूत को—"Without a rival in the elegaic literature of Europe" करार देते हैं।

इधर हलायुध भट्ट "महाकविम् कालिदासं वन्दे वाग्देवतां गुरुम्। यज्ज्ञाने विश्वमाभाति दर्पणे प्रतिविम्बवत्"—इन शब्दो में उनका गुण-गान करते हैं, तो उधर ऐलग्जेण्डरवौन हमवोल्ड का यह साधुवाद होता है—"Tenderness in the expression of feeling and richness of creative fancy have assigned to him his lofty place among the poets of all nations." सर विलियम जोन्स उन्हें भारतीय शेक्सपियर कहते हैं, तो प्रो०लासन की राय में कालिदास "The brightest star in the firmament of Indian artificial poetry" हैं।

आखिर कालिदास में वह क्या जादू है जो संसार के सर पर चढ़ कर बोल रहा है ? इस प्रश्न का सब से अच्छा उत्तर तो यही होसकता है—सहृदयता पूर्वक उनके मूल-ग्रंथों को पढ़िये, मालूम हो जायगा। लड्डू का मिठास खाने से ही पूर्णतः जाना जा सकता है, कहने से नहीं। अनुवाद या आलोचना द्वारा कवि के हृदय का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता, थोड़ी सी झलक भले ही दिखाई जा सके। अतः अपने महाकाव्य रघुवंश में इस कलाकार ने कला का क्या और कैसा परिचय दिया है—इसका यदि पाठकों को कुछ भी आभास मिल सका तो इस लेख की सार्थकता सिद्ध हो जायगी।

काव्य और उसके भेद

"रसो वै सः" के अनुसार स्रष्टा और सृष्टि रस-पूर्ण ही नहीं, प्रत्युत् रस ही हैं। जड़ और चेतन सृष्टि के किसी पहलू पर दृष्टि जमाइये, रस अवश्य मिलेगा। यदि किसी को न मिले तो इसके यह मानी नहीं कि रस है ही नहीं। फूटे पात्र में पानी नहीं ठहरता। मरुस्थल मे तो नदियाँ भी सूख जाती हैं। सजातीय सजातीय की ओर झुकता है; अग्नि की लोय अग्नि-भंडार सूर्य की ओर ही उठेगी; जल जलधि की ओर ही जायगा। यह रसधारा भी रसिक की ओर ही बहेगी।

तो रस के स्वाद को उसका पीने वाला रसिक ही जाने। कोई इस रस-सागर में नमक की तरह घुलकर रस ही हो जाता है। कोई उसके नशे मे इतना चूर हो जाता है कि फिर कुछ कहने की गम नहीं रहती। कोई उसका आस्वादन करके उसके स्वाद पर स्वयं तो रीझता ही है, औरो को भी रिझाने का प्रयत्न करता है; उसकी बड़ी बखान करता है। इस बखान में पान का सा आनन्द तो हो ही नहीं सकता, तथापि उस मधुर रस का मधुर वर्णन भी बहुत आनन्द देता है। इसीलिए उस वर्णन को ब्रह्मानंद न कहकर ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यानन्द कहा जाता है। इस आनंद की मात्रा रसिक की रसानुभूति और वाणी-द्वारा उसकी अभिव्यक्ति पर निर्भर रहती है। रसानुभूति की इस सरस सुन्दर वागात्मक अभिव्यक्ति को हम कविता या काव्य कह सकते हैं। वाणी शब्द और अर्थ के सम्मिश्रण से बनी है। अतः सुन्दर वाणी के लिए सुन्दर शब्द और सुन्दर अर्थ दोनों ही अपेक्षित हैं। तदनुसार सुन्दर कविता के भी शब्दात्मक सौन्दर्य और भावात्मक सौन्दर्य दोनों

ही प्रधान तत्व हैं। शब्द परिमित सापेक्षिक और अनित्य है; भाव अपरिमित निरपेक्ष और नित्य। शब्द का संदेश लेने और देने के लिए वाह्य उपकरणों की आवश्यकता होती है; भाव हृदय की हृदय पर सीधी चोट पहुँचाता है। अतः काव्य मे शब्द-सौन्दर्य की अपेक्षा भाव-सौन्दर्य का अधिक महत्व है, और इससे भी अधिक महत्व है रसानुभूति का, क्योंकि रसानुभूति और रसाभिव्यक्ति पर तो उसकी दारमदार है ही।

काव्य के भेद—

कोई रसिक रसानुभूति मे मग्न होकर आप ही आप गुनगुनाता है, आप ही आप विवेचन करने लगता है। यह अभिव्यक्ति काव्य का एक विशेप रूप लेती है, जिसे हम विवेचनात्मक काव्य (Subjective Poetry) कह सकते हैं। कोई अपनी रसानुभूति का दूसरों के सामने विशद वर्णन करता है, और उससे बहुत लोगों को आसानी से संवित करने के लिए चेतन जगत के विख्यात उदाहरणों का आश्रय लेता है; शक्ति, सौन्दर्य, प्रेम, परोपकारादि की अभिव्यक्ति शक्त, सुन्दर, प्रेमी, परोपकारी द्वारा करता है। यह रसाभिव्यक्ति भी काव्य का एक विशेष रूप लेती है, जिसे हम निर्देशात्मक काव्य (Objective Poetry) कह सकते है। यह निर्दिष्ट सामग्री एक कथा-सूत्र मे बँधी भी हो सकती है या विखरी भी। तदनुसार निर्देशात्मक काव्य प्रबन्धात्मक अथवा वृत्तात्मक भी हो सकता है या स्फुट अथवा उद्‌भट भी। किन्तु किसी रसिक को निर्देशमात्र से संतोष नही होता। वह रसाभिव्यक्ति के लिए कुछ कहेगा भी और कुछ दिखायेगा भी। हृदय पर कर्ण और नेत्र इन दो मार्गों से आक्रमण करेगा। उस सरोवर का, जहाँ उसे रस मिला है, वर्णन भी करेगा और

प्रदर्शन भी। प्रदर्शन-प्रधान रसाभिव्यक्ति दृश्य काव्य या नाटक का रूप लेती है, और वर्णन-प्रधान श्रव्य काव्य का। श्रव्य काव्य कहानी, उपन्यास, चम्पू, खण्डकाव्य, महाकाव्यादि भिन्न भिन्न रूप लेता है। यहाँ हमारा विशेष संबन्ध महाकाव्य से है। अतः उसी का थोड़ा सा विवेचन किये लेते हैं।

महाकाव्य

विशद और विस्तृत रसाभिव्यक्ति के लिए कवि को विशद और विस्तृत शक्तियों तथा साधनों की आवश्यकता होती है। यहाँ खद्योत की सी क्षणिक झलक बेकार है। महाकाव्यकार में चन्द्रिका की ठहराऊ प्रतिभा चाहिये, जिसके प्रकाश में कवि के सूक्ष्म और स्थूल दोनों लोकों की सम्पूर्णता, तथा सरसता की पूर्णतः झाँकी हो जाय।

रसाभिव्यक्ति का महाकाव्य-नामक रूप बहुत प्राचीन है। प्राचीनतम काल में इसका क्षेत्र बहुत ही विस्तृत था। यह एक निरंतर भरता रहने वाला सरोवर था। मानव-समाज की परंपरागत सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक रूढ़ियाँ या तो इसमें क्रमशः लिपिवद्ध होती जाती थीं, और इस प्रकार इसकी क्रमशः कलेवर-वृद्धि होती जाती थी, या एक बार ही समस्त सामाजिक भाव-भंडार को भर देने का प्रयत्न किया जाता था। इन महाकाव्यों में कलात्मक सौन्दर्य पर इतना ध्यान नहीं दिया जाता था जितना सम्पूर्णता पर। हम इनको कलेवर-प्रधान महाकाव्य (Epic of Growth) कह सकते हैं। रामायण, महाभारत, और पुराणों के बड़े-बड़े पोथे इसी कोटि मे आ जाते हैं। हां, रामायण-जैसे प्राचीन महाकाव्य में कला और कलेवर दोनों एकदूसरे से होड़ करते दिखाई देते हैं।

समय के परिवर्तन के साथ-साथ महाकाव्य के रूप मे भी परिवर्तन हुआ। उसके कलात्मक तत्व को अधिकाधिक महत्व दिया जाने लगा। फलतः उसके कलेवर की ऐसी काट छाँट की गई कि वह कलापूर्ण हो जाय। महाकाव्य के इस नवीन रूप का आभास हमें महाभाष्यकार पतंजलि के समय से ही मिलने लगता है। ईसवी प्रथम शताब्दी में तो बौद्ध कवि अश्वघोष के बुद्धचरित और सौन्दरानन्द महाकाव्य नये सांचे में ढले हुए मिलते ही हैं। कालिदास-काल तक महाकाव्य का यह नवीन रूप अपने विकास की चरम सीमा तक पहुँच चुका था। इस नवीन रूप को हम कला-प्रधान महाकाव्य (Epic of art) कह सकते हैं।

कला-प्रधान महाकाव्य की उत्पत्ति और विकास होने पर क्रमशः तत्संबन्धी नियम भी बन गये। ईसवी छठी शताब्दी में ही आचार्य दण्डी ने यह व्यवस्था दे दीः—

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशोवापि तन्मुखम्॥
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्,
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम्,
नगरार्णवशैलतुर्चन्द्रार्कोदयवर्णनैः,
उद्यानसलिलक्रीड़ामधुपानरतोत्सवैः,
विप्रलंभैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः,
मंत्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि,
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्,
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः,
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजनम्,
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति॥

अर्थात् महाकाव्य सर्गवद्ध हो; आशीर्वादात्मक, नमस्क्रियात्मक या वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण से उसका प्रारंभ हो; उसका कथानक ऐतिहासिक या अनैतिहासिक हो, किन्तु हो भव्य; धर्मार्थकाममोक्ष उसका लक्ष्य हो; उसका नायक चतुर और उदात्त-वृत्ति हो; नगर, सागर, पर्वत, ऋतु, चन्द्र-सूर्योदय; उद्यान-विहार, जलक्रीड़ा; मधुपान, उत्सव, वियोग, विवाह, कुमार-वय-विकास, मंत्रणा, दूत, प्रस्थान, युद्ध, नायकाभ्युदयादि के वर्णनों से युक्त हो; अलंकार-पूर्ण, सविस्तर, और रस-संभृत हो; उसके सर्ग बहुत लम्बे न हों; छन्द मधुर हों; सुसंबद्ध हो; भिन्न २ वृतान्त हो, या सर्गान्त में भिन्न २ वृत्त हो; लोगों का मनोरंजन करे। सुन्दर अलङ्कारो से अलंकृत ऐसा महाकाव्य कल्पान्त तक स्थायी हो जाता है।

नवीन महाकाव्य की इस रूप-रेखा में तत्कालीन समाज की साहित्यिक प्रवृत्ति का आभास मिल जाता है। साहित्य में रूप-सौन्दर्य का दौर-दौरा हो चला था। उसकी प्रवृत्ति शिक्षण और सुधार की ओर कम और मनोरंजनकी ओर अधिकाधिक होती जाती थी; किन्तु श्रेय को प्रेय के सामने सर्वथा भुला नहीं दिया गया था। साहित्य के सुन्दर वेष की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था, किन्तु उसके सन्देश की ओर भी आँखें बन्द नहीं करली गईं थीं। साहित्य ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाली थी, किन्तु जीवन से उसका संबंध-विच्छेद नहीं हुआ। वह चतुर्वर्ग-फलायत्त, सदाश्रय और उदात्त-नायक रहा। उसकी सुन्दरता का विकास तो हुआ, किन्तु उपादेयता का बहुत ह्रास न हुआ। आइये इस प्रकाश में रघुवंश पर भी कुछ दृष्टि-पात करलें।

रघुवंश

रघुवंश की ईदृक्ता और इयत्ता पर विचार करने के लिये पहिले उसके कथानक को जान लेना अत्यावश्यक है। इसमें १६ सर्ग हैं, जिनमें रघुवंश के ३७ राजाओं के नाम आते हैं। दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम, कुश, अतिथि और अग्निवर्ण इन आठ का विशद वर्णन है, इक्कीस के नामों और कामों का बहुत ही संक्षिप्त उल्लेख है, और शेष आठ के केवल नाम ले दिये हैं।

सर्ग १—

नमस्क्रियात्मक मंगलाचरण के बाद रघुकुल-नरेशों के उन लोकोत्तर गुणों का वर्णन है, जिन पर रीझकर कवि ने उनका वृत्त लिखा है। बुध-जनों के ध्यान का आवाहन करके वह इस प्रकार कथारंभ करता है:—सूर्य-कुल मे वैवस्वत-नामक प्रथम नरेश हुआ। उसी के कुल में दिलीप-नामक एक बड़ा ही प्रतापशाली राजा जन्मा। उसको सब सुख और साधन प्राप्त थे। एकमात्र दुःख था पुत्राभाव। अन्त में मंत्रियों को राज्य-भार सौंपकर वह पुत्रेष्टि निमित्त गुरु वसिष्ठ के आश्रम में पत्नी सुदक्षिणा सहित पवित्र भाव से पहुँचा। वहाँ गुरु से अपना दुःख रोया। गुरुवर ने ध्यान द्वारा रहस्य को जान लिया और राजा से कहा—"तुम स्वर्ग-लोक में इन्द्र से मिलकर भूलोक को आरहे थे। रानी सुदक्षिणा को ऋतुस्नाता जानकर इतनी जल्दी में थे कि मार्ग में मिली हुई कामधेनु का प्रदक्षिणादि-द्वारा सम्मान नहीं किया। उसने तुम्हें शाप दिया—मेरी संतान की पूजा किये बिना तुमको संतान प्राप्त न होगी। तुम उस शाप को न सुन सके। वही तुम्हें पेर रहा है। कामधेनु तो इस समय पाताल में है। उसकी पुत्री नन्दिनी हमारे यहाँ है। सपत्नीक उसी की पूजा

करो, पुत्र हो जायगा"। उसी समय नन्दिनी वहाँ आगई। राजा ने गुरु-आदेश सहर्ष स्वीकृत कर लिया। तदुपरांत दम्पति ने फलादि खाकर मुनि-कुटीर में कुश-शय्या पर रात बिताई।

सर्ग २—

प्रातः काल रानी ने नन्दिनी की पूजा की और राजा बछड़े को दूध पिला और बाँध कर उसे बन में चराने ले गये। कुछ दूर चलकर रानी और नौकर भी लौटा दिये। अकेले ही नन्दिनी की सेवा में लीन हो गये। छायावत् उसके पीछे लगे फिरते। वह बैठती तो आप बैठते, वह उठती तो आप उठते। उसकी रक्षा के लिये सदा धनुष चढ़ा ही रहता। शाम को आश्रम मे लौटते। रानी आगे आकर गाय का स्वागत करती। रात्रि में पति-पत्नी उसे पूजते। गाय के सोने पर सोते और जगने पर जगते। तीन सप्ताह तक यही व्रत चला। एक दिन महाराज की परीक्षा लेने नन्दिनी हिमालय की घाटियों में चरने चली गई। राजा पर्वत की छटा देख रहे थे। इतने ही में एक सिंह ने गाय धर दबाई। उसका क्रंदन सुनते ही राजा ने सिंह को मारने के लिये धनुष पर बाण चढ़ाया। किन्तु हाथ बँध गये, उँगलियाँ बाण से चिपक गईं! हैरान! सिंह से सुनते क्या हैं—"इस देवदारु की रक्षा के लिये मैं सिंह-रूप से यहाँ नियुक्त किया गया हूँ। हाथियों को हटाता रहता हूँ, और हाथ पड़े जीवों को खाकर उदर-पूर्ति करता हूँ। भगवान् ने इस गाय के रूप में अच्छा भोजन भेजा। इसकी आशा छोड़ो और घर जाओ। मैं कुंभोदर-नामक शिवानुचर हूँ। यहां तुम्हारे सब शस्त्रास्त्र बेकार होंगे।" सिंह ने राजा को बहुत कुछ फुसलाया, पर नन्दिनी-सेवक ने एक न सुनी। अन्त में तै हुआ कि गाय छोड़ दी जाय और स्वयं राजा सिंह के भोजन बन जावें। तदनुसार राजा ने

अपने को सिंह के सामने डाल दिया। परन्तु देखते क्या हैं कि विद्याधर उन पर फूल बरसा रहे हैं! सिंह की छाया भी नहीं है, और नन्दिनी पास खड़ी है। बोली—"बेटा! परीक्षा थी। पास हुए। वर माँगो।" पुत्र के सिवाय और माँगा ही क्या जाता। तुरन्त नन्दिनी ने 'तस्थास्तु' कह दिया। दूध काढ़ने और पीने का आदेश हुआ। उत्तर मिला—"माता! अभी नहीं। बच्चा पीले; गुरुजी आज्ञा देदें, तब।" गाय आश्रम में आगई। राजा ने गुरुजी और रानी से सब वृत्तान्त कह दिया। तत्पश्चात् नन्दिनी के दूध से व्रत-पारण करके राजा-रानी घर को विदा हुए, और रानी सुदक्षिणा ने गर्भ-धारण किया।

सर्ग ३—

गर्भ-चिन्ह रानी के शरीर पर प्रस्फुटित होने लगे। उच्च के शुभ ग्रहों में पुत्र का जन्म हुआ। उसमे लोकोत्तर तेज था। संसार में आनन्द ही आनन्द छा गया। राजा के आनन्द का तो ठिकाना ही क्या था। यथावत् संस्कार होते गये। नाम रघु रक्खा। कुँवरजी का नित नूतन शारीरिक और मानसिक विकास हुआ। केशान्त-संस्कार के बाद विवाह की ठहरी। होते हवाते कुँवर को युवराज पद भी दे दिया गया। राजा को चैन मिला। यज्ञ की सूझी। कुमार रघु के हय-रक्षकत्व में ९९ अश्वमेधयज्ञ कर डाले। शतम यज्ञ होने को था। इन्द्र कैसे सहता? रक्षकों के देखते-देखते घोड़े को माया करके हर लेगया। सब किंकर्तव्य-विमूढ़ थे कि वही पुरानी नन्दिनी घटना-स्थल पर आ पहुँची। उसके मूत्र से रघु ने अपने दृगों का मार्जन किया। अब तो उसे गोतीत दृश्य दीखने लगे। फलतः इन्द्र भी पूर्व की ओर यज्ञाश्व को ले जाता दीख पड़ा। तुरन्त ललकार दी। सुरपति लौटे। रघु ने

करो, पुत्र हो जायगा"। उसी समय नन्दिनी वहाँ आगई। राजा ने गुरु-आदेश सहर्ष स्वीकृत कर लिया। तदुपरांत दम्पति ने फलादि खाकर मुनि-कुटीर में कुश-शय्या पर रात बिताई।

सर्ग २—

प्रातः काल रानी ने नन्दिनी की पूजा की और राजा बछड़े को दूध पिला और बाँध कर उसे बन में चराने ले गये। कुछ दूर चलकर रानी और नौकर भी लौटा दिये। अकेले ही नन्दिनी की सेवा में लीन हो गये। छायावत् उसके पीछे लगे फिरते। वह बैठती तो आप बैठते; वह उठती तो आप उठते। उसकी रक्षा के लिये सदा धनुष चढ़ा ही रहता। शाम को आश्रम में लौटते। रानी आगे आकर गाय का स्वागत करती। रात्रि में पति-पत्नी उसे पूजते। गाय के सोने पर सोते और जगने पर जगते। तीन सप्ताह तक यही व्रत चला। एक दिन महाराज की परीक्षा लेने नन्दिनी हिमालय की घाटियो में चरने चली गई। राजा पर्वत की छटा देख रहे थे। इतने ही में एक सिंह ने गाय धर दबाई। उसका क्रंदन सुनते ही राजा ने सिंह को मारने के लिये धनुष पर वाण चढ़ाया। किन्तु हाथ बँध गये, उँगलियाँ वाण से चिपक गईं! हैरान! सिंह से सुनते क्या हैं—"इस देवदारु की रक्षा के लिये मैं सिंह-रूप से यहाँ नियुक्त किया गया हूँ। हाथियों को हटाता रहता हूँ, और हाथ पड़े जीवों को खाकर उदर-पूर्ति करता हूँ। भगवान् ने इस गाय के रूप में अच्छा भोजन भेजा। इसकी आशा छोड़ो और घर जाओ। मैं कुंभोदर-नामक शिवानुचर हूँ। यहां तुम्हारे सब शस्त्रास्त्र बेकार होंगे।" सिंह ने राजा को बहुत कुछ फुसलाया, पर नन्दिनी-सेवक ने एक न सुनी। अन्त में तै हुआ कि गाय छोड़ दी जाय और स्वयं राजा सिंह के भोजन बन जावें। तदनुसार राजा ने

अपने को सिंह के सामने डाल दिया। परन्तु देखते क्या हैं कि विद्याधर उन पर फूल बरसा रहे हैं! सिंह की छाया भी नहीं है, और नन्दिनी पास खड़ी है। बोली—"बेटा! परीक्षा थी। पास हुए। वर माँगो।" पुत्र के सिवाय और माँगा ही क्या जाता। तुरन्त नन्दिनी ने 'तस्थास्तु' कह दिया। दूध काढ़ने और पीने का आदेश हुआ। उत्तर मिला—"माता! अभी नहीं। बच्चा पीले; गुरुजी आज्ञा देदें, तब।" गाय आश्रम में आगई। राजा ने गुरुजी और रानी से सब वृत्तान्त कह दिया। तत्पश्चात् नन्दिनी के दूध से व्रत-पारण करके राजा-रानी घर को विदा हुए, और रानी सुदक्षिणा ने गर्भ-धारण किया।

सर्ग ३—

गर्भ-चिन्ह रानी के शरीर पर प्रस्फुटित होने लगे। उच्च के शुभ ग्रहों में पुत्र का जन्म हुआ। उसमें लोकोत्तर तेज था। संसार में आनन्द ही आनन्द छा गया। राजा के आनन्द का तो ठिकाना ही क्या था। यथावत् संस्कार होते गये। नाम रघु रक्खा। कुँवरजी का नित नूतन शारीरिक और मानसिक विकास हुआ। केशान्त-संस्कार के बाद विवाह की ठहरी। होते हवाते कुँवर को युवराज पद भी दे दिया गया। राजा को चैन मिला। यज्ञ की सूझी। कुमार रघु के हय-रक्षकत्व में ९९ अश्वमेधयज्ञ कर डाले। शतम यज्ञ होने को था। इन्द्र कैसे सहता? रक्षकों के देखते-देखते घोड़े को माया करके हर लेगया। सब किंकर्तव्य-विमूढ़ थे कि वही पुरानी नन्दिनी घटना-स्थल पर आ पहुँची। उसके मूत्र से रघु ने अपने दृगों का मार्जन किया। अब तो उसे गोतीत दृश्य दीखने लगे। फलतः इन्द्र भी पूर्व की ओर यज्ञाश्व को ले जाता दीख पड़ा। तुरन्त ललकार दी। सुरपति लौटे। रघु ने

अनुनय-विनय की, किन्तु व्यर्थ। इन्द्र सौ अश्वमेध के श्रेय को अपने ही दाँतों से दबाये रखना चाहता था। युद्ध छिड़ा। घात-प्रतिघात का ताँता लग गया। अन्त में इन्द्र को रघु के शौर्य की सराहना करनी पड़ी। उसने घोड़ा न देकर राजा दिलीप को सौ यज्ञों का फल देदिया, और यह सन्देश अपने ही दूत द्वारा राजा के पास पहुंचा दिया। कुमार रघु घर लौटे। पिता भी बड़े प्रसन्न हुए। अन्त मे बेटा को सब राज-भार सौंप कर बूढ़े राजा सपत्नीक बन को तपस्यार्थ चल दिये।

सर्ग ४—

राज-सिंहासनस्थ रघु का प्रताप संसार में फैल गया। उसके सुशासन में प्रजा दिलीप को भी भूल गई। शरदागमन होने पर राजा रघु राज्य, राजधानी और दुर्गों को पूर्ण सुरक्षित करके, विशाल सेना लेकर, दिग्विजय के लिये चल दिया। पहिले पूर्व की ओर चढ़ाई हुई। बंगाली नरेशों ने उसके आधिपत्य को स्वीकृत किया। वहाँ से चल कर कलिंग-विजय और महेन्द्र-विजय करता हुआ समुद्र के किनारे-किनारे मलयगिरि तक जा पहुंचा। मलय दर्दुरादि पर्वतों की सैर करता हुआ, और सह्यगिरि को लाँघता हुआ यह वीर पश्चिम की ओर बढ़ा। केरल देश पर अपना सिक्का जमा कर ईरान पर धावा बोल दिया। वहाँ यवनों से बड़ा प्रचण्ड युद्ध हुआ। यवनों के डढ़ियल शिरों से उसने रण-भूमि पाट दी।

तत्पश्चात् अंगूर के बगीचों में पड़ाव डालता हुआ रघु उत्तर की ओर बढ़ा। वहाँ हूणों के छक्के छुड़ा दिये। काम्बोज भी उसके प्रचण्ड तेज को न सह सके। तदनंतर हिमालय के उच्च पठार पर चढ़ कर उसने पर्वती-गणों को पराजित किया। वहाँ से उतर कर, लौहित्या नदी को पार करता हुआ, और

कामरूप-नरेश को हराता हुआ घर लौटा। उसने यहाँ विश्व-जित यज्ञ रच डाली, और दिग्विजय से प्राप्त समस्त सम्पत्ति दान में दे दी। यज्ञ समाप्त होने पर साथ आये हुए राजाओं को उनके घर भेज दिया।

सर्ग ५—

महाराज रघु अपना सर्वस्व दान में दे चुके थे। केवल मिट्टी के बरतन बचे हैं। इसी समय ऋषि वरतन्तु का शिष्य कौत्स गुरु-दक्षिणा लेने के लिये आया। महाराज ने आगे जाकर उसका स्वागत किया। विधिवत् अर्चन-पूजन करके गुरु का, आश्रम का, और उसका सविवरण कुशल-समाचार पूछ कर कहा-"क्या सेवा करूं?" महाराज की निर्धन दशा देख कर ब्राह्मण को याचना करने की हिम्मत न हुई, और चल देना चाहा। महाराज ने उसे रोक कर पूछा "कहिए क्या और कितनी दक्षिणा गुरुजी को देनी है?" उत्तर मिला "चौदह करोड़ मुद्रा।" "अच्छा तो मैं इस रकम को जुटाने का प्रयत्न करता हूं। तब तक आप यज्ञ-शाला में रहिये। एक विद्वान् विप्र रघु के पास से विमुख चला जाय यह अपमान मुझे असह्य है।" पृथ्वी को निस्सार देख कर महाराज कुबेर पर चढ़ाई करने को चलने ही वाले थे कि कोशाधिकारियों ने सूचना दी—"महाराज! खजाने में स्वर्ण-वर्षा हुई है"। देखा तो सचमुच सामने एक विशाल हेम-राशि पड़ी हुई थी। सब की सब कौत्स को साग्रह सौंपनी चाही। उधर विप्रदेव की ज़िद थी—"मैं इतना क्यों लूं? चौदह करोड़ मुद्रा ही तो चाहियें"। अन्त में यह सब सम्पत्ति उन्हे ही लेनी पड़ी। लोग इस विलक्षण विवाद से दङ्ग रह गये। चलते समय कौत्स ने महाराज को पुत्र-प्राप्ति का वर दिया। तदनुसार

यथा-समय रानी ने पुत्र जना, जिसक नाम अज रखा गया। क्रमशः कुमार युवावस्था को प्राप्त हुआ। इतने ही में विदर्भाधिपति भोज का स्वयंवर के लिये निमंत्रण आगया। राजा ने अज को विदर्भ भेज दिया।

मार्ग में रेवा-तट पर अज का पड़ाव पड़ा हुआ था। अकस्मात् नदी में से एक उन्मत्त हाथी निकल पड़ा। अज ने मारने को नहीं, भगाने को बाण छोड़ा। बाण का लगना था कि वह हाथी से गंधर्व बन गया, औरलगा कहने—"मतंग ऋषि के शाप से मैं हाथी हो गया था। अब आपके बाण के प्रभाव से यह दिव्य शरीर प्राप्त हुआ है। लीजिये यह प्रेमोपहार।" यह कहकर उसने अज को मंत्र-सहित संमोहनास्त्र दिया, जिसे लेकर कुमार विदर्भ को और वह प्रियंवद गंधर्व कुबेरपुर को चला गया। विदर्भ मे भोज ने अज का बहुत सम्मान किया। एक सुन्दर वितान में कुमार का डेरालगा। प्रातःकाल सूत्र-पुत्रों ने स्तुति द्वारा उसे जगाया, और नित्य कर्मों से निश्चिन्त होकर वह स्वयंवर के लिए रवाना हुआ।

सर्ग ६—

स्वयंवरागार में बहुत से नरेश मंचों पर बैठे थे। अज भी नियत मंच पर जा जमा। थोड़ी देर बाद भोज-भगिनी-इन्दुमती का प्रवेश हुआ। उसे देखकर राज-कुमारों के मन-मयूर नाचने लगे। इशारेबाजी होने लगी। इन्दुमती के साथ बेत लिये द्वारपालिका सुनन्दा थी। वह उसे क्रमशः मगधेश, अंगेश, अवन्तीश, अनूपेश, नीपेश, कलिंगेश, और नागपुरेश के पास ले गई। प्रत्येक के कुल और शौर्य का विशद वर्णन किया, किन्तु कुमारी पर कोई प्रभाव न पड़ा। तदनंतर कुमार अज की बारी आई। मन की चीज मिल गई। उसके कुल और शौर्य की

बखान हुई। कुमारी ने एक प्रेम भरी-दृष्टि डाली। किन्तु प्रेम को लज्जा ने दबा लिया। शरीर पुलकित हो गया। सुनन्दा ने एक मीठी चुटकी ली--"आगे चलिये।" कुमारी की आँखों में क्रोध की झलक आई। उसने धात्रि-करों से अज के कंठ में जयमाला डलवा दी। वर-पक्ष के आनन्द का क्या ठिकाना था। और नृप वर्ग!

सर्ग ७—

राजा भोज इन्दुमती और अज को लेकर महल में पहुँचे। जुगल जोड़ी को देखकर पुरांगनाऐं मुग्ध हो गईं। बखान होने लगीं, जिन्हे सुनता हुआ कुमार महलों में पहुँचा। यथाविधि अज और इन्दुमती का विवाह हुआ। तत्पश्चात् अज और अन्य राजाओं को भोज ने बिदा किया। वहां तो नरेशों की कुछ नहीं चली। मार्ग में सब के सब इन्दुमती को छीन लेने की नीयत से अज से भिड़ गये। वधू को विश्वासपात्र मंत्रियों की रक्षा में रख कर अज भी जा भिड़ा। प्रचण्ड युद्ध हुआ। इधर अकेला अज और उधर असंख्य राजा! कुमार अस्त्र-जाल में बिंध गया। अंतमें उसने गंधर्व प्रियंवद से प्राप्त संमोहनास्त्र छोड़ा, जिसके प्रभाव से सब विपक्षी सो गये। फिर क्या था। वीर विजेता ने विजय--शंख बजा दिया। लौटकर प्रिया को आश्वासन दिया। विजय-लक्ष्मी और प्रिया को लेकर घर आया। पिता ने अभिनंदन किया। कुटम्बभार पुत्र को सौंप दिया, और राजा के मन में मुक्ति-मार्ग की चाह हुई।

सर्ग ८—

अज राजा हुआ और रघु संन्यासी। बनगमनोद्यत पिता को अज ने अनुनय-विनय करके रोक लिया। नगर के बाहर एक आश्रम में रहकर महाराज रघु आत्म-शासन करने लगे और

अज लोक-शासन। दोनों ने अपने-अपने कार्य बड़ी सफलता से किये। कुछ काल पश्चात् महाराज रघु ने योग-द्वारा शरीर त्याग दिया। अज ने निरग्नि पिता की भी उदकादि क्रिया की। इधर अज का पुत्र जन्मा, जिसका नाम दशरथ हुआ।

एक दिन महाराज अज पत्नी के साथ उद्यान में विहार कर रहे थे। उसी समय देवर्षि नारद गोकर्ण-वासी महादेव को वीणा सुनाते आकाश-मार्ग से जा रहे थे। अकस्मात् वीणा पर लटकी हुई पुष्प-माला रानी के ऊपर आ गिरी। वह अचेत होकर गिर पड़ी, और साथ में राजा भी। राजा तो होश में आ गये, किंतु रानी सदा को बिदा हो गई। महाराज के ऊपर वज्र गिर पड़ा। रानी के शव को अंकस्थ करके महाराज विलाप करने लगे। जैसे तैसे लोगों ने शव को राजा की गोद से उठाया और दाहादिक क्रिया की। गुरु वसिष्ठ उस समय यज्ञ मे संलग्न थे। स्वयं न आ सके। दूत-द्वारा अज को बहुत कुछ समझाया, किंतु उस प्रेमी हृदय में घातक चोट पहुंच चुकी थी। महाराज फिर न पनपे; रोगने घेर लिये। अज, पुत्र को राज सौंपकर, अनशन व्रत द्वारा गंगासरयू के संगम पर शरीर को त्याग कर, सद्गति को प्राप्त हुए।

सर्ग ६—

महाराज दशरथ गद्दी पर बैठे। नरेशों पर ही नहीं, सुरेश पर भी अपनी धाक जमाली। दिग्विजय और यज्ञ साथ-साथ चलीं। राज्य को चमका दिया। उनकी तीन रानियां थीं—कौशल्या, कैकेयी, और सुमित्रा। प्रकृति रीझकर वसन्त-लक्ष्मी द्वारा सेवा करने आई। चारों ओर वसंत की छटा छागई। महाराज को आखेट की सूझी। अश्वारूढ़ होकर जंगल को चल दिये। हरिणों का झुण्ड मिला। वाण छोड़ना चाहा, किंतु

खिचा का खिचा ही रह गया। शिकारी को दया आ गई। प्रचंड वाराहों और महिषों पर खूब हाथ साफ किये। खड्ग कुंरगों के सींग और चमरों के बाल काटकर ही संतोष हो गया। व्याघ्रों और सिंहों का जी खोलकर बध किया। मयूरों पर दया ही रही। अब तो मंत्रियों को राज्य-भार सोंपकर राजा शिकार में ही मस्त रहने लगे। एक दिन तमसा-तट पर जा पहुंचे। वहाँ हाथी के भ्रम से एक तपस्वी के बालक की हत्या हो गई। बड़े ही व्यथित हुए। अधमरे बच्चे को उसके वृद्ध मा-बाप के पास ले गये। बालक मर गया। तपस्वी ने शाप दिया--"तुम भी पुत्र-शोक से ही मरोगे।" वृद्ध दम्पति ने राजा से चिता बनवाई, जिसमें वे तीनों जल मरे। इस भीषण काण्ड ने महाराज की धृति को बुरी तरह हिला दिया।

सर्ग १०--

महाराज दशरथ को लगभग दस हजार वर्ष राज करते बीत गये। पुत्राभाव बहुत अखरता था। ऋषि श्रृङ्गादि पुत्रेष्टि कराने लगे। उधर रावण के अत्याचारों से तंग आकर देवता क्षीर-सागर-शायी विष्णु भगवान की शरण में पहुँचे। प्रार्थना और रक्षा-निमित्त याचना की। भगवान ने कहा, "दश-रथ-पुत्र बनकर अत्याचारी दनुजों का वध करूंगा--निश्चिन्त रहो"। इधर महाराज दशरथ पुत्रेष्टि कर ही रहे थे। यज्ञाग्नि से एक पुरुष निकला और उनको हेम-पात्र में भरी हुई खीर दे गया। खीर रानियों में बँटी। फल-स्वरूप उन्होंने गर्भ-धारण किया। शुभ-सूचक स्वप्न दीखने लगे। कौशल्या के राम, कैकेयी के भरत, और सुमित्रा के लक्ष्मण-शत्रुघ्न यथा-समय हुए। जगत के मंगल और रावण के अमङ्गल का प्रारम्भ हो गया। क्रमशः कुमारों का शारीरिक और मानसिक विकास हुआ। प्रेम तो

चारों का चारों पर था, परन्तु साथ प्रायः राम-लक्ष्मण का और भरत-शत्रुघ्न का रहता था।

सर्ग ११—

मख-विघ्न-विनाश के लिये विश्वामित्र जी ने रामलक्ष्मण आ माँगे। पिता को भेजते ही बनी। मार्ग में मुनिवर ने कुमार-द्वय को बलातिबल मंत्र सिखा दिये। तपोवन में प्रविष्ट ही हुए कि एक दम ताड़का टूट पड़ी। भयंकर चीज़ थी! किन्तु राम ने मार गिराई। मुनि से दैत्य-घातक शस्त्र समंत्र प्राप्त हुए, जिनसे कुमारों ने मारीच और सुबाहु जैसे प्रचण्ड दैत्यों का वध किया। यज्ञ समाप्त होने पर मुनि ने कुमारों का अभिनंदन किया। उधर जनक का यज्ञ-निमंत्रण आ गया। मुनि कौशिक राम-लक्ष्मण को संग लिये मिथिला को चल दिये। मार्ग में अहल्या का उद्धार करते हुए जनकपुर पहुंचे। वहाँ रामचन्द्र जी ने सीता-शुल्क-रूप शिव-धनुष को तोड़ा। राजा दशरथ बुलाये गये। सीता राम को, उसकी छोटी बहिन उर्मिला लक्ष्मण को, और कुशध्वज की दो पुत्रियाँ क्रमशः भरत-शत्रुघ्न को व्याही गईं। पुत्र और पुत्र-वधुओं समेत महाराज दशरथ विदा हुए। मार्ग में वीरवर परशुराम शिव-धनुष-भंजन से क्रुद्ध होकर राम पर आ धमके। महाराज घबड़ाये, किन्तु राम अविचल रहे। बहुत डाट फटकार के बाद परीक्षार्थ उनको अपना धनुष चढ़ाने को दिया। राम ने तुरन्त चढ़ा दिया। परशुराम जी को राम के ईश्वरत्व का कायल होना पड़ा। राम का चढ़ा हुआ बाण खाली तो जा ही नहीं सकता था। क्या करते? ब्राह्मण को तो मार नहीं सकते थे। मुनि की इच्छानुसार उनके तप-प्राप्त लोकों का भंजन कर दिया गया। अन्त में आशीर्वाद देकर मुनिवर चल दिये। महाराज के जी में जी आया और अपने घर आये।

सर्ग १२—

वृद्ध महाराज रामाभिषेक की तैयारी कर रहे थे। कैकेयी ने रंग में भंग कर दिया। दो वर माँगे—राम को १४ वर्ष का बनवास, और अपने पुत्र भरत को राजगद्दी। राम सीता-लक्ष्मण-सहित बन को गये, और महाराज स्वर्ग को। भरत ननसाल से बुलाये गये। घर आकर वे भी राम के पास बन में पहुँचे, किन्तु राम न लौटे। उनकी खड़ाऊँ लाकर सिंहासन पर रखदीं, और आप नन्दिग्राम में रह कर आत्म—शासन और लोक-शासन साथ-साथ करने लगे। उधर बन में एक दिन जयंत सीता को नख-क्षत कर गया। राम ने उसके प्राण न लेकर एक आँख ही ली। राम पंचवटी जा बसे। मार्ग में अनुसूया से सीता को एक अंगराग मिला और विराध-वध हुआ। पंचवटी में लक्ष्मण ने शूर्पणखां के नाक-कान काटे। उसके हिमायती खर, दूषण और त्रिशिरा भारी सेना लेकर राम पर चढ़ आये। अकेले राम ने सब मार गिराये। फिर शूर्पणखां अपने दूसरे भाई रावण पर जा पुकारी। वह बदला लेने निकला। मारीच से छल कराके सीता को हर ले गया। उसे खोजते हुए राम-लक्ष्मण को घायल जटायु मिला। सीता-हरण का हाल कह कर जटायु मर गया। राम ने उसकी दाहादि क्रिया की। तत्पश्चात् राम ने बालि-वध किया और उसका पद सुग्रीव को दिया, जिसके आदेश से पवन-सुत लंका से सीता का समाचार लाये। राम ने तुरन्त लंका पर धावा बोल दिया। सिंधु-तट पर विभीषण से भेंट हुई और वह लंकेश बना दिया। स्वरचित सेतु से समुद्र पार करके राम-सेना ने लंका घेर ली। प्रचण्ड युद्ध हुआ। मेघनाद ने लक्ष्मण की छाती में सांग घाल दी। मारुती की लाई हुई औषधि से उनका दुःख दूर हुआ। उन्होंने मेघनाद को मार

डाला। राम ने पहिले कुम्भकर्ण का वध किया। फिर रावण से रार छिड़ी। भगवान् के लिये इन्द्र ने अपना रथ और कवच भेजा। भयंकर युद्ध हुआ। अन्त में राम ने रावण को मार डाला। मातलि सुरेश के रथ को लेकर स्वर्ग गया, और रामचन्द्र, सीता, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीवादि सहित पुष्पक-द्वारा अयोध्या आये।

सर्ग १३—

पुष्पकासीन राम प्रिया को मार्ग के अनेक दृश्य दिखाते गये। समुद्र, जनस्थान, माल्यवान पर्वत, पम्पासर, पंचवटी, अगस्त्याश्रम, पंचाप्सरताल, शरभंगाश्रम, चित्रकूट, अत्रि-तपोवन, गंगा-यमुना-संगमादि दृश्य क्रमशः दृष्टि-पथ में आते गये, और राम उनके सुन्दर वर्णनों से प्रिया का मनोरंजन करते गये। निदान सरयू पर दृष्टि पड़ी, और स्वागत-निमित्त भरत आते दीखे। पीछे सेना थी, आगे गुरु थे; आप वल्कल-वस्त्र पहिने हुए थे। पुष्पक पृथ्वी पर उतरा। सब की सब से गाढ़ी भेंट हुई। अयोध्या के एक उपवन मे राम ठहराये गये।

सर्ग १४—

राम को वैधव्य-वश माताओं की दयनीय दशा मिली। उपवन में ही इनका अभिषेक हुआ, और वहीं राजवेष धारण किया। शानदार जुलूस निकला। अयोध्या की निराली शोभा थी। महलों में प्रवेश हुआ। पिता के महल में आँसू न रुके। माता कैकयी का समाधान किया। एक पक्ष बाद विभीषण सुग्रीवादि को, और अभिनन्दार्थ आये हुए मुनीश्वरों को सादर विदा किया। पुष्पक भी कुबेर के पास भेज दिया। निश्चिन्त होकर राम राज करने लगे।

एक दिन रंग-महल में सीता-राम विहार कर रहे थे। प्रिया के शरीर पर गर्भ-लक्षण दिखाई दिये। रुचि पूछी।

गंगा-तटाश्रमों में फिर रमण करने की चाह पाई गई। इतने में ही गुप्तचर ने सीतापवाद की चर्चा राम के कान में कह दी। हृदय विदीर्ण होगया, और मस्तिष्क द्विविधा-मग्न। अन्त में लक्ष्मण के लिये सीता को वाल्मीक्याश्रम में छोड़ आने का आदेश होगया। वे उसे रथ में ले गये। गंगा पार की। रेती में सीता उतार ली और भैय्या का वज्रादेश सुना दिया। अबला बेहोश होकर गिर पड़ी। कुछ देर बाद होश आया। लक्ष्मण की भ्रातृ-भक्ति की प्रशंसा की, और पति तथा सासों के लिये एक मार्मिक सन्देश दिया। लक्ष्मण वज्र का हृदय बनाकर लौट गये। बेचारी सीता बन में ढाढ़ मार कर रोती फिरी। समिधा बीनते हुए ऋषि बाल्मीकि के कानों में उसका करुण-क्रन्दन पड़ गया। खोजते-खोजते ऋषिवर घटना-स्थल पर आगये, और बहुत कुछ सान्त्वना देकर सीता को अपने आश्रम में लिवा गये। वहाँ वह तपस्विनियो में तपस्विनी की भाँति रहने लगी। उधर लक्ष्मण ने राम को सीता-सन्देश सुना दिया, किन्तु वे हृदय के संताप को दबाकर यथावत् राज करते रहे। यज्ञ मे सीता की प्रतिमा ही अपनी सहचरी बनाई। इस वृत्तान्त ने सती को कुछ सान्त्वना दी।

सर्ग १५—

यमुना-तट-वासी मुनियों ने भगवान् को लवणासुर के क्रूर कर्मों की कहानी सुनाई, और रक्षा की याचना की। उन्होंने उसके बध के लिये सेना-सहित शत्रुघ्न भेजे। वे मार्ग में एक रात ऋषि वाल्मीकि के आश्रम में रहे। उसी रात को सीता ने दो पुत्र जने। प्रातःकाल चल दिये। मधूपघ्न मे लवणासुर से भीषण युद्ध हुआ। अन्त मे उसे मार कर ऋषियों को निर्भय किया। कालिन्दी-कूल पर शत्रुघ्न ने मथुरापुरी बसाई। इधर ऋषि वाल्मीकि ने सीता-पुत्रों की यथावत् संस्कृति तथा शिक्षा-दीक्षा

की आयोजना की और रामायण-गायन सिखाया। उनके नाम क्रमशः कुश-लव रखे गये। अपने पुत्र बहुश्रुत को मथुरा का, और सुबाहु को विदिशा का राज्य देकर, शत्रुघ्न अयोध्या आ गये। इसी बीच में अपने मृत पुत्र को पौढ़ियों पर पटक कर एक ब्राह्मण आ रोया, और इस असामयिक मृत्यु का दोष राजा के शिर मढ़ने लगा। भगवान ने भी अपने को ही दोषी माना। आकाश-वाणी हुई—"कहीं पाप हो रहा है।" श्रीराम उसकी टोह में पुष्पक पर बैठकर निकल पड़े। चलते-चलते शंबुक-नामक एक शूद्र को अनधिकार तप करते देखा, और तत्काल उसका वध करके सद्गति दी। कुम्भज ऋषि से भेंट हुई। उन्होंने एक आभूषण का प्रेमोपहार दिया। घर लौटने पर ब्राह्मण-पुत्र जीवित मिला। आकर अश्वमेघ यज्ञ किया, जिसमें सीता की स्वर्ण-प्रतिमा उनकी सहचरी बनी। उसी समय रामायण-गायन करते-करते कुश-लव उधर आ निकले। उनके राम-सदृश रूप और मधुर गान से सब लोग बहुत प्रभावित हुए, किन्तु राम की निस्पृहता से सब दंग थे। एकदिन राम वाल्मीक्याश्रम आये। ऋषि ने सीता-स्वीकृति की याचना की। उत्तर मिला—"भगवन्! सीता स्वचरित्र मे प्रजा का विश्वास जमा दे; मैं स्वीकृत कर लूंगा।" तदनुसार दूसरे दिन सब पुरवासी एकत्रित किये गये।। पुत्रों सहित जानकी को लेकर ऋषि जी आये और बोले—"बेटी! पतिदेव के सामने अपने चरित्र की पवित्रता का परिचय दो, और प्रजा का संशय मिटाओ।" तदनुसार आचमन करके भरी सभा में आकर मैथिली बोली—"माता मही! यदि मुझ से पति के प्रति मन-वचन-कर्म से कोई पातक नहीं बना, तो मुझे अपने में लीन करले।" तत्काल सिंहासनस्थ देवी वसुन्धरा भूतल को चीर कर निकली, और सीता को सिंहासन पर बिठा कर भूतल में ही

समा गई। रामचंद्र बड़बड़ाते ही रह गये। उनके क्रोध को गुरु जी ने दबा दिया।

यज्ञ समाप्त हुआ, रामचन्द्र ने कुश-लव को अपनाया। भरत को सिंधु देश मिला। वहां वे अपने पुत्र तक्ष को तक्ष-शिला का और पुष्कल को पुष्कलावती का राज देकर श्री राम के पास अयोध्या आ गये। एक दिन मुनि-वेष काल ने रामचंद्र से कहा—"अब वैकुण्ठ को पधारिये। इस समय हम-आपको जो देखे उसको अवश्य त्याग दीजिये।" पौढ़ियो पर लक्ष्मण थे। होनहार की बात, उसी समय ऋषि दुर्वासा राम-दर्शन के लिये आ गये। शापभीत लक्ष्मण को राम-यम-संवाद के बीच में ही मुन्यागमन की सूचना के लिये जाना पड़ा। शर्त तो उन्हें मालूम ही थी। सरयू-तट पर जाकर योग-द्वारा शरीर त्याग दिया, और बड़े भाई के प्रण को निबाहा। कुश को कुशावती का, और लव को शरावती का राजा बनाकर भगवान् सारे साकेत-निवासियों-सहित सरयू-तट पर आये। विमान लेने आया। भगवान् ने सब देव-कार्य्य करके, तथा उत्तर और दक्षिण के पहाड़ों पर क्रमशः लंकेश और मारुती को जमा कर, लीला-संवरण किया। सरयू अपने सब अनुगामियों के लिये स्वर्ग की नसेनी बना दी।

सर्ग १६—

आठ भाइयों में कुश को प्रधान्य प्राप्त हुआ। आधीरात थी। महाराज जगे तो क्या देखते हैं कि एक स्त्री प्रणाम करती हुई सामने खड़ी है। पर-नारि-विमुख कुश ने भेद पूछा। उत्तर मिला—"राजन्! मैं अयोध्यापुरी की अधिदेवता हूं। आपके पिता के बाद अनाथ हो गई हूँ। समृद्ध अयोध्या आपके होते आज बरबाद हो रही है। कृपया अपनी पुरानी कुल-राज-

धानी में पधारिये।" महाराज कुश ने आज्ञा शिरोधार्य की। कुशावती का राज श्रोत्रियों को देकर दलबल-समेत अयोध्या आगये। नगरी की काया-पलट हो गई। अलकापुरी भी नीचा देखने लगी। गरमी के दिन थे। महाराज के मन में जल-क्रीड़ा की इच्छा हुई। सरयू से नक्र निकाले और तट पर वितान ताने गये। रमणियों सहित महाराज ने खूब जल-केलि की। तट पर आये तो देखा भुजा पर वह जैत्राभूषण ही नहीं था जो श्री राम को अगस्त्यमुनि से प्राप्त हुआ था। जालिकों ने बहुत खोज की किन्तु सब व्यर्थ। हारकर कहा—"राजन्! कुमुद नाग आपके भूषण को पाताल ले गया है।" क्रुद्ध कुश ने तुरन्त गरुडास्त्र खींच लिया। कुमुद तत्काल अपनी कन्या कुमुद्वती को लेकर जल से निकला। अनुनय-विनय पश्चात् महाराज को उनका भूषण सौंप दिया, और साथ ही अपनी कन्या कुमुद्वती भी उनको ब्याह दी।

सर्ग १७—

कुश-कुमुद्वती को अतिथि-नामक पुत्र प्राप्त हुआ। महाराज कुश इन्द्र के साथ दुर्जय दैत्य से लड़ते खेत रहे। कुमुद्वती सती हो गई। अतिथि का ठाठबाट से अभिषेक हुआ। सम्पूर्ण साज-शृङ्गार के बाद वह सिंहासन पर विराजमान हुआ। राज्य चमक उठा। उसका प्रताप वेलान्त तक फैल गया। यह बड़ा ही नीतिज्ञ, अग्रशोची, और कार्य-कुशल था। बड़ी सफलता से राज्य किया। साम्राज्य में समृद्धि और शान्ति का अखंड राज्य था।

सर्ग १८—

इसमें २० रघुकुल नरेशों की क्रमिक परंपरा दिखाई है। प्रत्येक का संक्षिप्त वर्णन भी है। सुदर्शन का सब से अधिक है। प्रायः प्रत्येक राजा यथावत् शासन करके बुढ़ापे में पुत्र

को राज सोंपकर मुक्ति-मार्ग में प्रवृत्त हुआ है। क्रम इस प्रकार है—(१) अतिथि पुत्र निषध (२) नल (३) नभ (४) पुंडरीक (५) क्षेमधन्वा (६) देवानीक (७) अहीनगु (८) पारियात्र (९) शिल (१०) उन्नाभ (११) वज्रणाभ (१२) शंखण (१३) व्युषिताश्व (१४) विश्वसह (१५) हिरण्यनाभ, (१६) कौसल्य (१७) ब्रह्मिष्ठ, (१८) पुष्य (१९) ध्रुवसंधि (२०) सुदर्शन। प्रायः प्रत्येक नाम के आधार पर कवि ने निरुक्ति अलंकार की छटा दिखाई है।

सर्ग १९—

सुदर्शन अपने बेटा अग्निवर्ण को राज्य देकर तप में मग्न हो गया। अग्निवर्ण ने कुछ दिनों तक स्वयं राज-कार्य किया, किन्तु बाद को सब भार मंत्रियों को सोंपकर बुरी तरह विलास की कीच में फँस गया। पक्का स्त्रैण होगया। नृत्य-गान, मधु-पान, रमणी-रमण ही में इसके दिन व्यतीत होते थे। महलों से बाहर निकलता ही न था। ये लतें फिर इससे छूटी ही नहीं। कोई सन्तान भी न हुई। कुल की पहिली धाक जमी हुई थी। इसलिए इस पर विपत्तियों की चढ़ाई तो नहीं हुई, बीमारियों की हुई, और बुरी तरह हुई। शरीर जर्जर हो गया, और राजयक्ष्मा के शिकार बन गये। प्रजा में अराजकता न फैल जाय, अतः मंत्री रोग-शान्ति की झूठी विज्ञप्ति करते रहे। अन्त में अग्निवर्ण काल-कवलित हो गया। चुपचाप महल के बगीचे में ही विधिवत् दाहादि क्रियाएँ कर दी गईं। सर्व-सम्मति से उसकी गर्भवती रानी सिंहासन पर बैठाई गईं। वह मंत्रियों की सहायता से यथावत् राज करने लगी, और प्रजा उसके पुत्र के जन्म की उत्सुकता से बाट देखती रही।

वस्तु-विन्यास का महत्व ।

आइये यहाँ पर यह देखें कि हमारे कवि ने कथानक की इस सामग्री या घटनावली का बिना किसी क्रम और नियम के संग्रहमात्र कर दिया है या उसको नियमानुसार और कलानुसार क्रमबद्ध करके अपनी वस्तु-विन्यास-पटुता का परिचय भी दिया है। संगमर्मर और संगमूसा जैसे सुन्दर और कीमती पत्थरों का भी अव्यस्थित रूप से ढेर लगा दिया जाय तो कोई मनोहर वस्तु न तैयार होगी, जबकि साधारण खंगड़ ही यदि क्रम और नियम से यथा-स्थान चुन दिये जावें तो सुन्दर प्रासाद बन सकता है। इसी प्रकार अच्छी से अच्छी घटनावली भी उस अनाड़ी कवि के हाथों में जाकर फीकी पड़ जाती है, जो उसका कलात्मक विन्यास नहीं कर सकता। अतः काव्यकला मे वस्तु-विन्यास का बहुत ही महत्व-पूर्ण स्थान है।

उन्नीस सर्गो की पुस्तक, और उसमें ३७ नरेशों का उल्लेख ! केवल यही जानकर क्या कोई भी सुन्दर वस्तु-विन्यास की आशा कर सकता है ? इस सूचना के आधार पर तो रघुवंश के लिये शायद पहिली स्वाभाविक भावना यही हो सकती है कि पुस्तक भिन्न-भिन्न राजाओं के वर्णनों की एक लम्बी लड़ी होगी। अमुक गया, अमुक आया; अमुक ने यह किया; अमुक ने वह—यही रागिनी आदि से अन्त तक चली होगी, और थोड़ी देर बाद कानो को उपराम हो जाता होगा। यह विचार स्वाभाविक ही है, क्योंकि सामग्री ही इस ढंग की है। परन्तु पाठक-प्रवर ! इस शुभ संदेश को सुनकर आप अवश्य प्रसन्न होंगे और चकित भी कि हमारे कवि ने

है—"रचित-रचना-द्वार से कुल में करूं संचार।" ये रचित-रचनाऐं-वाल्मीकि रामायण, विष्णु-पुराण और पद्‌म-पुराण मालूम होती हैं, क्योंकि रघुवंश का कथानक प्रायः इन्हीं से लिया गया है। इन रचनाओं ने कवि के सामने वस्तु-विन्यास की दो पद्धतियाँ रक्खीं—पुराणों की विस्तृत वंशावली-वर्णन-पद्धति, और रामायण की एक-नेता-प्रधान काव्यात्मक पद्धति। कवि इनमें से किसी एक का अन्धानुकरण नहीं करता। वह दोनों के सम्मिश्रण और अपनी मौलिक प्रतिभा के योग से एक बिलकुल नवीन स्वतन्त्र पद्धति बना लेता है, और उसी के आधार पर घटना-संकलन करता है।

वह प्रारंभ में रघु-कुल नरेशों के लोकोत्तर आदर्श पाठकों के सामने रखता है, और इन आदर्शों से युक्त रघुकुल की ही गाथा कहने का प्रारंभ में विचार करता है। "रघूणामन्वयं वक्ष्ये" में "अन्वय" शब्द पर ध्यान दीजिये। वह न तो पुराणों की लम्बी वंशावली को ही अपना लक्ष्य बनाता है, और न रामायण के से एक नेता से ही सन्तुष्ट रहना चाहता है। उसका अभिप्राय है एक लोकोत्तर राज-परंपरा की झलक दिखाना। उच्च आदर्शों और भव्य भावों की प्रतिष्ठा वह एक व्यक्ति या चार-छै व्यक्तियों में करके संतुष्ट नहीं होता। आदर्श का सरोवर नहीं, उसकी अविरल बहती हुई धारा देखना और दिखाना चाहता है। आदर्श का अधिष्ठान व्यष्टि में नहीं समष्टि में चाहता है। बहुत बड़ी रुचि है। जातीय जीवन का क्षणिक नहीं, स्थायी स्वप्न है। रघुवंश की यह स्वच्छ आदर्श-धारा उसके प्रथम नरेश वैवस्वत मनु-रूपी स्रोत से निकलकर असंख्य शताब्दियों तक अविरल वेग से बहती रहती है। इसकी स्वच्छता बढ़ती ही जाती है। "विमल तत्कुल में विमलतर हुआ

नृप–राकेश, अर्णवाविष्कृत-सुधाकर-सम दिलीप नरेश।" यहाँ से कवि पूर्व-निर्धारित नरेशादर्शों के भिन्न-भिन्न प्रतीक, भिन्न-भिन्न नमूने उपस्थित करता है। दिलीपादि सात प्रतीकों में उन रघुवंशियों का वृत्त आगया, और वे सब गुण समा गये जिनके लिये कवि कहता है—"तद्गुणों को सुन चपल कुछ हो गया है चित्त।" अब जैसे सात वैसे सात सौ। आदर्श-प्रतिष्ठा हो गई। प्रतीक अच्छे और सच्चे दिखा दिये। परवर्ती नरेशों में भी यदि वही पूर्वोक्त तथ्य और वही पूर्वोक्त गुण मिलते हैं तो फिर चर्वित-चर्वण से क्या लाभ? इसी बात को ध्यान में रख के १८ वें सर्ग में कवि ने अपनी प्रतिभा की गाड़ी एक दम तेज़ कर दी और एक ही सर्ग में २० नरेशों से छुट्टी पाली। पाठक कहेंगे—"इस गणना से क्या मतलब? जो कहना था कह चुके; गुण और आदर्श प्रथम सात प्रतीकों में खप गये। फिर यह नाम गिनाने रस्म क्यों?" इस प्रश्न के उत्तर का कुछ आभास दिया जा चुका है। जैसा कि 'रघुवंश' नाम से प्रकट होता है, कालिदास की अन्तर्दृष्टि मे रघुकुल के सात नरेश उस महान राज-परंपरा के उदाहरण मात्र थे; उस बहती हुई आदर्श-गंगा के सात तीर्थ-मात्र थे, जो युगों तक भारत-भूमि में बहती रही। वंश की स्वच्छ धारा शताब्दियों तक बहती रही—इस भाव को मस्तिष्क में पूर्णतः अङ्कित करने के लिये कवि ने अतिथि-परवर्तिनी एक लम्बी राज-परंपरा के पाठकों को प्रत्यक्ष दर्शन कराये हैं। अतिथि के उपरान्त २० नरेशों ने अपने पूर्वजों के अनुकरणीय आदर्शों का अनुकरण किया—इस कथन मात्र से वंश-परंपरा की इतनी गहरी संवेदना नहीं हो सकती थी जितनी उसके साक्षात्कार से। वंश-सातत्य के इसी मनोवैज्ञा-

निक प्रभाव को मस्तिष्क पर डालने के लिए कवि ने अतिथि-परवर्ती २० नरेशों की माला गुथी है, और सुदर्शन को इस माला का सुमेरु बनाया है।

कवि अन्धा आदर्शवादी नहीं है। वास्तविकता पर भी उसकी अचूक दृष्टि पड़ती है। अच्छाई की विज्ञप्ति वह अवश्य करता है, किन्तु बुराई को भी छिपाना नहीं चाहता। अतिथि के बाद द्रुतगति से दौड़ता हुआ वह अग्निवर्ण पर आकर दम लेता है। वह उसकी विषय-लिप्सा का नग्न चित्र खींच कर, उसकी अन्तिम दयनीय दशा और राजयक्ष्मा-जनित कुत्सित मृत्यु को सामने रखकर ही रघुवंश के संदेश को पूर्ण मानता है। वास्तविकता का यही तकाजा था। समकालीन नरेशों के सामने उनके पतन का नग्न चित्र रखनेके लिये इसी यथार्थवाद की आवश्यकता थी। गर्भवती रानी के गद्दी पर बैठने और तत्पुत्र की उत्सुक प्रतीक्षा करने में भारी सार्थकता और वास्तविकता भरी हुई है। वीर रघुकुल-नरेशों के वंशज विलास की कीच में फँस कर पतित होते जाते हैं। प्रजा की आशा लगी है कि माता मही किसी दिलीप, रघु या राम को फिर भेजे। वंश-परंपरा चालू है।

अतः सामग्री-संकलन में कलाकार ने कला का भूरि-भूरि परिचय दिया है। उसने रघुकुल के अपार रत्नाकर का दीर्घत्व भी दिखा दिया, और उसके कुछ अमूल्य रत्नों की बानगी दिखाकर उसका अमूल्यत्व भी। संकलन में व्यष्टि की ओर भी ध्यान दिया गया है, और समष्टि की ओर भी; आदर्शवाद की ओर भी दृष्टि डाली गई है, और यथार्थवाद की ओर भी। वास्तव में बड़ी अच्छी छाँट हुई है।

संयोजन

सामग्री के संकलन के बाद उसके संयोजन का प्रश्न आता है। राइडर महाशय कवि की इस क्रिया से भी असन्तुष्ट हैं। उनकी राय में वस्तु में सुसंबद्ध ऐक्य नहीं है, वह बिखरी हुई है। सात नेता हैं, जिनमें हर एक को अपने उत्तराधिकारी के लिये स्थान रिक्त करने को मरना पड़ता है। महाशय ऐस. सी. दे. उनका समाधान यह कहके करते हैं कि कालिदास को अपने तीन आश्रय-दाताओं, अर्थात् गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त, और स्कन्दगुप्त की प्रशंसा करनी थी। इसीलिये उन्हे एक नेता न रखकर अनेक नेता नियत करने पड़े, और इसीलिये रामचरित न लिखकर रघुवंश लिखना पड़ा। हमको इस समाधान से संतोष नहीं होता। रघुवंश की तह में हमें जो रहस्य मिला उसका कुछ आभास हम दे चुके हैं। रघुवंश में उपर्युक्त सम्राटों की ओर यत्र तत्र सम्मान-पूर्ण संकेत हो सकते हैं, किन्तु समस्त ग्रंथ का उद्देश्य बहुत व्यापक और विशद है। उसमें कोरी प्रशस्ति नहीं, चेतावनी भी है। उसका संदेश व्यक्तिगत नहीं, जातिगत है। दो तीन राजाओं के उत्कर्ष में कालिदास को सच्चा और स्थायी जातीय उत्कर्ष नहीं दीखता, और न उनकी प्रशस्ति में रघुवंश-जैसा व्यापक काव्य ही लिखा गया मालूम होता है। कालिदास की यह पुकार—"सन्त सदसद्भाव-दर्शी दें इधर को ध्यान। स्वर्ण शुद्धाशुद्ध की है अग्नि ही पहिचान"—कुछ मानी रखती है। शायद वे जानते थे कि रघुवंश के स्वरूप और संदेश को समझना आसान बात नहीं है, और उसके मर्म को बिना समझे, केवल उसके बाह्य रूप पर दृष्टि-पात करके, लोग उनके कला-कौशल पर संदेह करेंगे। कोई रघुवंश की वस्तु को

शिथिल तथा असंबद्ध बतावेगा, और कोई तथोक्त नेता कुश, ध्रुवसंधि, या अग्निवर्ण की मृत्यु और इसकी प्रातिभासिक दुःखान्तता के आधार पर रचयिता को भारतीय काव्यशास्त्र का विरोधी ठहरावेगा। इसीलिये उन्हें कहना पड़ा—"स्वर्ण शुद्धाशुद्ध की है अग्नि ही पहिचान।"

इसकी वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए सर्व-प्रथम हमे यह निश्चय करना है कि महाकाव्य रघुवंश का नेता कौन है। फिर सब शंकाओं का स्वतः निवारण हो जायगा। कवि के निश्चित मत के अनुसार रघुवंश का नेता रघुवंश ही है, जिससे उसका अभिप्राय सूर्य-कुल से है। "कहाँ राजा दिलीप, कहाँ मेरी तुच्छ मति! या कहाँ भगवान् रामचन्द्र, कहाँ मेरी तुच्छ मति!"—यह न कह कर वह कहता है—"कहाँ रवि-कुल, कहाँ मति अति तुच्छ!" महाकाव्यकार किसी नेता को सामने रख कर ही महाकाव्य लिखता है। उसको वह विशेष आदर्शों का अधिष्ठान बनाकर परिस्थिति के घात—प्रतिघात मे डाल देता है। अन्य पात्र उसकी आदर्श-पूर्ति में साधक या बाधक होते जाते हैं। रघुवंशकार ने भी अपना नेता निश्चित कर लिया है, और वह है स्वयं रघुवंश। उसकी दृष्टि एक परम्परा—विशेष पर है, न कि व्यक्ति-विशेष पर, और उस परम्परा को ही उसने नेतृत्व दिया है। समालोचक शायद इसको हमारी एक विलक्षण कल्पना कहें। परन्तु इसमें हमें कोई विलक्षणता नहीं मालूम होती। परम्पराओं और प्रवृत्तियों का मानवीकरण, नायकीकरण या पात्रीकरण काव्य-जगत की चिर-प्रचलित बातें हैं। कृष्ण मिश्र के प्रबोध चन्द्रोदय में, मिल्टन के पैरेडाइज़ लौस्ट और कोमस में, भारतेन्दु भी भारत-दुर्दशादि में यही बातें तो हैं। तो फिर रघुकुल के नायकत्व मे

ही क्यों आपत्ति होनी चाहिये ? इसमे केवल समष्टि को व्यक्ति का रूप दे दिया गया है, और कोई विलक्षण बात नहीं। क्या कोई काव्य ऐसा नहीं लिखा जा सकता जिसमें भारत नेता, और महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू आदि भिन्न भिन्न पात्र बना दिये जावें ; या इङ्गलैंड नेता और लाइड जौर्ज, मैकडौनल्ड, होर आदि उसके पात्र नियत कर दिये जावे ? जब ऐसे काव्य लिखे जा सकते तथा लिखे गये हैं, और उनमे व्यक्ति के वजाय देश या कुल को नेता बनाया गया है, तो इस इस बात के मानने में क्यो आपत्ति होनी चाहिये कि रघुवंश का नेता रघु-वंश ही है, और दिलीप, रघु, अजादि उसके पात्र हैं, और क्यो यह क्लिष्ट और विलक्षण कल्पना ही माननी चाहिये ? कवि ने वास्तव में रघुवंश को ही नेता मान कर रघुवंश का सूत्र-पात किया है। अन्य वर्णित नरेश उसके पात्र-मात्र हैं। दुर्जय दैत्य से लड़ता हुआ कुश खेत रहता है ; ध्रुव-संधि सिंह का शिकार बनता है ; अग्निवर्ण राजयक्ष्मा से मरता है। इनको रघुवंश के नेताओं की मृत्यु कह कर रघुवंशकार को काव्य-शास्त्र-विरुद्ध कहना रघुवंश के स्वरूप की भारी अनभि-ज्ञता प्रकट करना है। कुश, ध्रुवसंधि या अग्निवर्ण का अस्तित्व मिट जाता है, किन्तु नेता रघुकुल ज्यो का त्यो बना है। अग्निवर्ण पर बीमारियाँ टूट पड़ीं, वह मर गया, परन्तु नेता रघुकुल का प्रताप अब भी इतना है कि उस स्त्रैण और क्षीण नरेश पर भी शत्रुओ की आक्रमण करने की हिम्मत नहीं होती। फिर कहाँ रही रघुवंश की दुःखान्तता, जब नेता का प्रताप अन्त तक इतना पुज रहा है ?

राइडर महाशय की राय मे हिन्दू संसार में सबसे अच्छी कहानी कहने वाले हैं। परन्तु रघुवंश की वस्तु मे असम्बद्धता

बता कर आपने हिन्दुओं की कहानी समझने में कुछ शिथि-लता प्रकट कर दी है। रघुवंश एक सुसंबद्ध सुसंयुक्त महाकाव्य है, जिसका एक नेता है। वह एक ही कहानी है, जो एक मुख्य तथ्य की संवेदना देती है। यो तो प्रत्येक प्रबन्ध-काव्य की प्रासंगिक वस्तु छोटी छोटी स्वतंत्र कहानियों का रूप ले सकती हैं। रामायण, महाभारत, ईलयड, ओडीसी प्रभृति महाकाव्यो से न जाने कितनी कहानियाँ निकल पड़ी हैं। देखने की बात यह है कि प्रासंगिक वस्तु के रूप में आद्यन्त-पर्यन्त फैली हुई इन कहानियों का अधिकारिक वस्तु से अंगांगी सम्बन्ध है या नहीं; कलाकार ने वस्तु-सूत्र में इनका संयोजन किया है या नहीं ; सम्बन्ध-निर्वाह यथावत् हुआ है या नहीं।

रघुवंश के सत्रह सर्गों में सात राजाओं के वृत्त हैं। ये कथा-सूत्र मे एक दूसरे से इतने सटे हुये हैं कि सूत्र को बिना काटे एक को दूसरे से अलग ही नही किया सकता। या तो पहले वृत्त में पिछला समाया हुआ है या पिछले में पहिला। किसी भी एक की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। रघुवंश के नेता रघुवंश की ही ये भिन्न-भिन्न विभूतियाँ या अवस्थाएँ हैं। जैसे वाल्मीकि का नेता राम कभी भवन में दीखता है कभी बन मे; कभी स्वयंवर में कभी समर में; कभी दयालु कभी प्रचंड, उसी प्रकार कालि-दास का नेता रविकुल कभी एक गौ के लिये प्राणाहुति करता दीखता है, और कभी दिग्विजय करता; कभी क्रीड़ा करता और कभी रार रचता; कभी भोगी और कभी योगी।

वस्तु-विकास की पाँच अवस्थाऐं—

वस्तु विकास की ये पाँच अवस्थाऐं होती हैं—प्रारम्भ, विकास, चरम सीमा, निगति, और अन्त। रघुकुल को नेता मानते हुए, रघुवंश मे इन अवस्थाओं का निर्धारण कीजिये।

रवि-कुल अपनी लोकोत्तर रीति पर आरूढ़ होकर दृढ़ता-पूर्वक आगे बढ़ता जा रहा है—वस्तु का आरम्भ होगया। दिलीप पर आकर पुत्राभाव की रुकावट से उसका रथ रुकना चाहता है। गुरु वसिष्ठ अपने तपोबल से इस रोड़े को हटा देते हैं—वस्तु-विकास का मार्ग खुल गया। रघुकुल का रथ अप्रतिहत गति से आगे बढ़ता है। वह रघु के रूप में दिग्विजय करता है; मदोन्मत्तों की सम्पत्ति को छीन कर विश्वजित् यज्ञ में निर्धनों को दे देता है, और अपने पास उसका कण भी नहीं रखता। निपट निर्धनता में कौत्स द्वारा उसके परोपकार की परीक्षा होती है—और वह उसमे पूर्णतः उत्तीर्ण होता है। वस्तु का लगातार विकास हो रहा है। विदर्भ नगर में भारतवर्ष के समस्त नरेशों पर अज के द्वारा उसके सौन्दर्य और शौर्य का सिक्का जम जाता है।

वीर काव्यों में काव्यकार प्रेम का पुट दे ही देते हैं। हमारा नेता रघुकुल भी अज के रूप मे प्रणयी और दशरथ के रूप में आखेटी दीखता है। इस प्रकार शौर्य और सौन्दर्य, विजय और विनय, योग और भोग, दान और मान, निग्रह और अनुग्रह का सम्मिश्रण होगया। नेता में नेतृत्व की पूर्ण प्रतिष्ठा होगई। भगवान् भी उसकी सम्पूर्णता पर रीझ गये, और राम के रूप में उसे प्राप्त होगये। वस्तु चरम सीमा पर पहुँच गई।

रविकुल की शक्ति राम-पुत्र कुश-लव, भरत-पुत्र तक्ष-पुष्कल, लक्ष्मण-पुत्र चन्द्रकेतु-अंगद और शत्रुघ्न-पुत्र बहुश्रुत-सुबाहु के मिस आठ भागों में विभक्त होगई, यद्यपि कुश के रूप में उसका स्वतन्त्र अस्तित्व भी रहा। वस्तु का उतार शुरू हुआ। भेद ने रविकुल के बल को छेद दिया; उसे अब अपनी शक्ति

का पहिला-सा भरोसा नहीं है। अब वह आगा पीछा सोचकर काम करता है। अतः अतिथि के रूप में वह नीति-कुशल हुआ। उसमें चाणक्यपन आया। वस्तु की निगति जारी है। युगों के विकास का एकदम ह्रास नहीं हो सकता है। बीस पीढ़ियों तक रघुकुल का रथ इस चाल से चलता रहता है। चढ़ाव और उतार में स्वाभाविक निस्बत रक्खी गई है। अग्निवर्ण के रूप में वह एक भयंकर विलासी और रोगी दीखता है। उसकी गति रुकने को होती है, किन्तु कवि गर्भवती रानी के मिस नेता के लिये मार्ग खोल देता है। वस्तु का अन्त होगया। कवि ने यहाँ अद्भुत पटुता दिखादी है। शास्त्रीय दृष्टि से दुःखान्तता बचाली, और भावदृष्टि से प्रकट भी करदी।

अतः रघुवंश एक ही कहानी है, जो कालिदास ने तत्कालीन राज-समाज से कही थी। उसमें भाव-धारा का क्रमिक और स्वाभाविक उतार-चढ़ाव दिखाया गया है। उसके भिन्न-भिन्न अङ्गों का यथावत् संयोजन हुआ है। वह इस एक मुख्य तथ्य की समवेदना देती है—"हे भारतीय राज-कुल! लोकोत्तर चारित्र से तेरा लोकोत्तर विकास हुआ था, किन्तु जब से तेरी शक्ति बिखरी और तू बिलासी बना, तेरा ह्रास होता गया। संसार पर तेरे महान् अतीत की धाक अब भी जमी हुई है, और अब भी देश आशा करता है कि तू फिर रघु और राम-जैसे नरपालों की स्वर्ण-शृङ्खला रच कर भविष्य में भी अपनी महान् परम्परा को चालू रखेगा।"

विभाजन

वस्तु के संकलन और संयोजन के बाद हम उसके विभाजन पर आते हैं। नाद का भिन्न भिन्न स्वरों में विभाजन करने

से ही सुन्दर संगीत की सृष्टि होती है। एक स्वर से अच्छा राग नहीं बनता। शरीर की प्राण-शक्ति की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में होती है। उसी प्रकार काव्य की एक मुख्य भाव-धारा अनेक रूपों में प्रतिभासित होती है और होनी चाहिये। उस एक मूल की ये अनेक शाखाएँ हैं।

हमारे आचार्यों ने इस विभाजन के सिद्धान्त को बहुत महत्व दिया है। यह बात महाकाव्य के उस स्वरूप से स्पष्ट प्रगट होती है जिसका निर्देश आचार्य दण्डी ने किया है। वस्तु-विभाजन ये छः मुख्य-मुख्य रूप ले सकता है—(१) भाव-विभाजन (२) रस-विभाजन (३) रूप-विभाजन (४) व्यापार-विभाजन (५) वातावरण-विभाजन और (६) चरित्र-विभाजन।

भाव-विभाजन—

रघुवंश में छोटे बड़े दस वृत हैं, जिनके विषय क्रमशः ये हैं—दिलीप, रघु, अज दशरथ ,राम, कुश, अतिथि, तत्परवर्तिनी वंशावली, सुदर्शन और अग्निवर्ण। इन दस वृत्तों में कवि ने अद्भुत भाव-वैचित्र्य प्रदर्शित किया है। भाव-चित्र लगातार बदलते गये हैं। नाटक का सा आनन्द आने लगता है। कुछ देर सामने एक भाव-चित्र रहा; परदा उठा, नया चित्र आगया। पिछले दृश्य की तो कही पुनरावृत्ति ही न मिलेगी। एक दम नये भाव सामने आते जायँगे। दिलीप दया और धर्म का प्रतीक है; रघु में शौर्य और दान की महत्ता है; अज मे प्रेम की झाँकी होती है; दशरथ में तेजस्विता तथा असंयत-मनोविनोद की झलक है, राम में अद्भुत पराक्रम और कार्य-निष्ठा है; कुश में दान, मान और क्रीड़ा का पुट है; सुदर्शन में लघुत्व और महत्व का अद्भुत योग है; अतिथि में नीतिज्ञता; और अग्निवर्ण में

कामुकता का प्रदर्शन है। प्रत्येक मे एक विशिष्ट भाव की प्रतिष्ठा की गई है।

प्रत्येक सर्ग भी एक नया भाव, नई उमंग, नई स्फूर्ति पैदा करता हुआ आरम्भ होता है। प्रथम सर्ग में तपोवन की पवित्रता और वशिष्ठ जी की आध्यात्मिक शक्ति का चित्र मिलता है। द्वितीय सर्ग मे प्रवेश करिये, एक दम नई लहर उठ पड़ी—

"महर्षी ने ऋषि-धेनु गंध-माला से पूजी प्रातःकाल।
पीत वत्सको बांध, ले चले बन को मानधनिक नरपाल॥"

शान्ति विदा हुई; रंग-मंच पर कुतूहल आ जमा; विश्राम गया, पुरुषार्थ आगया। हिमालय की घाटियो में दिलीप और नन्दिनी के अद्भुत नाटक से चकित होकर आश्रम मे आये, और तृतीय सर्ग मे प्रविष्ट हुए तो क्या देखते है कि अयोध्या के राजप्रासाद मे पति-पत्नी का विश्रब्ध विनोद चल रहा है। भक्ति और वात्सल्य की तरंगें लुप्त हुई; प्रेम और प्रणय की उठ पड़ीं। दिलीप बन जाने को हैं—निर्वेद का दौर दौरा है; परन्तु चौथे सर्ग में पहुँचे तो एक नये उत्साह का एक दम प्रारंभ हो गया—

"पा पितागत राज्य दमका अधिक वह नरपाल।"

उपराम गया, उत्साह आ गरजा। रघु-दिग्विजय की दुन्दुभी शान्त हुई; और पाँचवें सर्ग मे एक नया भाव-चित्र सामने आया। आतिथ्य, भक्ति, और परोपकार की त्रिवेणी बहती दिखाई दी। अज के विलाप से कान थके, तो नवम सर्ग ने दशरथ-प्रताप का एक नया ओजस्वी राग छेड़ दिया। राम के कार्यों की भीड़ से घबड़ा गये, तो पुष्पक-यात्रा में निरी भाव-सामग्री ही मिल गई। अतिथि की शुष्क राजनीति से तंग आगये तो अग्निवर्ण की चपल क्रीड़ाएें आगई। संक्षेपतः कवि ने भाव-शवलता की हद कर दीहै, और भाव-विभाजन के सिद्धान्त का पूर्णतः निर्वाह किया है।

रस-विभाजन—

भावानुसार रस भी बदलते गये हैं। कलाकार ने उनका विभाजन वैज्ञानिक रीति से किया है। करुणा की धारा मे लगातार बहना कौन पसन्द करेगा? हँसते हँसते पेट में दर्द कर लेना कौन चाहेगा? हमारे कवि ने कोमल और क्रूर, मधुर और कटु, शान्त और अशान्त मनोवेगों में अद्भुत क्रमिकता रखी है। दलीप की करुणा, शृङ्गार, और शान्त की मन्द-गामिनी त्रिवेणी में रघु के वीर-रस का शोण भयंकर गर्जता हुआ गिर पड़ता है। कौत्स के आगमन पर युद्ध-वीर की धारा में दान-वीर की झलक आजाती है। आगे चलकर अज मे शृङ्गार और करुणा का प्रादुर्भाव होता है। किन्तु अज और नरेशों के युद्ध द्वारा इन दो धाराओं के बीच मे वीर का बँध बाँध दिया है। अज की लम्बी करुण-कहानी के बाद दशरथ का वीर-दर्प प्रस्फुटित होता है। राम में वीर, शृङ्गार, करुण और परशुराम में भयानक की व्यंजना हुई है। कुश में शृङ्गार और रौद्र, तथा अग्निवर्ण में शृङ्गार और करुणा का अच्छा जोड़ मिला है। बीच बीच में अद्भुत की दामिनी दमकती गई है। गो-घातक सिंह का आविर्भाव, और तिरोभाव; रघु के खजाने में स्वर्ण-वर्षा; रेवा से वन्य गज का उत्थान,और अज-शर लगने पर उसका आकस्मिक परिवर्तन; इन्दुमती पर माला-पात, भूतल से सिंहासनस्थ वसुन्धरा का आविर्भाव;कुमुदनाग का सरयू से कन्या-सहित उत्थान; अयोध्याधिदेवी का कुश के शयनागार में आकस्मिक प्रवेश—इन घटनाओं के समावेश ने अद्भुत का यत्र-तत्र बड़ा मनोरम संचार किया है।

युद्धों के वर्णन में वीभत्स की भी अच्छी झलक दिखाई है, किन्तु हास्य का बहुत ही अल्प आभास मिला, और वह मिला केवल शूर्पणखाँ-प्रसंग में (र० वं० १२-४३)। भला

रघुवंश के गाम्भीर्य में हास्य के लिये स्थान कहाँ ! अस्तु, कवि ने रस-विभाजन के सिद्धांत का समुचित निर्वाह किया है।

रूप-विभाजन—

भाव का व्यक्त रूप भाषा है। वह काव्य में भिन्न भिन्न छंदों का रूप लेती है। एक छंद मे एक विशेष संगीत होता है। कानों को वह कुछ समय तक प्रिय लगता है, तत्पश्चात् किसी दूसरे छंद की, दूसरे संगीत की उत्सुकता होने लगती है। इसी लिये वृत्त-वैचित्र्य महाकाव्य का एक महत्व-पूर्ण तत्व माना गया है। किन्तु यह वैचित्र्य निरंकुश नहीं हो सकता। उसमें भावानुरूपता होनी चाहिये। भाव और छंद मे सामंजस्य रहना अतीव आवश्यक है। रघुवंश के वृत्त-वैचित्र्य में भावनुरूपता का बहुत कुछ ध्यान रखा गया है। उससे कवि की अंतर्दिष्टि पूर्णतः प्रकट होती है। जहाँ कवि को घटनाओ की घनी भीड़ में होकर निकलना पड़ा है, और इतिवृत्तमात्र देने की बहुत आवश्यकता पड़ी है, वहाँ उसने प्रायः सीधे सादे अनुष्टुप् वृत्त का प्रयोग किया है। किन्तु जहां इतिवृत्तात्मक विषय कम हो जाने से कवि की प्रतिभा को अपना जौहर दिखाने के लिये पर्याप्त अवसर मिला है, वहाँ प्रायः उपजाति का प्रयोग हुआ है। तदनुसार भाव-माधुर्य और छंद-माधुर्य साथ साथ चले हैं। उनमें साम्य स्थापित हो गया है।

बालक राम-लक्ष्मण फुदकते हुए मुनि विश्वामित्र के साथ जाते हैं। उनकी बालोचित चपलता का भाव उस समय कवि के मस्तिष्क की सब से ऊपरी तह पर है। इस चपल भाव की अभिव्यक्ति भी तदनुकूल रथोद्धता छंद में की है। जैसा भाव वैसा छंद। उधर कामुक अग्निवर्ण की चपलता भी इसी छंद में प्रदर्शित की गई है। वास्तव में छंद भी फुदकता सा मालूम होता है।

किन्तु शोकाकुल हृदय की आह को कैसा तदनुरूप परिधान दिया—

"गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ,
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ।"

वैतालीय वृत्त का कैसा सुन्दर समुचित प्रयोग हुआ है !

एक वृत्त की लम्बी मालाओं के अन्त में तद्भिन्न छंदों का सुमेरु डाल दिया है, जहाँ कानों को राग के सम कासा आनंद आता है। लोग अनुष्टप् की संगीतात्मकता के कायल नहीं होते, अतः उसका लगातार दो सर्गों में कहीं प्रयोग नहीं हुआ, बल्कि उसकी सादा लड़ी से अवश्य एक चमचमाती लड़ी सटा दी गई है। अष्टम सर्ग के मुहर्रमी वैतालीय के बाद द्रुतविलंबित की द्रुत-गामिता कानों में नवीन जीवन का संचार कर देती है। "मरणं प्रकृतिः शरीरिणां" के जोगिया के बाद "यमवतामवतां च धुरि स्थितः" का कल्याण कानों में झनकार पैदा कर देता है। वास्तव में अद्भुत वृत्त-वैचित्र्य रक्खा है। रूप-विभाजन के सिद्धांत का बड़ा अच्छा निर्वाह किया है।

४) व्यापार-विभाजन—

रघुवंश-जैसी कुल-गाथा में महाकाव्योचित वस्तु-विन्यास करना हँसी-खेल नहीं है। एक के बाद दूसरे नरेश की जीवनी लिखते तो खासा इतिहास बन जाता। यज्ञ, व्रत, पूजा, जप, तप, विवाह, युद्ध, मृगया, विहारादि व्यापार तो सभी के हिस्से में आये होंगे। प्रत्येक से उस क्रिया-व्यापार की सम्पूर्णता को सटा देने से रघुवंश एक गल्पगुच्छ बन जाता, सुसंबद्ध महाकाव्य न रहता। हमारे कवि ने इस अड़चन को समझा।

अतः उसने व्यापार-विभाजन में अपनी कला का अद्भुत चमत्कार दिखाया है। एक नरेश की एक विशेष प्रवृत्ति या विभूति को क्रिया-व्यापार द्वारा चरितार्थ किया है। फलस्वरूप रघुवंश मे व्यापार-वैचित्र्य का विचित्र समावेश हुआ। दिलीप यदि गाय को लिये वन-बन फिरता है, तो बेटा रघु विशाल वाहिनी को लिये देश-देश मे विजय-भेरी बजाता है। अज यदि स्वयंवर और विवाह मे छैला बना है, तो बेटा दशरथ धनुष-टंकार से केहरियों के कर्ण-विवरों की झिल्ली फोड़ता हुआ सघन कानन में विचरता दिखाई देता है। उधर राम के जीवन की सम्पूर्णता का आभास दे दिया है। उसमें बहुत छांट नही हुई। कुश यदि जल-विहार मे मग्न है, तो अतिथि राजनीति की पहेलियों मे व्यग्र दीखता है। नन्हासा शिशु सुदर्शन यदि एक विशाल साम्राज्य की बागडोर को थामे हुए मिलता है, तो बेटा अग्निवर्ण कामुकता-वश अपना नाश करने मे ही मग्न है। प्रत्येक व्यापार अपनी नई निराली सत्ता रखता है। दुहरावा कहीं नहीं मिलेगा। इससे पुस्तक मे महाकाव्योचित रोचकता और विचित्रता आगई है।

(५) वातावरण-विभाजन—

यह भी बहुत खरा उतरा । वस्तु को एक या एकसे वातावरण में बन्द करके सड़ाया नहीं गया। नाटक की भाँति नये-नये दृश्य सामने आते जाते हैं। दिलीप के साथ तपोवन देखिये, बन-बन बिचरिये। रघु के साथ देश-देश की सैर कीजिये। अज का हाथ थामे विदर्भ के स्वयंवरागार में असंख्य नरेशों की वेष-भूषा और भाव-भंगी देखिये। दशरथ के घोड़े के पीछे-पीछे अटवी-अटन और आखेट का आनन्द लीजिये, और पशु-वृत्ति का अध्ययन कीजिये। राम की उँगली पकड़े समस्त दक्षिणी

भारतवर्ष की सैर कीजिये । लंका का स्वर्ण-प्राकार देखिये, और देखिये पुष्पक में बैठकर समुद्र की तुङ्ग तरंगें, विशाल ह्वेल, व्याल, और घड़ियाल । कुश के साथ सरयू-रमण कीजिये। अतिथि का दरबार देखिये, और उसके रत्न-जटित किरीट तथा सिहासन को देखकर प्राचीन भारत की विशाल सम्पत्ति का अन्दाजा लगाइये । सुदर्शन के जुलूस के साथ अयोध्या के बाज़ारों मे घूमिये, और "बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः" इस प्राचीन भारतीय धारणा को चरितार्थ होती हुई देखिये । अग्निवर्ण के विहार—सरोवरों, पान-स्थानों और महफिलों पर नज़र डालिए, किन्तु वहां विरम न रहिये अन्यथा.................................

वास्तव में रघुवंश एक व्यापक और विचित्र जगत् है। इसमें कहीं शरद् के काश और कुशेशय खिल रहे है; कहीं वसन्त के अशोक, कुरवक और वकुल झूमते हैं; कहीं फुव्वारो की फुआरों में फटिक शिलाओं पर ग्रीष्म ऋतु का ताप मिटाया जारहा है। अद्भुत सृष्टि है! वातावरण-विभाजन का अद्भुत निर्वाह हुआ है।

चरित्र-विभाजन—

रघुवंश के नरेशों में राजत्व के सामान्य आदर्श की प्रतिष्ठा-मात्र नहीं है। कवि ने हमारे सामने केवल नमूने (Types) रख कर ही संतोष नहीं किया । उसने नरेशों में आदर्श-प्रतिष्ठा तो की ही है, उनके व्यक्तित्व पर भी पूर्ण प्रकाश डाला है। चरित्र-चित्रण केवल आदर्शात्मक और जातिगत नहीं, व्यक्तिगतभी है । उसमें आदर्शवाद और यथार्थवाद का अद्भुत संमिश्रण किया गया है।

दिलीप—

रघुकुल का एक शक्तिशाली सम्राट है। उसके पास सब शक्तियां और सब साधन हैं, किन्तु पुत्राभाव के कारण असंतुष्ट है। पुत्र के होने न होने से उसका व्यक्तिगत हिताहित नहीं सटा है। वह वंश-परंपरा को चालू रखने के लिये पुत्र चाहता है, पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिये पुत्र का अभिलाषी है।

उसकी वृत्ति सरल है। गर्व उसे छू तक नहीं गया। साधारण मनुष्यों की भांति वह गांवों में जाता है और ग्रामीणों से मिलता है। शहर को घी ले जाते हुए ग्रामीण वृद्धों से पूछ उठता है-"भैया! इस पेड़ का क्या नाम है?" वह बिना किसी संकल्प-विकल्प के अपने को परिवर्तित परिस्थिति के अनुकूल बना लेता है। आज राज-प्रासाद में विलास-मग्न है, तो कल बन-बन गाय घेरने को भी तत्पर हो जाता है।

गुरुजनों के लिये इसके हृदय में बहुत आदर और उनके योग-बल में अटल श्रद्धा है। यदि रक्षकत्व-भार एक बार अपने सर पर ले लेता है तो उसका जान पर खेल कर भी निर्वाह करता है। किन्तु उसके लिये इसमे जितनी सजगता प्रारंभ में रहती है उतनी अंत तक नहीं बनी रहती। शुरू में वह नन्दिनी के उठते उठता है, बैठते बैठता है और चलते चलता है, किन्तु समय व्यतीत होने पर तत्परता कम हो जाती है। फिर तो नन्दिनी एक ओर चरती रहती है, और आप पहाड़ की प्राकृतिक छटा देखता रहता है। आदर्श के अन्धानुकरण में हेतुवाद प्रविष्ट हो जाता है। "गिरि-छवि-रत थे नृप।" क्यों? "मन से भी अजय उसे हिंस्रों को मान," इसलिये "सिंह खींचने लगा उसे बल कर पर उनका गया न ध्यान।" किन्तु यह प्रमाद है, दुर्भाव नहीं।

जब नन्दिनी की जान पर आ बनती है तो पहिले उसकी रक्षा क्षात्र शक्ति द्वारा करना चाहता है, और जब वह काम नहीं देती तो आत्म-बलिदान का सहारा लेता है। सिंह के सामने अपने को फेंक देता है। वहां इसे बेटा-नाती का कुछ भी ख्याल नही रहता। कोई फुसलाया करे, कैसा ही प्रलोभन दे, कैसी ही युक्ति पेश करे, यह वीर अपने कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं होता। इसके कोशमें "क्षत से त्राण करे येही है क्षत्र शब्द का प्रचलित अर्थ।" यह आधिक्य-प्रिय बहुत है। सेवा पर जुटेगा तो एक दम, और यज्ञ करेगा तो सौ ही।

रघु—

यह नम्र बाप का स्वाभिमानी बेटा है। इसके क्षात्र धर्म की अभिव्यक्ति दिलीप की भांति क्षत से त्राण करने में इतनी नहीं होती जितनी विजिगीषा में। महत्वाकांक्षा इसकी नस-नस में रम रही है। समस्त संसार मेरे अधीन होकर रहे-यही इसकी इच्छा है। इन्द्र दिलीप को सौ अश्वमेघ यज्ञों का फल देने का वायदा करता है, किन्तु यह स्वाभिमानी उससे तक़ाजा करता है—'तुम्हारा ही दूत पिताजी को यह संदेश दे।" इसकी महत्वाकांक्षा में रुधिर-पियासा नहीं है, किन्तु यह अनम्र-घालक अवश्य है। इसकी विजय की तह में अर्थलोलुपता नहीं, यश-लोलुपता है। सम्पत्ति का आदान करता है तो यश के लिये, और उसका प्रदान करता है तो यश के लिये! बड़ा ही यशेच्छु और बड़ा ही निश्शंक है। इसका जीवन एक तूफान है। जीवन में कुतूहल-जनक उतार-चढ़ाव कर डालने का इसे शौक है। आज संसार की समस्त सम्पत्ति का स्वामी होने का अभिमान है, तो कल उस सबको देकर फकीर बन जाने के विलास को भोगना चाहता है। कौत्स निराश

लौटने को होता है; आप फ़ौरन कह उठते हैं–"गुरु-निमित्त याचक, श्रुत-पारग रघु-सकाश से सिद्धि-विहीन; अन्य वदान्य समक्ष जाय—अवतरे न यह अपमान नवीन।"

अन्त मे बन जाने की इच्छा होती है, किन्तु पुत्र के कहने से नहीं जाता। नगर के बाहर ही आश्रम में रहता है। "सुत-वत्सल रघु ने रोते—आत्मज की चाह निबाही; पर अहि-त्वचा-सम लक्ष्मी—तज कर न पुनः अपनाई।" वास्तव में इसके जीवन में अद्भुत निरालापन रहा है।

अज—

वीर पिता का वीर पुत्र है। अकस्मात् आये हुए बड़े से बड़े संकट पर अपने प्रचण्ड शौर्य के बल से विजय पाने की क्षमता रखता है। इसकी वृत्ति बड़ी भावुक और प्रेमपूर्ण है। पिता तप के लिये बन जाने को हैं। रो-भींक कर, पैरों में पड़कर, उन्हें अपने ही पास रखता है। बड़ा पितृ-भक्त है। पिता की मृत्यु हृदय को दहला देती है, किन्तु अन्त में "बुध-वचनों से तज अज ने—निज मुक्त पिता की शंका; हो वद्ध-चाप बजवाया—जग में अपना ही डंका।" परन्तु जब इसकी प्रणय-भावना पर चोट लगती है, तब तो ये सम्हाले नहीं सम्हलता। पत्नी की मृत्यु इसके प्रणयी हृदय पर घातक आघात करती है। एक दम तिलमिला जाता है, और फिर उससे नहीं पनपता। यहाँ सब ज्ञानोपदेश व्यर्थ सिद्ध होता है। अन्त में इसी घाव की व्यथा मे छटपटा कर संसार से विदा हो जाता है।

दशरथ—

यह सम्राट् बड़े उत्साह और उच्चाकांक्षा से शासन का आरम्भ करता है। नया जोश है, नई उमंग है। थोड़े से ही समय में बहुत कुछ कर लेता है। "द्यूत न, मृगया-रुचि न,

तरुण तन्वी न, न मधु चन्द्र-प्रतिमोपम-पथ-विचलित करते थे नृप को, जब वह करता था उदयोद्यम।" किन्तु इसका संयम अटूट नहीं। उदयोद्यम तक ही वह उसका अनुसरण करता है। उससे निश्चिन्त होकर उसका मन विनोद की खोज करता है। ऋतु की रमणीयता उसके हृदय मे प्रमोद-भावना को जागृत करती है। शिकार होजाता है। किन्तु यह शिकारी एक दम कठोर नहीं है। मृग-मयूरादि दयनीय जीवों पर इससे प्रहार नहीं किया जाता, किन्तु वाराह, सिंह, महिषादि प्रचंड पशुओं के लिये यह भी प्रचंडता की मूर्ति बन जाता है। जिस प्रमोद की ओर प्रवृत्त हो जाता है उससे जी भर लेना चाहता है। इसकी इसे ऐसी धुन सवार होती है कि फिर करणीय या अकरणीय का भी ध्यान नहीं रहता। गज-बध का राजा के लिये निषेध है। किन्तु शिकार की धुन में मस्त सम्राट् दशरथ इन सब बातों को भुला देता है। होश हवास ठिकाने न रहने पर आदमी से कभी-कभी भारी भूल होजाती है। दशरथ से भी प्रमाद में एक तपस्वी के बालक की हत्या बन पड़ती है, किन्तु अपनी भूल को स्वीकृत करने में वह तनिक भी देर नहीं करता। दीन अपराधी की तरह तपस्वी के सामने खड़ा हो जाता है। परिताप से जलने लगता है। वेदना की हद नहीं। यह आत्म-व्यथा उसके हृदय में एक स्थायी चिन्ह बना देती है। वह बड़ा प्रेमी पिता है। उसका सन्तान-प्रेम प्रायः मोह तक पहुँच जाता है। किन्तु प्राण-याचना करने वाले को वह विमुख नहीं करना चाहता, चाहे उसे अपने पुत्रों को उसकी रक्षा के लिये संकट में ही डालना पड़े। राम का वियोग दशरथ के लिये घातक होता है।

राम—

यह विष्णु के अवतार हैं, अतः इनके चरित्र मे अलौकिकता का गहरा पुट है। बाल्य-काल से ही इनके शौर्य और संग्राम की धाक समाज पर जम जाती है। तत्कालीन अद्वितीय वीर परशुराम को भी इनकी अलौकिक शक्तियों का कायल होना पड़ता है। इनका जीवन बहुत ही संकुल और सम्पूर्ण है। इनमें अद्भुत संगठन-शक्ति और कार्य-कौशल है। बन मे रहते हुए भी ये रावण जैसे प्रचंड शत्रु को पराजित करने लायक साधन और सामग्री जुटालेने की अद्भुत क्षमता रखते है। बड़े ही नीति-कुशल हैं, और किससे मित्रता तथा किससे शत्रुता करनी है--इस भेद को खूब समझते हैं। इनके हृदय की एक अद्भुत विभूति यह है कि जितना उसमें साहस है उतनी ही सरसता और भावुकता भी। इनके स्नेह-पूर्ण व्यवहार से बहुत लोग इन पर रीझ जाते हैं, और इन्हीं के हो लेते हैं। सुग्रीव, विभीषण हनुमानादि इस बात के उदाहरण हैं। राम के हृदय में अपने सेवकों और सहायकों के लिये भारी कृतज्ञता है। बन से लौटने पर बड़े तपाक से भरत को परिचय देते हुए कहते हैं--"ये सुग्रीव विपत्ति-बन्धु मम, ये हैं समराग्रणी विभीषण।" घर पर इनका बड़ा सम्मान करते हैं। विदा करते समय स्वयं सीता के हाथों से भेंट दिलाते है। पत्नी के लिये इनमे प्रगाढ़ प्रेम है। उसके वियोग में ये विक्षिप्त से अवश्य हो जाते हैं, किन्तु अज की भाँति इससे उनकी कार्य-शक्ति कुण्ठित नहीं हो जाती। इनको प्रिया से भी अधिक प्रिय एक चीज़ है, और वह है मान। उस पर यदि एक छींटा भी आता है, तो इनको गवारा नहीं। उसको अक्षुण्ण रखने के लिये ये प्रिया को भी त्याग सकते हैं, उसको धोखा देकर निकाल सकते हैं। उसको सर्वथा अनघ और शुद्ध समझते हैं; उसके लिये हृदय में अगाध प्रेम है, परन्तु उसको

निकाल देने के प्रचंड निश्चय में किसी को दख़ल नहीं देने देते। भाइयों से साफ़ कहते हैं—"चाहो यदि निकाल निन्दा-शर धरता रहूँ प्राण चिरकाल; तो करुणार्द्र-चित्त हो इस मम निश्चय को दो आप न टाल।" इस अपमान-चर्चा के बाद राम में उनकी लोक-प्रसिद्ध स्वाभाविक सरसता के दर्शन नहीं होते। उनका रूप बड़ा रूखा-सूखा और भयावह सा दीखता है। भाई उनसे डरते मालूम होते हैं। "स्वामी के यह कहते, करते क्रूराग्रह सीता के अर्थ, खंडन या मंडन निमित्त अनुजों मे कोई था न समर्थ।" सीता-निष्कासन के बाद यह अपने हृदय के ज्वाला-मुखी को दबाकर यथावत् राज्य करते रहते हैं और अश्वमेधादि यज्ञ भी। अज की भांति प्रिया-वियोग से एक दम पस्त नहीं हो जाते। मालूम नहीं होता इस वृत्ति को सहनशीलता कहें या हृदय-हीनता। यज्ञ में सीता की प्रतिमा को सहचरी बनाना इस दशा में ढोंग-सा मालूम होता है। या इसे हम उस प्रजा-सम्मति की अवहेलना कहेंगे जिसके कारण उन्होंने सीता का त्याग किया था। इसमे और उनकी पूर्व-नीति मे विरोध पड़ता है। हम कभी-कभी राम में असह्य शुष्कता पाते हैं। लव-कुश के प्रति राम की शुष्कता दर्शकों को भी अखरती है।

"उन कुमरों के कौशल से — थे लोग न विस्मित उतने;
नरपति की रति करने मे — निस्पृहता से थे जितने।"

यह असाधारण सूखापन सीता के नाते से ही दिखाया होगा। और क्या कारण हो सकता है? फिर स्वर्ण-प्रतिमा की बात निस्सार क्यों न समझी जाय? ऋषि वाल्मीकि को भी राम से टका-सा जवाब मिल जाता है—

"स्वचरित्र-विषय में सीता-करदे विश्वास प्रजा में;
सुतवती उसे ओटूँगा—तत्क्षण तव आज्ञा पा मैं।"

यहाँ कालिदास के राम एक दम रूखे और हृदय-हीन दिखाई देते हैं, जिन पर स्वयं ऋषि वाल्मीकि को क्रोध होता है। वे सीता से कहते हैं—

"सत्यसंध अविकत्थन उसने किये त्रिजग के कंटक लोप;
पर त्वदर्थ सहसा अघ-रत लख होता मुझे राम पर कोप।"

सीता—

कवि ने सीता में स्त्रीत्व के भारतीय आदर्श की पूर्व प्रतिष्ठा की है, और साथ ही उसके आत्म-सन्मान को भी पूर्णतः रक्षित रखा है। भवभूति को सीता की भाँति हम उसे गिड़-गिड़ाती और अपने अस्तित्व को सर्वथा भूलती हुई नहीं पाते। उसका पति-प्रेम एक अगाध-सागर है, किन्तु उसमे उसने स्वाभिमान को नही डुबो दिया है। ये स्वाभिमानिनी सती सौमित्र से साफ-साफ कह देती है—

"क्या यह प्रथित कुलोचित है," कह देना उस नृपाल से लाल !
"आगे अग्नि-शुद्ध भी मैं सुन लोक-वाद दी जो कि निकाल ?"

क्रूरकर्मा पति से वह कहती है—"तुम अत्याचार और प्रहार करते रहो, किन्तु तुम्हारे प्रहार मेरे प्रेम के गढ़ को नहीं ढा सकते। तुम त्याग दो, किन्तु—

मैं तो जन संतान, सूर्य पर जमा दृष्टि, साधूंगी योग,
जिससे मिलो तुम्हीं फिर पति, जन्मान्तर मे भी हो न वियोग।"

राम के सामने लाये जाने पर यह देवी गिड़गिड़ा कर दया और प्रेम की भिक्षा नहीं मांगती; वरन् अपने सतीत्व की गर्व के साथ घोषणा करती हुई, निस्संकोच पति की आँखो मे आँखें गढ़ाती हुई, भूतल मे समा जाती है। यहाँ कवि ने राम पर सीता की मार्मिक विजय दिखलाई है।

कुश—

आठ भाइयों में कुश प्रधान राज-सत्ताधारी है। यह बड़ा सदाचारी है। आधीरात के समय अपने शयनागार मे आई हुई स्त्री से ये मार्मिक वचन कहता है—

"शुभे ! कौन है ? किसकी स्त्री है ? क्यों मेरे आगई समीप ?
बता समझ पर-नारि-विमुख-मन होते हैं रघुवंश-महीप ।"

कुल-राजधानी की अधिदेवी के संकेतमात्र से वह राजधानी-परिवर्तन कर डालता है, यद्यपि इस कार्य में बहुत समय और सम्पत्ति का व्यय होता है; अपनी तत्कालीन राजधानी कुशावती को श्रोत्रियों को दे देने की उदारता दिखा सकता है; किन्तु कुलानुगत आभूषण के खोने पर एक दम तिलमिला जाता है, और उसके लिये कुमुद नाग पर क्रुद्ध होकर तुरन्त गुरुडास्त्र तान लेता है। ये बातें इसकी भारी कुल-भक्ति को प्रमाणित करती है। ये बड़ा विनोदी भी है।

अतिथि—

बड़ा नीति-कुशल शासक है। उसके जीवन में नियम और संयम है। उसका समय राज की समस्याओ के विचार मे ही व्यीतत होता है। चुपचाप काम करते जाना उसे बहुत पसंद है। दिखावा नहीं चाहता। बड़ा ही अग्रशोची है। धर्मार्थ और काम में समुचित साम्य और सम्बन्ध बनाये रखता है। अपनी शक्तियों को खूब नाप तोल कर युद्ध करता है। शत्रु के छिद्रों पर खूब ध्यान रखता है, और उन्हीं पर प्रहार करता है। राजनीति के सब अंगों का विशेषज्ञ है, और उनको कार्य में चरितार्थ करना जानता है। इसके नियमित और संयत शासन से राज्य में सर्वत्र शान्ति और समृद्धि दिखाई देने लगती है।

अग्निवर्ण—

बड़ा ही कामुक राजा है। दिन-रात विषयासक्त रहता है। राज्य का कुछ भी ध्यान नहीं है। सब भार मंत्रियों पर डाल कर आप मधु-पान, नृत्य-गान और काम-केलि में मग्न रहता है। कोरा कामुक नहीं, कला-कुशल भी है। गायन, वादन, चित्र-लेखन, अभिनयादि में आप विशेषज्ञों से भी बाजी लेने का दम रखते हैं। भोग-विलास के विविध रूपों के लिये आपकी कल्पना बड़ी तेज़ है। विलास के पंक में ये हजरत इतने फँस जाते हैं कि फिर उससे नहीं निकल पाते। रोग का आक्रमण होता है। वैद्य परहेज पर ज़ोर देते हैं, किन्तु यह तो जान पर खेल गया है। किसी की नहीं सुनता। अन्त में राजयक्ष्मा का शिकार बनकर कुत्ते की मौत मर जाता है।

ऋषि वसिष्ठ—

एक वयोवृद्ध तपस्वी हैं। इनकी आध्यात्मिक शक्ति बहुत बढ़ी हुई है। संसार इनके लिये हस्तामलक है। भूत, भविष्य, वर्तमान के ये पूर्णज्ञता हैं। तप भी करते हैं और राज-संचालन में सहयोग भी देते रहते हैं। जब अयोध्या के राज-कुल की कहीं गाड़ी रुक जाती है, तो इन्हीं की याद की जाती है, और ये महात्मा उसे चालू कर ही देते हैं।

"विमल मंत्र वसिष्ठ गुरु के, भूप-बाण महान—
उभय मिल क्या कार्य कर सकते न थे आसान?"
"पा वसिष्ठ-मंत्रोच्चरण का बल रुद्ध न होता था रघु-यान,
नीरधि-नभ-नग-मध्य, पवन-संगत घन यथा कहीं रुकता न।"

यह एक अद्भुत शक्ति है। "गुरु अथर्वज्ञ से संस्कृत—वह हुआ परों को दुर्गम। है ब्राह्मक्षात्र तेजों का संगम पवना-नल-संगम।" वास्तव में इस संगम में बड़ी ही करामात है।

परन्तु ऋषि वसिष्ठ ने रघु-कुल नरेशों के लिये अपनी स्वतंत्रता नहीं बेच दी है। जब यह यज्ञ की दीक्षा ले लेते हैं, तो फिर उसकी समाप्ति तक टस से मस नहीं होते, चाहे रघुकुल में कैसा ही तूफान आजाय। महारानी इन्दुमती की आकस्मिक मृत्यु से महाराज अज वेहद बेचैन हैं, किन्तु ये यज्ञनिष्ठ ब्राह्मण यज्ञावधि तक स्थान-भ्रष्ट नहीं होता, शिष्य द्वारा उपदेश दे देता है। सम्भव है कालिदास ने उपदेश को व्यर्थ सिद्ध होने के कारण, वसिष्ठजी के उपदेश की अमोघता को अक्षुण्ण रखने की नीयत से, स्वयं उन्हें उपदेशक की हैसियत से अयोध्या न भेजा हो, परन्तु उनका न जाना उनके चरित्र पर भी प्रकाश डाले बिना नहीं रहता।

निष्कर्श—

रघुवंश के वस्तु-विन्यास-सन्बन्धी भिन्न भिन्न पहलुओं पर विचार करके हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उसमे महा-काव्योचित सुसंवद्ध वस्तु-विन्यास है; वस्तु का संकलन, संयो-जन और विभाजन इस सुन्दरता से हुआ है कि श्रीयुत राइडर के "The result is a formless plot. There is a lack of unity of plot"—इस सम्मति का कोई आधार नहीं दिखाई देता। उसके सुसंगठित महाकाव्यत्व में सन्देह करने के लिये कहीं अवकाश नहीं है। वह एक अद्भुत चीज़ है। गल्प-गुच्छ सा भी लगता है; वंशावली-जैसा भी प्रतीत होता है; राम-विषयक एक खासा खण्ड-काव्य सा भी उसमें पड़ा मिलता है। लेकिन यह सब उसके प्रातिभासिक रूप हैं। उस का वास्तविक रूप है महाकाव्य। इसी रूप में, औरइसी दृष्टि से महाकवि कालिदास ने उसे लिखा है।

वस्तु-विन्यास में चिन्त्य स्थल ।

रघुवंश से विशाल भवन की चिनाई मे यत्र-तत्र खामियां भी आ गई हैं।

एक दिवस-मुनि-होम-धेनु, निज-दास-भाव करने को ज्ञात,
गई हरित हिम-गिरि-गह्वर में, जहां निकट था गांग प्रपात ॥

यहां "निज-दास-भाव करने को ज्ञात" यह सूचना पहिले से ही देकर कवि ने वस्तु की आकस्मिकता पर भारी आघात कर डाला है। वह एक कुतूहल का समावेश करना चाहता है। नाटक का सा एक अद्भुत और आकस्मिक दृश्य दिखाकर उसे पाठकों की कुतूहलात्मक वृत्ति को छेड़ना है, किन्तु वह उन्हे पहिले से ही जता देता है कि राजा दिलीप की परीक्षा ली जाने को है। अतः वे जान लेते हैं कि हिम-गिरि-गुह्वर में जो नाटक होने जा रहा है, वह निस्सार और मायिक होगा; वे उसकी वास्तविकता के कायल नही होते। विस्मित नृप से बोली गौ—"की साधु! परख रच माया-जाल"—ये वचन पाठकों के लिये कुछ मानी नहीं रखते। वे इस माया-जाल को पहिले से ही जानते हैं। यदि नहीं जानते होते तो इस समय वे भी इतने ही विस्मिन होते जितने नृप दिलीप, और एक वास्तविक से दृश्य को मायिक समझ कर उन्हें एक दम दंग होना पड़ता। अद्भुत कहीं अधिक अद्भुत हो जाता। किन्तु प्रारंभ मे ही "निज-दास-भाव करने को ज्ञात" इस सूचना से कवि ने कुतूहल का गला भींच दिया है। "एक दिवस मुनि-होम-धेनु, हरित हिम-गिरि-गुह्वर मे गई" केवल इन शब्दों से घटना का बहुत ही सुन्दर प्रारंभ होता। क्यों गई? इस प्रश्न का उत्तर अन्त तक दबाये रखना चाहिये था।

आकस्मिकता से हो जाने वाले क्रिया-व्यापार का प्रारंभ भी आकस्मिकता से कर देने मे भावानुरूपता रहती है। उसके लिये कोई विशेष तैयारी करने या भूमिका बांधने की आवश्यकता नहीं है। छटे सर्ग में मंचासीन नरेशो की इन्दुमती की ओर इशारेबाज़ी यदि एक दम चल पड़ती तो अच्छी रहती। "हुए तदेच्छुक भूपो के शृङ्गार-विकार प्रणय के दूत"—यह पेशबन्दी करके इशारों की क्रमवद्ध सूची सी बना देना अनुपयुक्त और अस्वाभाविक प्रतीत होता है।

सातवें सर्ग में अज और इन्दुमती विदर्भ के राज-मार्ग से निकल रहे हैं। पुरांगनाऐं इस दर्शनीय दृश्य के लालच को एक पल भर भी न रोक कर, तत्काल ज्यो की त्यों खिड़कियों को दौड़ पड़ती हैं। यहां कवि भी "त्याग अपर सब कर्म बन पड़े जिन से कुछ ऐसे व्यापार"—यह निर्देश न करके, उनकी भाग दौड़ का एक दम वर्णन कर देता तो बहुत ही स्वाभाविक होता।

दशम सर्ग की—"खर शरों से अतः तच्छिर-कमल-जाल समेट, दाशरथि होकर करूंगा समर-भू की भेट"—इस विष्णूक्ति से आगामी तीन सर्गो की घटनाओं की सूचना पाठकों को पहिले ही मिल जाती है। अतः वे राम के जन्म-जीवनादि में कोई नवीनता और कुतूहल नहीं पाते। राम का प्रोग्राम उन्हे पहिले ही से मालूम है। इस वस्तु-विपर्यय का उत्तरदायित्व भारत की उस परंपरागत आदर्श-निष्ठा पर है, जिसने भारतीय साहित्य में आदि कवि के समय से ही प्रवेश पा लिया था, और जिसका अब भी खूब दौर दौरा है। हमारा कवि भी उससे अछूता नहीं रहा।

हमारा कवि चमत्कार-प्रिय है, किन्तु कभी-कभी चमत्कार अपनी चरम-सीमा तक पहुँचने के पहिले ही उसके मस्तिष्क से

छलक पड़ता है। अतः अन्त तक पहुँचते-पहुँचते चमत्कार की चमत्कारिता बहुत कुछ छीज जाती है। राम-जैसा सुकुमार और नन्हा-सा बालक प्रचण्ड शिव-चाप को चढ़ा ही नहीं, तोड़ भी सकेगा—इस सम्भावना से सब लोग कोसों दूर हैं। मिथिलेश तो कौशिक से यहाँ तक कह देते हैं—

"………भगवन्! जो कर्म गजेन्द्रों को भी दुष्कर माना,
उसमें न चाहता व्यर्थ कलभ-करतब को मैं परचाना।"

चमत्कार-प्रदर्शन का अच्छा प्रारंभ हुआ है, परंतु आगे कौशिक-द्वारा राम-बल की वकालत कराने, और जनक को पहिले से ही उसका कायल करने की क्या आवश्यकता थी, जबकि रामचन्द्र स्वयं धनु-भंग द्वारा अपनी लोकोत्तर शक्ति का अचूक और अद्भुत प्रमाण देने जारहे हैं? क्या इस पूर्वाभास द्वारा चमत्कार शिथिल नहीं होता? जब पहिले ही "सुन आप्त वचन ली मान शक्ति उस काकपक्षधारी में"—तो फिर "सनद्ध किया धनु, लखे विस्मय-स्तिमित दृगों से सबने—"यह क्यों? फिर विस्मय और चमत्कार कहां?

बारहवें सर्ग में अकेले रामचन्द्र ससैन्य खरदूषण से लड़ रहे हैं। अन्त में—"फिर सहा शुद्धाचरण-युक्त ककुत्स्थ-वंशज राम ने—खल-कथित-निज-दूषण-सदृश दूषण न आता सामने।" यहाँ "निज-दूषण-सदृश-दूषण" में उपमा और यमक की तो खासी दमक है, किन्तु काल-विपर्यय का भारी दोष आजाता है। "निज-दूषण" का अभिप्राय राम के सर मढ़े हुए सीता-विषयक दूषण से है, जिसका इस स्थान पर उल्लेख असामयिक और अस्वाभाविक है।

कवि ने कुश तक गुण और व्यापार का बड़ा सुन्दर समन्वय रखा है। प्रत्येक नरेश का गुण-वर्णन भी है और क्रिया-

व्यापार-वर्णन भी, जिससे सोने में सुगन्ध रहती आई है। पाठकों को कुछ सुनाया है तो कुछ दिखाया भी है। पर अतिथि पर आकर कवि के सोने में सुगन्ध नहीं रही। गुण और व्यापार के विच्छेद के कारण वस्तु में बहुत शिथिलता आगई है। खालिस गुण-वर्णन से कान ऊब जाते हैं, और क्रिया-व्यापार का अभाव अखरने लगता है। अभिसिंचन और प्रसाधन के विवरण से ही व्यापार की पूर्ति नहीं होती।

ये स्थल चिन्त्य है, किन्तु रघुवंश की महाकाव्योचित सम्पूर्णता और सरसता इन इने-गिने अकिंचन छिद्रों पर दृष्टि ही नहीं पड़ने देती। चन्द्रमा की जगमगी ज्योति में उसके दाग छुप जाते हैं।

प्रकृति-वर्णन

रघुवंश का विशाल प्रासाद खड़ा हो गया। अब तनिक यह देखलें कि इसको किन और कैसे चित्रों से भूषित किया गया है।

प्रकृति-वर्णन मुख्यतः दो रूप लेता है—रूपात्मक (objective) और भावात्मक (subjective)। रूप और भाव दोनों अन्योन्याश्रित हैं। अतः सामान्यतः तो प्रकृति-वर्णन में दोनों का ही पुट होता है, परन्तु एक प्रधान रहता है तो दूसरा गौण। भारतीय साहित्य में रूपात्मक वर्णन की प्रधानता रही है, और पाश्चात्य में भावात्मक की। भारतीय लेखनी प्रकृति का सजीव चित्र खड़ा कर देगी। शब्द-चित्र द्वारा आपको उसका साक्षात्कार करा देगी। प्रकृति की प्रतिमा पर अपने मनोविकारों का रंग अवश्य चढ़ायेगी, किन्तु इतना नहीं कि प्रकृति विकृति में लुप्त हो जाय। प्रकृति की मादकता उसे इतना मत्त नहीं कर देती कि अपने मूलाधार से हट कर वह हवाई

किले ही बनाती फिरे। भारतीय कवि प्रकृति को अपने मनो-विकारों की अभिव्यक्ति का साधनमात्र, या उपदेश का उपकरणमात्र, या मनोवैज्ञानिक विवेचना का आधारमात्र नहीं बनाता। न वह उसके राज्य में ऐसा भूला भटका ही फिरता है कि ऐसे धुँधले उद्गार करने लगे—

"What I can never express, yet cannot all conceal (Byron)

"And all feel, yet see thee never,-
As I feel now lost forever" (shelley)

"I gazed and gazed but little thought
What wealth the show to me had brought.
(wordsworth)

भारतीय शास्त्र ने ईश्वर जीव और प्रकृति का ऐसा निर्भ्रान्त निरूपण कर दिया है कि भारतीय मस्तिष्क को एक में दूसरे की भ्रान्ति नहीं होती। उसे मालूम है कि प्रकृति की सत्ता क्या और कहाँ तक है, और पुरुष की क्या और कहाँ तक। अतः वह प्रकृति की गोद मे बैठकर भी अपने होशहवास दुरुस्त रखता है, और चतुर चित्रकार की भाँति लेखनी को सावधानी से पकड़कर उसका व्यक्त चित्र खींचता है। प्रकृति के भिन्न-भिन्न अवयवों की संश्लिष्ट योजनाकर के उसकी प्रतिमा खड़ी कर देता है। किन्तु यह निर्जीव प्रतिमा नहीं होती। वह उसमे भावों और मनोवेगों को भर देता है, परन्तु उसके रूप को अपने भावावरण से इतना नहीं ढक देता कि उसके दर्शन न हो पावें, और हों भी तो विकृत या अधूरे। खालिस प्रकृति-वर्णन में भी वह मानवी तत्व का प्रर्याप्त समावेश करता है, और प्रबन्ध-काव्य की वस्तु मे तो वह प्रकृति का पूर्णतः

मानवीकरण ही कर देता है, और उसे पूरी पात्रता दे देता है। मानवी सुख-दुःख, अनुराग-निराग, स्वार्थ-परमार्थ, आशा-निराशादि मे प्रकृति का पूर्ण सहयोग दिखाई देता है। वह काव्य में प्रकृति से काव्योचित रागात्मक सम्बन्ध जोड़ता है, केवल मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक नहीं।

विद्वानों की सम्मति में महाकवि कालिदास का प्रकृति-वर्णन संसार के साहित्य में अपना सानी नहीं रखता। महाशय राइडर कहते हैं— 'kalidas understood in the fifth century what Europe did not learn until the nineteenth, and even now comprehends only imperfectly: that the world was not made for man; that man reaches his full stature only as he realises the dignity aud worth of life that is not human"

कालिदास के प्रकृति वर्णन में रूप और राग का अद्भुत सम्मिश्रण है। वह बहुत ही व्यापक, बहुत ही मार्मिक, बहुत ही बारीक, और बहुत ही सुन्दर है। जड़ और चेतन प्रकृति के चित्रण में उन्होंने कमाल कर दिया है। इनकी प्रतिभा को ठेस पहुंचाने के लिये किसी विशाल प्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं। इनका निरीक्षण इतना बारीक है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रत्यक्ष भी उससे अछूता नहीं बचता। दौड़ते हुए एक हरिण से, उड़ते हुए एक मयूर से, रेती पर बने हुए एक चरण-चिन्ह से, नदी की एक तरङ्ग से, बाल की एक नोक से, आप बहुत रस निकाल कर अपने पाठकों को पिला सकते हैं। मनुष्य की क्षणिक भाव-भंगी और मुद्रा को राग-रंजित करके मुद्रित करना आप से कोई सीखले। हमारे सौन्दर्योपासक कवि को

प्रकृति की गोद में बैठ कर उसके व्यक्त सौन्दर्य का आस्वादन करना और उसमें अनुराग तथा आनन्द से रमण करना पसन्द है, न कि डरना, रोना, गुनगुनाना, आहें भरना या खयाली खुमारी लेना।

रघुवंश में प्रकृति-वर्णन

रघुवंश के नाम से शायद पाठक यही सोचेंगे कि पुस्तक में रघुकुल नरेशों के राजसी ठाठ और पराक्रम का, उनके प्रासादों, उपवनों, वाहन-वाहिनी, राजधानी इत्यादि का विशद वर्णन होगा। किन्तु इस महाकाव्य में इससे कहीं अधिक सामग्री है। उसमें स्थान-स्थान पर प्रकृति के मनोहर चित्र पाठक के चित्त को मुग्ध करते जाते हैं। किन्तु जैसे आध्यात्मिक जगत में प्रकृति का प्रेरक और नियामक पुरुष है, इस काव्य-जगत में भी प्रकृति पर सर्वत्र मानव-तत्व का आधिपत्य रहा है, और वह जीवन से इस प्रकार सटा दी गई है कि उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता कहीं भी दिखाई नहीं देती। कहीं भी यह नहीं मालूम पड़ता कि कवि प्रकृति-वर्णन प्रकृति-वर्णन के लिये ही कर रहा है। प्रकृति का रूप-रंग भी प्रसंगानुकूल और भावानुकूल बदलता रहा है। वह सजीव है, और मानव-जीवन से पूर्ण सहयोग और सहानुभूति करती हुई दिखाई देती है। कहीं उसकी ओर चलता संकेत है तो कहीं उसका विशद चित्रण, किन्तु है सब मार्मिक और प्रसंग एवं परिस्थित के अनुकूल तथा वस्तु से सुसंबद्ध।

मोटे रूप से रघुवंश में प्रकृति का प्रयोग इन तीन रूपों में किया गया है-वस्तु-विधान में, भाव-विधान में, और अलंकार-विधान में; अर्थात् प्रकृति-वर्णन या तो वस्तु-विकास से, या भाव-विकास से, या अलंकार-योजना से संबद्ध है।

वस्तु-विधान—

महाराज रघु सिंहासनस्थ हो गये हैं। संसार का अंधकार दूर हो गया, और उसमें नई उमंग तथा नई ज्योति आगई हैं। प्रकृति को भी कवि ने शरद का नया जामा पहिना दिया। अनोखी सूझ है! प्रकृति और पुरुष की होड़ाहोड़ी चलती है—

"काश का कर चमर, छत्र कुशेशयों का तान,
रीस की ऋतु ने; हुई पर प्राप्त वह शोभा न।"

प्रकृति पुरुष से पीछे डाल दी; किन्तु अंत में पुरुष पर प्रकृति का जादू चल जाता है।

"शरद ने कर पाँझ नदियाँ, शुष्क-कर्दम राह,
शक्ति के पहिले नृपति को दिया यात्रोत्साह।"

कौन कह सकता है भारतीय मस्तिष्क में प्रकृति का जड़ रूप ही रहता है, उसका भाव और प्रभाव नहीं? प्रकृति ने ही "शक्ति के पहिले नृपति को दिया यात्रोत्साह।" उसकी ही शक्ति से उत्साहित होकर—"सैन्य ले षड्-विधि चला रघु दिग्वजय के हेत।"

हमारा कवि एक ढेले से कई पक्षियों को मारने में बड़ा प्रवीण है। इसी शरद-वर्णन में कहता है—

"गोपियां कृषि को रखातीं, इक्षु-छायासीन,
भूप-यश गातीं, सुनातीं कथा शिशु-कालीन।"

इसमें शरद-वर्णन हो गया; कृषि की सम्पन्नता भी आ गई; महाराज रघु की प्रजा-प्रियता का भी उल्लेख हो गया; और देश की शक्ति और समृद्धि का भी नकशा खिच गया। गागर में सागर भर दिया। प्रकृति और पुरुष का इससे अधिक और क्या संमिश्रण हो सकता है?

दिग्विजयी महाराज रघु के साथ भी ज़रा चलिये। हर जगह वहीं एक ढेले में अनेक पक्षी वाली कहावत चरितार्थ होती मिलेगी।

"वंग के नृप-संघ ने रघु-पद-कमल में लेट,
उद्धृतारोपित-कलम-सम दी फलों की भेट।"

विजय-वर्णन होगया; बङ्गाल में कलम-नामक चावल की उपज भी बता दी; उनकी पौध को उखाड़ कर फिर लगाने की परिपाटी की ओर भी संकेत होगया; और साथ-साथ उसी पौध की भांति रघु-द्वारा वहां के राजाओं का उन्मूलन और फिर संस्थापन भी कह दिया, और कह दिया दो शब्दों में। प्रकृति और जीवन में कैसी घुर गाँठ लग गई है! आगे देखिये--रघु-हिमालय-प्रान्त में अपनी विजय-भेरी बजा रहा है, जहाँ—

घूमकर लखते गुहाशय केसरी सम-सत्व,
सैन्य-रव में भी जताते थे स्वनिर्भीकत्व॥
वंश मुखरित, मर्मरित कर भूर्ज, गाँग तुषार
लिये पथ में पवन करता था नृपति-परिचार॥
बैठकर मृग-नाभि-वासित प्रस्तरों पर शूर,
जम नमेरू-छांह में, करने लगे श्रम दूर॥
बनी औषधियाँ निशा में दीप स्नेह-विनैव,
चमक जिनसे उठे सरल-निवद्ध द्विरद-ग्रैव॥
ग्रैव-विक्षत देवदारु विलोक, करते ज्ञात,
त्यक्त वासों में गजों का विशद डील किरात॥

यहाँ सैन्य-वर्णन में प्रकृति-वर्णन किस सुन्दरता से जड़ दिया है! वस्तु-सूत्र में प्रकृति किस अद्भुत पटुता से पिरोदी है! हिमालय-प्रान्त की किरातादि जंगली जातियों का, निर्भीक सिंहों का, कस्तूरी-मृगादि पशुओं का, भूर्ज नमेरू, देवदारु आदि

वृक्षों का, स्वयं-प्रकाश रूखड़ियों का, तथा स्थानीय गंगादि नदियों का वर्णन भी हो गया, और सेना के पड़ावों का भी। क्या यहाँ कोई भी कवि हिमालय-जैसे प्राकृतिक सौन्दर्य के भंडार के स्ततंत्र वर्णन के प्रलोभन को रोक सकता था ? परन्तु क्या उस स्वतंत्र-वर्णन में यह स्वाभाविकता आ सकती थी ? कलाकार का कौशल कला को छिपाने में है—इस तत्व को हमारे कवि ने खूब समझा है।

जहाँ कुछ कुछ सोती हुई सी वस्तु नई स्फूर्ति के साथ उठी है, वहां प्रकृति ने भी करवट ली है। हृदय-प्रवाह और प्रकृति-प्रवाह साथ-साथ समवेग से वहे हैं। दोनों का बड़ा ही हृदयंगम सङ्गम हुआ है। महाराज अज के करुण वातावरण के बाद जैसे ही महाराज दशरथ का प्रताप दमकने लगता है, प्रकृति देवी भी वसन्ती वेष-भूषा धारण करके रङ्ग-मंच पर आ विराजती है।

एक-छत्र, वन्दित-विक्रम, यम-धनद-वरुण-हरि-सदृश धुरंधर,
नृप को नव कुसमों से मानो भजने मधु आया तदनंतर।
धनदाशा-विजिगीपु सूर्य-स्यंदन के अश्व सूत ने फेरे,
मलयाचल से निकल, शीत को दल, निर्मल कर दिये सवेरे॥
कुसमोद्भव, फिर नव पल्लव, फिर कोकिलालि-गायन मन-भाया—
इस क्रम से उस क्षण वसंत द्रुमवती वनस्थलियों में आया।
नय-गुण-निपुण, साधु-हित-साधक नृपकी श्री-निमित्त व्याकुलसे
अलि-मराल तालों में गिरने लगे सरस कंजों पर हुलसे॥

महाराज दशरथ का स्वभाव है कि—

"द्यूत न, मृगया-रुचि न, तरुण तन्वी न, न मधु चन्द्रप्रतिमोपम,
पथ-विचलित करते थे नृप को, जब वह करता था उद्योद्यम।"

उन्हीं से कवि को शिकार खिलानी है। क्या करे? वसंत की सारी मदिरा उन पर उड़ेल दी। फिर क्या था—

"विष्णु-वसंत-मार-सम नृप के मन में रुचि मृगया की आई।"

रघुवंश में सब से विस्तृत और शायद सबके सुन्दर ऋतु-वर्णन यही है, और परिस्थिति का तकाजा भी यही था कि वह ऐसा ही हो।

अब जरा आइये और देखिये कि कालिदास के ग्रीष्म में भी क्या मनोमोहकता है। महाराज कुश अपनी कुल-राजधानी में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुके हैं। अयोध्या के निराले ठाठ हैं—

"घुड़सालों में हय, गज-शाला-स्तंभ-नद्ध थे नाग महान;
थे सपण्य आपण,नगरी थी पूर्ण-सज्जिता-नारि-समान।"

सब ठीक ठाक हो गया। महाराज निश्चिन्त हैं। मनोविनोद के लिये उन्हें फ़ुरसत है। कवि ने मौक़ा देख लिया—

मणि-मय चादर, श्वास-हार्य-पट, अति-पाण्डु-स्तन-लंबी माल—
मानो यह तत्प्रिया-वेष करने आगया घर्म उस काल।
लगा दमकने जब कि सामने दक्षिण से हो सूर्य निवृत्त,
सुख-शीतांश्रु-सदृश हिम-वर्षण में उतर दिक हुई प्रवृत्त।
बन में प्रति विकास-सुरभित मल्लिका-कोष मे निज पद डाल,
मानो करते थे सशब्द अलि-गण तद्गणना सांयकाल।
धारागारों में, फुआर यंत्रों को जहां रही थीं व्याप,
चन्दन-जल-निर्धौत शिलों पर सोकर धनिक मिटाते ताप।
थे उस कठिन निदाघ-काल में सबको ये दो कान्त-विशेष—
पद-सेवा से सकल-ताप-हर उदित नरेश, तथा राकेश॥

कठिन-निदाघ काल था ही—

"ग्रीष्म-सुखद तट-लता-सुमन-धर सरयू-जल में, जहाँ मराल
थे लहरों में लोल, हुए रमणियों-संग रमणेच्छु नृपाल।"

संध्या के विश्राम का कैसा शान्त आभास है !

रेवा-तट पर अज का पड़ाव है। वहीं जल को चीरते हुए हाथी का चित्र क्या ही अद्भुत है—

उठा वन्य गज एक नदी से लेकर धौत विमल कट-देश।
ऊपर उड़ते अलि-कुल से था व्यक्त पूर्व ही पय-प्रवेश ॥
धुला धातु, पर रत्नवान-तट पर तद्वप्रकेलि को ज्ञात
करते थे नीलोर्ध्व-रेख-रंजित प्रस्तर-कुण्ठित दो दांत ॥
व्यास तथा संकोच-क्षिप्र कर से वह करी मचाता शोर,
वार्यर्गल-सम तुङ्ग तरङ्गें चला तोड़ता तट की ओर।
शैलोपम वह खींच कण्ठ से शैवल-लता-जाल को संग,
पीछे आप, प्रथम तट पहुँची तत्पीड़ित-जल-राशि-तरङ्ग।

अद्भुत निरीक्षण है ! यहां कवि हाथी की प्रचंडता की ओट में अज की धीरता का भी आभास देता है। अतः भाव-विधान में इस वर्णन का समुचित स्थान है।

कुमार अज को जगाते हुए चारणों की उक्ति में प्रभात की और अज की सुन्दरता तथा महानता का अद्भुत योग है—

मनस्वि-भूषण ! विमुक्त शय्या करो, इतिश्री हुई निशा की।

× × × × ×

रमा-रमण से सुरम्य तो ये पदार्थ दो एक सङ्ग खिलकर,
करें न क्यों सद्य साम्यकी प्राप्तिको परस्पर कुमार! मिलकर—
नयन तुम्हारे, ललाम तारे जहाँ कि भीतर फिसल रहे हैं,
तथा कमल,कोष-मध्य जिनमें मलिन्द अविरल मचल रहे हैं।
कुमार बगलें हिला युगल तब गजेन्द्र निद्रा छुड़ा रहे हैं;
विसार कर तल्प, खींच जंजीर झनझनाती तुड़ा रहे हैं।
बने अरुण दन्त-कोश उनके प्रभात-रवि-कान्ति-योग पाकर,
विदीर्ण मानों हुए कुधर-धातु के तटों का प्रहार खाकर ॥

कालिदास को प्रकृति का एक नशा सा है। पतिंवरा इन्दु-मती को आप भिन्न-भिन्न नरेशों के देशों के प्राकृतिक सौन्दर्य से कैसा ललचाते हैं—

क्या इस तरुण-नरेश-संग रम्भोरु! चाहती हो सुविहार
उद्यानों की, जिन्हें कँपाती है सिप्रा-लहरों की व्यार ?
इस गुरु-भुज की हो अंक-श्री, यदि गौखों से रेवा-धार
लखो सोर्मि माहिष्मति-वप्र-नितंब-लंबि-मेखलानुसार।
बिछें चैत्ररथ-सम वृन्दावन में सेजों पर मृदुल प्रवाल,
मान इसे पति सुन्दरि! उन पर भोगो यौवन-रङ्ग-रसाल।
जल-कण-सिक्त, शिलाजतु-सुरभित शिला-तटों पर हो आसीन,
देखो गोवर्धन-विवरों में मोर-नृत्य पावस-कालीन॥
इसके साथ रमो ताली-वन-मर्मर-मय समुद्र के तीर,
जहाँ लवंग-सुमन ला द्वीपों से हरता है स्वेद समीर।
करो तमाल-पल्लवाच्छादित मलय-वनों की सैर अखंड,
ताम्बूलीमय पूग जहाँ हैं, एला-लता-व्याप्त श्रीखण्ड॥

महाराज अज प्रिया के वियोग में विलाप करते हैं, तो प्रकृति क्यों न करे:—

दोनों के परिजनगण का—सुनकर आर्तस्वर संकुल,
सम दुख से लगे बिलखने—तालों मे विकल विहँग-कुल।
यों कोसल-पति पत्नी को—सकरुण विलाप कर रोये,
स्रुत शाखा-रसाश्रुओं ने—सारे पादप भी धोये॥

निर्वासित सीता बन में ढाड़ मार कर रोने लगी तो—

नृत्य मयूरों ने, वृक्षों ने सुमन, तजी मृगियों ने घास।
बन ने भी अति रुदन किया हो सिया-दुःख से सदृश उदास॥

प्रकृति का कैसा सहयोग और कैसी सहानुभूति है!

यहाँ कालिदास की पैनी दृष्टि की भी बानगी देख लीजिये। महाराज कुश रमणियों के सङ्ग जल-विहार कर रहे हैं—

नौ-मर्दित जल ने जो अंजन किया अगनाओं का लोप,
फेर दिया है वह नयनों में भर मद-जनित लालिमा-ओप ॥
जल-रमणी-रमणी-श्रति-भूषण ये चंचल शिरीष के फूल,
नदी-स्रोत में गिर, शैवल-लोलुप मीनों में भरते भूल।
बिखरे गले हार भी इनके, वारि रही हैं जो कि उलीच,
दीख न पाते कुचोत्पतित मुक्ता-सम ललित शीकरों बीच ॥
नारि-नितंब-सक्त वस्त्रों में शशि-भावृत-उड़-सम अभिराम,
बनी मौन रशनादि, क्योंकि हैं भरे नीर से रंध्र तमाम ॥
सखियों पर सखियाँ इन पर कर होड़ डालतीं कर से वारि,
गिरा रही हैं ऋजु केशाग्रों से चूर्णारुण-कण ये नारि ॥

नहाने से आंखों का कुछ साफ़ किन्तु सुर्ख हो जाना; सरस के फूल का सिवार-गुच्छ सा दीखना, छिद्रों में पानी भरने से बोरों का न बजना, भीगे वस्त्रों के भीतर उनका सूक्ष्माभास होना; भीगे बालों का सीधा हो जाना, और उनकी नौक से लाल जल की बूंदों का गिरना—इन सूक्ष्म बातों के निरीक्षण के लिये कालिदास की-सी सूक्ष्म दृष्टि चाहिये। यह वर्णन इतने मार्के का है कि हमारी राय में कवि ने उसे उसी के लिये किया है। वह यहाँ अपनी बारीकी दिखाने के प्रलोभन को न रोक सका। किराती से मानो कुश नहीं, कालिदास ही उपर्युक्त बातें कर रहे हैं।

अलंकार-विधान—

अलंकार-क्षेत्र में प्रकृति के गुण, कर्म रूपादि का प्रयोग कवि ने इस पटुता से किया है कि उसमें कला-पक्ष और भाव-पक्ष दोनों का सदृश उत्कर्ष सिद्ध होता है। प्रस्तुत भाव को धता

बताकर निस्सार चमत्कार-प्रदर्शन हमारे कवि को पसन्द नहीं है। वर्ण्यावर्ण्य की अद्भुत भावानुरूपता में, पुरुष और प्रकृति के गुण-कर्म-रूपात्मक साम्य-प्रदर्शन में वह अद्वितीय है।

"भीम-मृदु नृप-नीति से, जल-जीव-रत्न-समेत,
सिन्धु-सम, भयदाश्रयद था आश्रितों के हेत।"

महाराज दिलीप के भयावह और मनोहर रूप की अभिव्यक्ति के लिये प्रकृति-भंडार में से कैसी नपीतुली सामग्री निकाल ली !

चिन्ह-रहित-राजश्री-धर, तेजानुमेय भूपति बलवान
थे उस द्विरद समान, गूढ़ जिसका मद तथा गुप्त हो दान।

नरेन्द्र और गजेन्द्र की कैसी सर्वाङ्गीण समता है !

आगे जा नृपाग्र-गामिनि का किया भूप-भामिनि ने मान।
हुई धेनु युग-मध्य रात्रि-दिन-मध्य सुभग संध्या-सी भान॥

इधर राजा, रानी और धेनु, उधर दिन, रात और संध्या ! रूप, रंग समयादि का कैसा बावन तोले पाव रत्ती साम्य खड़ा कर दिया !

पा पितागत राज्य दमका अधिक वह नरपाल,
प्राप्त कर रवि-तेज पावक यथा सायंकाल।

रोज दीखने भालने वाली बातें हैं, पर उनकी जहाँ की तहां जोड़ी मिला देना हमारे कवि का ही काम है।

"पंच भूतों के हुए गुण भी अधिक उत्कृष्ट,
हुआ होते नये नृप के नया सा सब दृष्ट।"

नवीन शरद-काल और रघु का नवीन शासन काल। प्रकृति-जगत और मानव-जगत की कैसी स्वाभाविक नवीनता दिखाई

गई है! यह देखिये रण-मत्त रघु और मद-मत्त गज की प्रचंडता--

हुए रघु-पथ में विफल, या भग्न, या उत्खात-
नृपति, होता द्विरद-पथ में यथा तरु-संघात।

और देखिये क्या अद्भुत भाव-साम्य है--

था महीप अनम्र-घालक सिन्धु-वेग-समान;
सुह्मियों ने की स्वरक्षा वैतसी धर बान।

वही तेजसी रूप, शौर्य, था वही प्राकृतिक दीर्घाकार।
यथा प्रवर्तित दीप दीप से, था न पिता से भिन्न कुमार॥

कैसा सुन्दर दीपक जलाया है! स्वयंवर में कुमार अज के मंचारोहण के लिये इससे अच्छा प्राकृतिक मासाला और क्या हो सकता है--

चढ़ा कुवर नृप-नियत मंच पर सुभग सीढ़ियों उस बार,
शिला विभंगों से ज्यों गिरि के तुंग शृङ्ग पर सिंह-कुमार।

देखिये सुन्दरता और मृदुलता का अद्भुत साम्य--

वेत्र-धारिणी गई नृपान्तर-निकट कुमारी को ले संग,
अन्य वनज तक मानस-हंसी को ले पवनज यथा तरंग।

"है ब्राह्म क्षात्र तेजो का--संगम पवनानल-संगम" में कैसा सुन्दर साम्य और संगम है! मानव-जगत और प्रकृति-जगत का और भी सुन्दर साम्य देखिये:--

हट गया महीप पुराना, आगया नवीन नरेश्वर।
कुल था उस नभ-सम जिसमे--शशि छिपै दिपै दिवसेश्वर॥

रघुवंश में मानव-जगत और प्रकृति-जगत का अद्भुत बिंब-प्रतिबिंब-भाव प्रदर्शित किया गया है। यहाँ "उपमा कालिदासस्य"

इतना भर कह देना कवि के मानव-जगत और प्रकृति-जगत के अद्भुत साम्य-प्रदर्शन का पर्याप्त साधुवाद नहीं है। विकृति से विच्छिन्न हुए प्रकृति-पुरुष का ऐसा सरस, सुन्दर और सुदृढ़ संयोग कराने वाला, मानवता में प्राकृतिकता का और प्राकृतिकता में मानवता का ऐसा गहरा पुट डालने वाला कवि अब तक शायद ही पैदा हुआ हो।

भाव-व्यंजना।

भाषा भाव-व्यंजना का एक साधन है। परन्तु बहुत से कवि और लेखक भाषा को ही साध्य मानकर उसी की छटा दिखाने में कवि-कर्म की इतिश्री समझ लेते हैं। भाव को गौण बनाकर भाषा-चमत्कार दिखाना हमारे कवि को पसन्द नहीं है। महाशय राइडर ने ठीक कहा है--

Kalidas was compeetely Master of his learning. In an age and country which were tolerant of pedantry, he held the scales with a wonderfully even hand, never heedless and never indulging in the elaborate trifling with sanskrit diction which repels the reader from much of Indian literature"

कालिदास में भाव-व्यंजना की अद्भुत शक्ति है। थोड़े में बहुत कहना कोई इनसे सीखले। भावों और मनोविकारों की गहरी अभिव्यक्ति के लिये आप शब्दों पर ही निर्भर नहीं रहते। इंगित, आकृति मुद्रा, व्यापार, वस्तु आदि से बड़ी अच्छी तरह काम लेते हैं। सभी कुशल कलाकार ऐसा करते हैं। कभी-कभी भाव इतने संकुल और गहन हो जाते हैं कि

सीधे सादे वर्णन की उन तक पहुँच नहीं हो सकती। ऐसे स्थलों पर कवि की भाव-व्यंजना की परीक्षा होती है। चित्रकूट में भरतजी को आते देख--

"उठे राम सुनि प्रेम अधीरा-कहुँ पट, कहुँ निषंग धनुतीरा।"

भाव की कैसी गहरी अभिव्यक्ति है और कितने थोड़े शब्दों में! यहाँ भाव-व्यंजना के लिये वर्णनात्मक शब्दों को अपर्याप्त समझ कर कवि को एक दम उठ पड़ने के व्यापार की ओर और निषंग धनुषादि बस्तुओं की ओर निर्देश करना पड़ा। वाच्य से काम न निकलते देख व्यंग्य या ध्वनि का प्रयोग करना पड़ा।

काव्य में ऐसे मार्मिक मनोविकारों की मार्मिक अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और है ही क्या? पद-पद पर कवि को ऐसे स्थलों का सामना करना पड़ता है। इसीलिये उसका यह सर्वोच्च गुण माना गया है कि वह इन स्थलों को पहिचाने और तत्संबंधी भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति करे। यदि यहाँ वह अपने विशाल शब्द भंडार और उसके वाच्यार्थ पर ही निर्भर रहा तो पहाड़ खोद कर चूहा ही निकाल सकेगा। सरल वाच्यार्थ में इतना बूता कहाँ कि मार्मिक भाव की गुत्थी को सुलझा सके। तदर्थ उसे शब्दों के वाच्यार्थ से सीमित न रह कर उनके व्यंग्यार्थ या ध्वनि से काम लेना पड़ता है। फलतः ध्वनि काव्य का भूषण मानी जाती है।

हमारे कवि की सभी कृतियाँ इस अमूल्य भूषण से पूर्णतः भूषित हैं। रघुवंश में हमे यत्र तत्र और सर्वत्र यही ध्वनि गूँजती मिलती हैं। लम्बा रामरसरा कहने के बजाय कवि ने शब्द-संकेतों से ही भाव की गहरी अनुभूति कराई है॥ "अर्थ अमित अति आखर थोरे" यह युक्ति कालिदास की भाषा पर

अक्षरशः घटती है। वह भावों से लदी हुई है। चतुर चितेरे की भांति कवि ने हलके रङ्ग और सधे हाथ से भाव का चहरा भर दिखा दिया है; समस्त अंगों पर चटकदार रङ्गों की व्यर्थ थोपा थोपी नहीं की। भाव-चित्र वर्णनात्मक रीति से नहीं, संकेतात्मक रीति से खींचे हैं। ये संकेत सम्बन्ध, वस्तु-निर्देश, चेष्टा, व्यापार, साम्य, वैपरीत्य, दृष्टान्तादि अनेक ढंगों से किये गये हैं।

प्रयुक्तास्त्र भी यहाँ व्यर्थ होगा नृपवर! मत करो प्रयास।
वृक्षोन्मूलक भी मारुत-बल चलता नहीं अचल के पास॥
हर गिरीश-सित वृष पर चढ़ते कर पद से मम पीठ पवित्र।
गुनो मुझे कुम्भोदराख्य, शिव का सेवक, निकुम्भ का मित्र॥
सो तुम लौटो लज्जा तज, गुरु को दे चुके स्वभक्त्याभास।
शास्त्रारद्य अर्थ कर सकता नहीं वीर-महिमा का ह्रास॥

क्रूर भाव की कैसी संकेतात्मक अभिव्यक्ति है! शिव का सेवक और निकुम्भ का मित्र—इस संबन्ध से सिंह के महत्व की कैसी मार्मिक ध्वनि निकलती है! उसके रौब-दौब का कवि ने कैसा चित्र खींच दिया है! महाराज उत्तर देते हैं—

सो तुम करो कृपा कर मम काया से निज-शरीर-निर्वाह;
छोड़ो ऋषि-गौ को, दिनान्त में वत्स देखता होगा राह।

वत्स के राह देखने के व्यापार में करुणा का कैसा सांकेतिक आभास है! किन्तु राज्यादि वस्तुओं के निर्देश द्वारा फुसलाना भी तो देखिये—

"एक-छत्र यह आधिपत्य! यह कान्त देह! यह आयु नवीन!
अल्प-हेतु बहु खोते होते विदित मुझे तुम बुद्धि-विहीन।"
परन्तु—फिर बोले नर-देव सदय अति सुन शिवानुचर का उच्चार।
तदाक्रमण-कातर नयनों से धेनु रही थी उन्हें निहार॥

"क्षत से त्राण करे-यह ही है 'क्षत्र' शब्द का प्रचलित अर्थ।
तद्विरुद्धचर के हैं निन्दा-कलुषित प्राण राज्य सब व्यर्थ॥
सो वह तुमसे मुक्त मुझे करनी है निज तनुको भी त्याग।
यों न सकेगा तवाहार ही, और न मुनिवर का ही याग॥"

भावो का कैसा उतार-चढ़ाव है! प्रत्येक लहर हृदय को अपने साथ वहा ले जाती है। गौ की कातर चेष्टा मे कितनी करुणा भरदी है!

महाराज रघु की समृद्धि और शक्ति का चित्र देखिये। कितना सांकेतिक है! अन्य जीवों के व्यापारों और शरद्-वर्णन से कवि ने उन्हें कैसा सटा दिया है—

गिरा घन-धनु इन्द्र का, रघु का तना जय-चाप;
युगल धनु धरते प्रजा-हित ओसरे से आप।
गोपियां कृपि को रखातीं, इक्षु-छायासीन,
भूप-यश गाती, सुनातीं कथा शिशु-कालीन।
गुरु-ककुद मद-मत्त सॉड़ों ने सरित्तट तोड़,
भूप के लीला-ललित शूरत्व की की होड़।
द्विरद उसके मद-सुरभि-शारद-सुमन-विक्षिप्त,
डालते मद सप्तधा, मानो असूया-लिप्त।

गुरु-दक्षिणार्थी कौत्स से मृद्भाजन-शेष महाराज रघु की प्रश्नावली सुनिये—

कहो कुशल तो है कुशाग्र-मति! तव गुरु मंत्रकृतों में गण्य,
मिला ज्ञान तुमको सब जिनसे, ज्यों जग को रवि से चैतन्य?
तन-मन-वचन-सतत-संचित, जो हरता है हरि का भी चैन,
कहो त्रिविध तप वह महर्षि का विघ्न-रहित चलता तो है न?
पाले जो सुत-सदृश आलवालादि प्रयत्नों से भरपूर,
वे श्रम-हर आश्रम के तरु क्या हैं वातादि विघ्न से दूर?

मख के कुश में भी अभग्न-रुचि रखते मुनि जिनको कर प्यार,
हैं न स्वस्थ वे मृग-शिशु, तजते जो तदङ्क-शय्या में नार ?

पादप, कुश, मृगादि के निर्देश द्वारा भक्ति, परोपकार, नीति, प्रेम और वात्सल्य का कैसा मीठा पंचाभृत है !

ब्राह्मण कहता है--

समझो हमें सदैव स्वस्थ, है अशुभ कहाँ जब तुम हो नाथ ?
दृष्ट्यावरण न कर सकता तम, जब कि दमकता है दिननाथ।
नृप! वंशोचित पूज्य-भक्ति में गये स्वपूर्वो को भी जीत,
मुझे यही है साल कि आया निकट हुआ जब काल व्यतीत।
सो मैं अर्ध्य-पात्र से तुम को प्रभुशब्दावशेष ही जान,
कहना नहीं चाहता अब कुछ, श्रुत-निष्क्रय है क्योंकि महान।

इस निषेध में कैसा हार्दिक शिष्टाचार है ! किन्तु महाराज रघु का स्वाभिमान-पूर्ण उदार भाव देखिये--

गुरु-निमित्त-याचक, श्रुत-पारग, रघु-सकाश से सिद्धि-विहीन,
अन्य-वदान्य-समक्ष जाय--अवतरे न यह अपमान नवीन।
चतुर्थाग्नि-सम विशद महित मम अग्न्यालय में करो निवास
दिन दो तीन, करूँ तब तक भवदीय-कार्य-साधन-प्रयास।

"रघु सकाश से" में क्या दिव्य स्वाभिमान की झलक है ! "चतुर्थाग्नि-सम"--यह कौत्स का कैसा मार्मिक विशेषण है। हृदय में एक हूक सी उठती है--"कहाँ गये वे राजा, और कहाँ गये वे ब्राह्मण !"

स्वयंवर में इन्दुमती अज पर रीझ गई है। आगे बढ़ती न देख--

हँस कर बोली--वेत्र-धारिणी सखी सखी का लख यह हाल--
"आर्ये ! आगे चलें", वधू ने क्रिये क्रोध से नयन कराल॥

चेष्टा-द्वारा भाव की कैसी बिजली चमका दी! महाराज अज के विलाप में देखिये—हृदय के कैसे मार्मिक उद्गार हैं—

"यदि तनु-स्पर्श सुमनोंका—जीवन को हन सकता है,
तो हनते विधिका साधन—क्या अन्य न बन सकता है?
यदि हार प्राण-हर है तो—उरगत न मुझे क्यों हनता?
दैवेच्छा से विष अमृत, अमृत भी विष है बनता!
या मम-अभाग्य-वश विधि का—बन गई वज्र यह माला,
जिसने न हना तरु,आश्रित—लतिका का वध कर डाला।
जिसका दोहद तुम करतीं—वह फूल अशोक जनेगा।
कच-भूषण कर अब उनसे—कैसे जल-दान बनेगा?
प्रिय शिष्या ललित कला की–शुचि सचिव,सहचरी,नारी;
हर क्रूर काल ने तुमको—हर लिया न क्या मम प्यारी!

कोरी हाय हाय नहीं है। हृत्तन्त्री का भाव-भैरव है। वैपरीत्य ने भाव में कैसी गहराई पैदा करदी है! अब हृदय को तनिक .आश्वासन भी दे लीजिये। वसिष्ठ-शिष्य महाराज को समझाता है—

तन्मरण नृपति! मत सोचो–सब प्राणी मर जाते हैं।
पालो भू, भूप कलत्री–भू से ही कहलाते हैं।
बुध कहैं विकृति जीवों की–जीवन को, प्रकृति मरण को,
है लाभवान् प्राणी जो–ले श्वास एक भी क्षण को।
पामर-समान ।शोकाकुल–मत हो हे विजितेन्द्रिय-वर!
यदि हिलें पवन से दोनों–तो तरु-गिरि में क्या अन्तर?

दृष्टान्त-द्वारा शान्त का कैसा स्वच्छ आभास है! अब तनिक विष्णु भगवान् की वैपरीत्यादि-द्वारा प्रदर्शित अनन्तता और अनिर्वचनीयता का आस्वादन भी करते, और उन लोगों

के मुखों पर धूल डालते चलिये जो कालिदास को कोरा शृङ्गारी कवि ही कहा करते हैं—

करो भव-संभव-भरण-संहरण क्रम के साथ !
है प्रणाम त्रिमूर्ति-वाहक आपको हे नाथ !
अर्थ-साधक हो अनर्थी, अमित हो मित-लोक !
हो जयी अविजित, करो अव्यक्त व्यक्तालोक !
अगम हो हृदयस्थ तुम, तप करो काम-विहीन !
सदय भी अदुखित रहो, प्रभु ! अजर हो प्राचीन !
सर्व-कारण आत्म-भू, सर्वज्ञ हो अज्ञेय !
सर्व-नाथ अनाथ, सब-गत एक हो तुम गेय !
सप्त-साम-स्तुत्य तव सप्ताप शयनागार !
देव ! तुग सप्तार्चि-मुख हो सप्त-लोकाधार !
ज्ञान दायक चार फल का, काल के युग चार,
चार वर्णों का रचो जग, आप धर मुख चार !
योगिजन अभ्यास-द्वारा रुद्ध करके चित्त,
भजें ज्योतिर्मय हृदय-गत तुम्हें मुक्ति-निमित्त !
तुम्हीं में मत-भिन्न सिद्धि-प्रद मिलें बहु राह;
यथा गिरते सिन्धु मे ही विविध गङ्ग-प्रवाह !

भगवान् आविर्भूत होकर रावण-त्रस्त देवताओं को सान्त्वना देते हैं—

"सुर, विमानों में विमल अवगाहते नभ-लोक,
लुकें मेघों मध्य पुष्पक को न अब अवलोक ॥

यहाँ पुष्पक का कैसा सार्थक निर्देश है। अन्त में—

रावणावग्रह-विकल सुर-सस्य पर उस याम
डाल वचनामृत तिरोहित हो गये घनश्याम ॥

कवि पाठकों को एक अतीव पवित्र भाव-लोक में ले गया है। भगवद्भावना से सरस हृदय ओत-प्रोत हो जाता है।

कुछ समालोचकों की सम्मति में हमारा कवि सुन्दर और सुकुमार भाव की जैसी अभिव्यक्ति कर सकता है वैसी क्रूर और प्रचंड की नहीं। कुछ अंश तक यह ठीक भी है। उसकी सौन्दर्य-पूर्ण कोमल कल्पना और मधुर भाषा में क्रूरभावोचित कर्कशता नहीं आ पाती। भवभूति की भाँति उसके वीर रस की धारा में आकाश-पाताल को थर्रा देने वाली भीषणता और तीव्रता नहीं होती। किन्तु उसमें एक बारीक और कुतूहल-पूर्ण भाव अवश्य होता है, जो अन्य कवियों में प्रायः नहीं मिलता—

छुरा-धार-सम खर चक्रों से छिन्न सूत-शिर गज-रण-बीच
गिरते थे सविलम्ब, क्योंकि कच लेते श्येन नखों से खींच॥
निडर सवर्म भटों की नंगी असि गुरु-गज-दन्तों को तोड़,
आग उगलतीं, जिसे बुझाते भीत नाग कर से जल छोड़॥
माँस-प्रिया शिवा भी खग-खंडित भुज-खंड खगों से खींच,
देती डाल सालती थी जब अंगद-कोटि तालु के बीच॥

यहाँ वीर और वीभत्स में प्रकाण्डता कम और सूक्ष्मता अधिक है।

मुद्रा द्वारा प्रदर्शित भाव की प्रचण्डता देखिये—

पहुँचे थे राघव जहाँ, न कहते 'अर्घ-अर्घ' नृप हेरे।
क्षत्रिय-कोपानल-सदृश नयन तारों को तान तरेरे॥
कार्मुक मुट्ठी में जकड़, तथा उँगलियाँ सटा कर शर से,
बोले भार्गव समरेच्छु समक्षागत अभीत रघुवर से—
"यदि इस मद्धनु को बाँध डोर सन्नद्ध करे शर धर के,
तो हुआ पराजित सदृश-बाहु-बल तुझसे बिना समर के।"
बोले यों भार्गव भीम, हँसी से हिले अधर रघुवर के।

नयनों की तरेर और अधरों के कम्प से हृदय को कैसा सटा दिया है !

और भी भाव-मुद्रा देखिये—

मिला राम-लक्ष्मण को माताओं का शोच्य और ही हाल,
कान्त-मरण-वश, ज्यों लतिकों का आने पर आश्रय-तरु-काल,
क्रमशः दोनों ने दोनों वे प्रणत हतारि शौर्य-विख्यात,
हा बाष्पान्ध न लखे, कर लिये सुत-स्पर्श-सुख से ही ज्ञात।
सदय सुताङ्गों पर छूतीं दनुजास्त्रों के गीले से घाव,
क्षत्राणीप्सित भी न 'वीरसू' पद का वे करती थीं चाव।

"और ही हाल" में कितना भाव भर दिया है ! आखें बन्द हैं; हाथ काम कर रहे हैं। माता के हृदय की कैसी अनोखी झांकी है !

लक्ष्मण से अपने परित्याग का प्रचण्ड सन्देश सुनकर सीता—

अपमानानिल-निहत, गिराती भूषण-सुमन, लतासी वाम,
निज-शरीर-संभव-कारिणि-धरिणी-ऊपर गिर पड़ी धड़ाम ॥

धड़ाम गिर पड़ने के व्यापार ने भाव के तीव्र वेग की कैसी तीव्र अभिव्यक्ति कर दी है !

परित्यक्ता देवी पति को यह संदेश भेजती है—

"क्या यह प्रथित-कुलोचित है," कह देना उस नृपाल से लाल !
"आगे अग्नि-शुद्ध भी मैं सुन लोक-वाद दी जो कि निकाल ?
या न मानती इसको मैं तुझ भद्र-बुद्धि का स्वेच्छाचार।
है यह मेरे ही अतीत-दुष्कर्म-विपाक-वज्र की मार ॥
दनुजाक्रान्त तपस्विनियों को त्वत्प्रसाद से दे विश्राम,
मैं कैसे लूँ शरण अन्य की आज तुम्हारे रहते राम ?

बिछुड़ सदा को तुमसे इस हत जीवन का रखती न विचार,
विघ्न न यदि बनता त्वदीय–अन्तस्थ-गर्भ-रक्षण का भार ॥
सो मैं जन संतान, सूर्य पर जमा दृष्टि, साधूँगी योग,
जिससे मिलो तुम्हीं फिर पति, जन्मान्तर में भी हो न वियोग ॥"

इसे कविता कहें या हृदय को चीरने वाली करवाल! "कह देना उस नृपाल से लाल!" में "नृपाल" शब्द कैसी मार्मिकता से ओत-प्रोत है!

अन्त में—पति-दत्तेक्षणा सिया को, उर पर धर धरणी धाई
भूतल को, 'मतहर! मतहर!!' कहते छोड़े रघुराई ॥

'मतहर! मतहर!!' में राम के खिसियानपट का कैसा अच्छा आभास डाल दिया है! आगे देखिये अयोध्या की समृद्धि और उजाड़ का विरोध दिखाकर कवि ने भाव में कैसी मार्मिकता पैदा कर दी है—

अभिसारिका-सुनूपुर करते जहाँ रात्रि में थे झनकार,
आमिष वहाँ हेरते फिरते सरव-मुखोल्का से अब स्यार।
युवति-कराहत जो करता था ध्वनि मृदङ्ग की सी गम्भीर,
वन्य-महिष-शृङ्गाहत रोता आज वापियों का वह नीर।
यष्टि-भंग-वश बसे द्रुमों में, नाचें सुन न मुरज की घोर;
दावानल से तचे बचे पर, बन-चर बने पालतू मोर।
प्रमदा-प्रतिमा-स्तम्भ हो गये धूसर, भंग हुआ है रङ्ग।
नाग-मुक्त निर्मोक-पटल हैं तत्पट सटे कुचों के संग।
लचा डाल ललनाएँ जिनके दया-सहित लुनती थीं फूल,
अब उन उपवन-वल्लरियों को वानर-वननर देत शूल।
उठै खिड़कियों से न धूम, मकड़ों ने जाल दिये हैं तान;
दीप-तेज यामिनि में, कामिनि-मुख जिनमे दिन में दिखता न।

पुलिनों पर पूजा न, स्नान-रागादि-रहित है सरयू-नीर,
शून्य तीर पर निरख आज वानीर-पुञ्ज होती है पीर।

× × ×

विस्तार-भय-वश अधिक उदाहरण नहीं दिये जा सकते। शब्द-संकेत द्वारा भाव-संकेत करने में हमारा कवि अद्वितीय है। वह लम्बी वर्णनात्मक गाथा न गाकर वस्तु, व्यापार, मुद्रा, विरोध, साम्यादि द्वारा कुछ ऐसे अद्भुत संकेत कर देता है कि उसके दो शब्द ही भाव के चेहरे को आँखों के सामने खड़ा कर देते हैं।

भाव और अलङ्कार—

अलङ्कारों के प्रदर्शन के लिये भी कवि की ओर से कोई विशेष प्रयत्न नहीं हुआ। भाव के प्रभाव और प्रकर्ष से अलङ्कार स्वयं खिच आये हैं और भाव में ऐसे समा गये हैं कि उनकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं रही है।

प्रयत राम कुल-गुरु-वन्दन कर, मिले भरत से अर्घ्य ग्रहण कर,
किया भ्रातृहित-राज्य-तिलक-त्यागी ललाट का घ्राण रुदन कर।
रावण-विनय-विघात-दृढ़व्रत, ज्येष्ट-बन्धु-परिचर्या-तत्पर—
वन्द्य सिया-पद, जटिल भरत-शिर युग मिल पावन बने परस्पर।
पुरुषोत्तम हरि, तथा त्रिलोचन हर हैं एक एक ही जैसे,
कहे शतक्रतु मुझको ही मुनि, पर-वाची न नाम मम तैसे।

यहाँ परिकर और परिकरांकुर के प्रयोग ने थोड़े से शब्दों में ही बहुत प्रसंगोचित भाव भर दिया है।

संग इन दो पर चढ़ा मातङ्ग--गति नरपाल--
जनक-सिंहासन, तथा निज शत्रु-संघ विशाल।
उनके हर्ष-स्वर केसँग फिर तत्क्षण उठा व्यथा विसराकर।
लख उसे राम की बाण-संग वनिता-वध-करुणा छूटी।

सहोक्ति में कितनी भाव-पोषकता है !

वेदिका का सूख भी पाया न अभिषेकाप,
भूप का वेलान्त तक फैला प्रचण्ड प्रताप।
तरी लौहित्या, कँपा कालागरु-द्रुम-संग,
कामरूप-नरेश, जिनसे बँधे रघु-मातङ्ग।

चपलातिशयोक्ति स्वभावोक्ति सी बन गई है !

अनुनय किया प्रणत मैंने जब, आया ऋषि-वर में मृदु भाव,
अनल-ताप से जल होता है उष्ण, शैत्य है किन्तु स्वभाव।
लोक-भूति-निमित्त ही वह कर उघाता वीर,
एक गुण ले, सहस गुण रवि फेरता है नीर।
कोष है आश्रयद, संचित अतः करता वित्त,
टेरते सारङ्ग केवल सजल मेघ निमित्त।

अर्थान्तरन्यास का कैसा स्वाभाविक और भावानुकूल विन्यास है !

शर-भिन्न हुआ उर, गिरी, मही ही कँपी नहीं कानन की,
त्रिभुवन-जय-स्थिरा कँपी किन्तु लक्ष्मी भी दश-आनन की।
अतिथि-शिर पर ही तना था छत्र निर्मल कान्त,
पर हुआ कुश-विरह-ताप समस्त जग का शान्त।

असंगति की भाव के साथ कैसी सुन्दर संगति बैठ गई है !

लघु नृप से रघु-कुल था उस नभ, कानन, या कासार-समान,
जहाँ एक हो नव-शशि, हरि-शावक, या पुष्कर कुड्मलवान।
अन्त्य-कला-स्थित-शशि-युत-नभ-सा, पंक-शेष आतपका सर-सा,
लघु-शिख-दीप-पात्र-सा वह कुल विमल क्षयातुर नृप ने दरसा।

मोलोपमा ने भाव की तिगुनी पुष्टि करदी !

ढुरते थे चहुँ ओर चौर, दो लटें कपोलों पर थीं लोल,
जलधि-तटों पर भी न कटा शिशु-मुख से निकल गया जो बोल।
सरस-सुमन से भी कोमल भूषण से वह जाता था हार,
किन्तु धरा शिशु ने वसुन्धरा का नितान्त भारी भी भार।

विभावना ने प्रस्तुत भाव को बहुत ही सुन्दर और सुदृढ़ बना दिया है।

ली दिशों ने, था सुरों को जहाँ असुर-त्रास,
जन्मते चतुरूप हरि के शुचि-पवन-मिस श्वास।
खस पड़ीं मणियां दशानन-मुकुट से उस काल,
दनुज लक्ष्मी अश्रु जिनके मिस रहीं थीं डाल।
सित-केश-मिस मनुजेश से कैकेयि-भय से कातरा,
"दो राम को श्री"–कह गई श्रुत-मूल मे मानो जरा।

कैतवाह्नति ने भाव-व्यंजना में बहुत ही मनोरमता पैदा कर दी है।

करके श्रवण उस भाँति से गुरु-मरण का संकट नया,
केवल न मा से, मन रमा से भी भरत का हट गया।
आयुध उठाते देख आते क्रुद्ध उनको सामने,
सौंपी जयाशा धनुप को, सीता अनुज को राम ने।
रण के लिये यह ठान कर लङ्केश निकला धाम से—
"संसार होगा आज रावण से रहित या राम से।"

देहरी-दीपक का इससे अधिक भाव-पोषक और क्या प्रयोग हो सकता है!

कैकेयी के प्रचंड वर मांगने और कुम्भकर्ण-वध के भावों को उत्प्रेक्षा ने कैसा गहरा बना दिया है—

मन कान्त से, तद्दत्त चण्डी ने दिये वर डाल दो,
मानो निकाले आर्द्र अवनी ने बिले से व्याल दो।

प्रिय-निद्र वह असमय प्रबोधित भ्रातृ-द्वारा हो गया,
मानो अतः राघव-शरों से फिर सदा को सो गया ।

नीचे के छन्दों मे स्मरण का मार्मिक प्रयोग देखिये—

नृप के, निरख मृग-नयन चंचल चकित मारे त्रास के,
आये स्मरण-पथ में प्रगल्भ प्रिया-कटाक्ष विलास के ।
किया बाण का लक्ष न उसने रुचिर-पक्ष-धर मोर,
यद्यपि आ कूदा था वह अति निकट अश्व की ओर ।
रति में मग्न, विविध वर्णों के गूँथे जिनमें हार,
उन कामिनी-कचोंका झट मन में आगया विचार ।

आगे देखिये तुल्ययोगिता का क्या ही मनोहर प्रयोग हुआ है—

पीला मुख, ढीला स्वर, कम भूषण धर, चलने लगा सहारे ।
कामुकता-वश सम गति में नृप-चन्द्र पड़े यक्ष्मा के मारे ॥
थे उस कठिन निदाघ-काल में सब को ये दो कान्त विशेष—
पद-सेवा से सकल-ताप-हर उदित नरेश तथा राकेश ॥

निम्न-लिखित छन्दों में रूपक की छटा देखिये—

रावणावग्रह-विकल सुर-सस्य पर उस याम,
डाल वचनामृत तिरोहित हो गये घनश्याम ।
किया भूमि-भामिनि का जल से जब वराह-वर ने उद्वाह,
बना क्षणिक अवगुंठन इसका विमल प्रलय-कालीन प्रवाह ।

उपमा तो हमारे कवि से संसार का कोई कवि सीखले—

सीते लखो मलय तक फेनिल सलिल-राशि मम सेतु-विभक्त,
यथा सतारक शुभ्र शरद-नभ छाया-पथ से होता व्यक्त ।
वही तेजसी रूप, शौर्य, था वही प्राकृतिक दीर्घाकार ।
यथा प्रवर्तित दीप दीप से, था न पिता से भिन्न कुमार ।

गये सुर पौलस्त्य-पीड़ित हरि-निकट उस काल,
पथिक छाया-तरु तकें ज्यों ताप सह विकराल।

महाकवि कालिदास का एक-एक श्लोक अलङ्कारों का एक-एक बण्डल है; और प्रत्येक बण्डल भाव की रस्सी से बँधा हुआ है। अलङ्कार सर्वत्र भाव के पोषक रहे हैं, और भावों तथा अलङ्कारो का सर्वत्र अङ्गाङ्गी-सम्बन्ध रहा है।

जीवन और आदर्श।

काव्य का सन्देश

कवि मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति को छेड़ कर उसे अपने वश में इस प्रकार कर लेता है जैसे सपेरा बैन बजाकर सांप को। उसकी ऐसी नस पकड़ लेता है कि फिर वह उसके काबू से बाहर जाता ही नहीं।

यदि उसने इस वशीकरण मंत्र का, इस संमोहनास्त्र का दुरुयोग कर डाला तो समाज के सत्यानाश का बीज बो दिया, और यदि उनका सदुपयोग किया तो निस्सन्देह संसार के अभ्युदय का श्रीगणेश कर दिया। इसीलिये कलात्मक सौन्दर्य काव्य का मुख्य गुण होते हुए भी उसका सर्वेसर्वा नहीं कहा गया। सौन्दर्य की पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ काव्य भी उच्चकोटि का काव्य नहीं है, यदि वह मनुष्य को उच्च सन्देश नहीं देता। कविता-जीवन की रागात्मक व्याख्या है, जो जीवन के लिये ही की गई है। वह जीवन में जितना हर्ष का संचार करे उतना ही उत्कर्ष का भी; उसे जितना मुग्ध करे उतना शुद्ध और बुद्ध भी। हमारे आचार्यो ने काव्य के संदेश को उसका एक महत्वपूर्ण अङ्ग माना है। काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने कहा भी है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

महाकवि कालिदास की कलात्मक कमनीयता पर विचार हो चुका। अब यह देखना है कि यह किसी विष-कन्या की कमनीयता तो नहीं है। हमारी राय मे ही नहीं, संसार की राय में कालिदास की कविता का जैसा सुन्दर स्वरूप है, उसका वैसा ही उच्चसन्देश भी है। यदि वह विष-भरी स्वर्ण गागर होती तो कभी की तोड़-फोड़ दी गई होती। आज पन्द्रह शताब्दियों के पश्चात् सभ्य और स्याना संसार उसे भूलोक और स्वर्गलोक को जोड़ने वाली स्वर्ण-शृंखला न कहता।

कालिदास के जीवन में हम एक निराली सम्पूर्णता पाते हैं। उसमे क्रीड़ा और कर्तव्य का, राग और विराग का, दया और दण्ड का, हिंसा और अहिंसा का,—संक्षेपतः सम्पूर्ण श्रेय और प्रेय का समष्टि और व्यष्टि रूप से यथास्थान सन्निवेष है। इस जीवन में ऐकान्तिकता और अव्यावहारिकता का लेशमात्र भी नहीं है। उसमे एक विचित्र और व्यापक समन्वय है। ऐसी सर्वाङ्गीणता, ऐसी शबलता, और ऐसी अनेकरूपता शायद ही किसी जीवन मे मिले।

प्रणय-पद्धति—

लोग कालिदास को एक शृंगारी कवि कह कर ही तुरन्त छुट्टी पा लेते हैं, और उसके प्रणय और शृङ्गार के उच्च आदर्श तथा सात्विक संदेश की ओर ध्यान नहीं देते। यहाँ हम कालिदास की प्रणय-पद्धति पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करते हैं।

रघुवंश को छोड़कर हमारे कवि की सभी कृतियाँ प्रणय-प्रधान हैं, किन्तु हमे किसी का भी प्रणय उदात्त मानवधर्म से रगड़ खाता नहीं मिलता; प्रत्युत उसका पोषक ही रहा है। प्रणय के आलम्बन अन्यान्य सभी मनुष्योचित गुणों के आलम्बन रहे हैं। उसका दुष्यन्त प्रणय की पङ्क में फँसा दीखता है, किन्तु उससे उसका क्षात्रधर्म तनिक भी कलुषित नहीं होता। इन्द्र का रण-निमन्त्रण पाते ही वह अपने प्रणयी जामे को फेंक कर बद्ध-कार्मुक बन जाता है, और प्रिया-वियोग में अश्रु-वर्षा करने के बजाय, कर्तव्य का तकाजा होने पर, दुर्दान्त दैत्यों पर बाण-वर्षा करने लगता है। उसकी शकुन्तला भी प्रणयिनी से तपस्विनी बन सकती है। उसका अग्निमित्र मालविका के प्रणय-पाश में बद्ध है, किन्तु साथ ही उसकी विजय-भेरी भी देश मे बज रही है। उसका पूरूरवसु उर्वशी-प्रेम में मग्न है, किन्तु उसके शौर्य की स्वर्ग में भी इतनी धाक है कि स्वयं इन्द्र उसकी सहायता का अभिलाषी रहा करता है। उसके महादेव तो महादेव हैं हीं! उन्होंने काम-भावना ज्ञाना-नल से दग्ध कर दी है। पार्वती की प्रचण्ड तपस्या ही उनको आकर्षित कर सकती है, उसकी शारीरिक सुन्दरता नहीं। संसार के हित-साधन के लिये वैरागी को रागी बनाना पड़ता है। प्रणय और लोक-संग्रह की अद्भुत संधि है! उसका यक्ष कर्तव्य-भ्रष्ट होने के कारण ही निर्वासित होता है, और उसकी वियोग-विधुरा यक्षिणी अलका-जैसी पुरी के कल्पना-तीत भोग-विलास को लात मार कर वियोगावधि के दिन गिनती रहती है। उसकी सीता परित्यागी पति का भी जन्म-जन्म संयोग प्राप्त करने के लिये योग-साधन करना चाहती है। वास्तव में कालिदास के किसी भी प्रणयी का प्रणय स्वच्छ जीवन-धारा का अवरोध नहीं करता; प्रत्युत कहीं-कहीं तो उसे

तीव्रतर बनाता है। प्रणय कहीं भी इतना ऐकान्तिक नहीं बना कि वह लोक, धर्म, नीति, मान, मर्यादादि से विमुख हो गया हो। वह सर्वत्र इनका अनुगामी रहा है, और इनकी रक्षा के लिये उसने अपने आपको विस्मृत भी कर दिया है। हमारा कवि स्वच्छ सात्विक प्रणय का पोपक है, और कामुकता का वह एक दम खोज मिटा देना चाहता है। रघुवंश का कामुक राजा अग्निवर्ण इस बात का साक्षी है। अतः कालिदास के प्रणय का आदर्श बहुत शुद्ध, उच्च, और व्यापक है।

आध्यात्मिक आदर्श—

कालिदास का आध्यात्मिक आदर्श भी बहुत ही उदार और उच्च है, और उसमें संकीर्ण साम्प्रदायिकता का लेशमात्र भी नही है। व्यक्तिगत साधना के लिये वे शैव अवश्य हैं, किन्तु सिद्धान्ततः उनके शिव ब्रह्म-वाची है, जिनकी वे इस प्रकार प्रार्थना करते हैः—

वेदान्तेषु यमाहुरेक पुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी,
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः,
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभि र्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते,
स स्थाणुः स्थिरभक्तिभोगसुलभो निश्रेयसायास्तु वः

(विक्रमोर्वशीय—१)

ब्रह्मा की स्तुति देवताओं से इस भांति कराई है—

आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना,
आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे।

(कु०सं० २—१०)

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्,
तद्दर्शनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः।

(कु०सं०२—१३)

विष्णु की भी इसी भाव से स्तुति की गई है—

सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः,
सर्वप्रभुरनीशस्त्वं एकस्त्वं सर्वरूपभाक् ॥ र० वं० १०-२०
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये ॥(र०वं०१०-२३)

विधि-हरि-हर तीनों एक ब्रह्म की गुण-भेद से तीन अवस्थाएँ हैं—

तिसृभिस्त्वामवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन्,
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां ययौ (ब्रह्मास्तव-कु०सं०२-६)
नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनुबिभ्रते,
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने (विष्णु-स्तव र०वं० १०-१६)

ईश्वर की प्राप्ति के लिये कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों की सार्थकता स्वीकृत की है, किन्तु उसे, 'भक्तियोगसुलभ' मान कर भक्ति-मार्ग का विशेष समर्थन किया है। भक्ति-क्षेत्र में वह निर्गुण और अजन्मा ब्रह्म सगुण और सजन्मा होता है— 'लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः' (र० वं० १०-३५) कालिदास उसकी सगुण सत्ता का, और सेव्य तथा लोकपालक स्वरूप का ही सेवक-रूप से अधिकतर आवाहन करते हैं, और उसी की भाव-साधना। किन्तु इनकी ईश्वर-भावना में एक अतीव उदार समन्वय है—

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे (र० वं० १०-२६)

सामाजिक आदर्श—

सामाजिक क्षेत्र में कालिदास श्रुति-स्मृति-विहित व्यवस्था के प्रेमी और प्रचारक हैं। वे मनु-प्रणीत वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार समाज का संचालन चाहते हैं। वर्ण-विरुद्ध कर्म के वे

घोर विरोधी हैं। श्रीराम-निहत शम्बुक की सद्गति-प्राप्ति पर मनुजी के स्वर में स्वर मिलाकर आप यह टिप्पणी देते हैं--

सद्गति श्वपाक ने पाई--नृप से ही निग्रह पाकर,
पाई न घोर तप से भी--जो किया स्वमार्ग गँवाकर ॥

स्त्री-समाज के लिये उनके हृदय में बड़ा उच्च स्थान है। धर्म-संकट में पड़ी हुई शकुन्तला के गौरव की रक्षा उन्होंने बड़ी मार्मिक रीति से की है। सब से ठुकराई हुई उस साध्वी को लिवाने के लिये स्वर्ग की अप्सरा बुलाकर कवि ने सतियों के प्रति अपनी पूर्ण श्रद्धा का परिचय दिया है। परित्यक्ता सीता की प्रार्थनानुसार उसे लेने के लिये सिंहासनस्थ देवी वसुन्धरा का प्रादुर्भाव दिखाकर कवि ने सती सीता के गौरव का निर्वाह बड़े ही हृदयग्राही रूप से किया है, और पति के ऊपर पत्नी की पूर्ण विजय दिखाकर सतियों के प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति का अचूक प्रमाण दिया है।

राजनैतिक दृष्टिकोण—

रघुवंश में हम महाकवि कालिदास को प्रच्छन्न राज-नीतिज्ञ और राष्ट्र-प्रेमी पाते हैं, जिसका ममत्व सम्पूर्ण भारत-वर्ष से है। देश के प्रत्येक प्रान्त, नदी, पर्वत, वनादि का हमारे कवि ने अपनी कृतियों मे अतीव ममत्वपूर्ण वर्णन किया है। वास्तव में कालिदास एक राष्ट्रीय कवि है। उसकी राष्ट्र-भावना बहुत ही प्रौढ़ है।

वह अपने हृदय में देश के अभ्युदय की उत्कट इच्छा मात्र नहीं रखता, प्रत्युत उसके सामने एक ठोस राजनैतिक आदर्श भी रखता है, और उसके अनुसरण के लिये देश को प्रोत्साहित करता है, उसे ललकारता है। रघुवंश की विशाल राज-परंपरा के आदर्श को भारतवर्ष के सामने रखकर उसने उसको

सर्वाङ्गीण विकास का उच्च सन्देश दिया है। एक दो महान् नरेशों के प्रादुर्भाव और अभ्युत्थान से उसे संतोष नहीं है। वह भारत-वसुन्धरा में एक विशाल भारतीय राज-सत्ता की अनन्त-काल-पर्यन्त बहती हुई विशाल धारा देखने का अभिलाषी है। वह देश में उन नरेशों की एक लंबी स्वर्ण-शृंखला देखना चाहता है—

सतत शुद्ध फलाप्ति तक जो कार्य में थे लीन,
नभग-रथ-पति, जलधि तक वसुधाधिपति स्वाधीन;
रहे जिनके दान, दंड-विधान, यज्ञ, विचार—
अर्थि-रुचि, अपराध, विधि, औ समय के अनुसार;
धनिक जो दानार्थ, मित-भाषी रहे सत्यार्थ,
यश-निमित्त जिगीषु, और गृहस्थ सन्तानार्थ।
किया शैशव मे पठन, तारुण्य में उपभोग,
तप जरा में, अन्त मे देहान्त करके योग॥

उसकी इस परंपरा में सर्वतोमुखी विभूति है। वह विजय और विनय, लोक-शासन और आत्म-शासन, निग्रह और अनुग्रह, भोग और योग, क्षात्र शक्ति और ब्राह्म शक्ति की यमुना और गंगा को साथ साथ बहा कर उन्हें अनन्त सुख-समुद्र में गिरा देना चाहता है। वह शस्त्र-बल पर सदा शास्त्र-बल का नियन्त्रण और दोनों का सुन्दर सम्मिश्रण रखना चहता है। उसकी राय में "है ब्राह्म क्षात्र तेजों का-संगम पवनानल-संगम।" उसका आदर्श नरेश समस्त मानवी विभूतियों का केन्द्र है, और उसमें सब वृत्तियाँ यथा- स्थान यथोचित रूप से सन्निहित हैं। उसके राजनैतिक आदर्श में शुष्क, कट्टर और अव्यावहारिक शौचवाद (Puritanism) को स्थान नहीं मिला। उसके नरेश भोग करने वाले भी हैं, और प्रचंड योग के द्वारा शरीर को समाप्त भी कर सकते है। वह इन

परस्पर-विरोधिनी वृत्तियों के विरोध को दूर करना और उनमें साम्य तथा समन्वय स्थापित करना चाहता है। वह प्रेय और श्रेय को एक कर देना चाहता है। प्रथम का द्वितीय पर आधिपत्य देखकर हमारा कवि तिलमिला जाता है। कामुक अग्निवर्ण की अधोगति का नंगा चित्र खींचकर उसने देश के तत्कालीन विलासी नरेशों को ललकारा है। रघुवंश की कहानी उसकी उच्च, स्वच्छ, और सात्विक रुचि का अचूक प्रमाण है। उसके द्वारा हमारा कवि भारतवर्ष के राजकुल को यह सन्देश देता है—

"हे भारतीय राज-कुल ! लोकोत्तर चरित्र से तेरा लोकोत्तर विकास हुआ था, किन्तु जब से तेरी शक्ति बिखरी और तू विलासी बना, तेरा ह्रास होता गया। संसार पर तेरे महान् अतीत की धाक अब भी जमी हुई है, और अब भी देश आशा करता है कि तू फिर रघु और राम-जैसे नरपालों की स्वर्ण-शृंखला रचकर भविष्य में अपनी महान् परम्परा को चालू रक्खेगा।"

डा० कीथ को यह शिकायत है कि कालिदास ने जीवन के गूढ़ रहस्यों को नहीं सुलझाया; जीवन और भाग्य की जटिल समस्याओं की ओर ध्यान नहीं दिया; संसार को यातनामय रूप में नहीं देखा; और दीनो के दुर्भाग्य पर सहानुभूति नहीं प्रदर्शित की।

हम डाक्टर महोदय की इस सम्मति से सहमत नहीं हैं। कालिदास के भाव-जगत में सौन्दर्य, सौकुमार्य, आनन्द, क्रीड़ादि की धूम अवश्य है, किन्तु वह जीवन के गहन रहस्यों से, उसकी यातनाओं और बिडम्बनाओं से भी शून्य नहीं है। उसमें हँसाने वाले दृश्य भी हैं और रुलाने वाले भी; हृदय को विस्मित करने वाले भी हैं, और उसको शुद्ध-बुद्ध, शान्त

और संयत करने वाले भी। कुमारसम्भव एक रहस्य की पिटारी है। शायद डा० कीथ ने उसके सब पटलों को खोलकर अच्छी तरह नहीं देखा। महादेव के ललाटस्थ नेत्र की अग्नि (योग-शक्ति) से कामदेव का भस्म होना; उनका उमा के अतीव सुन्दर रूप पर नहीं, किन्तु तप पर रीझना; दनुजाक्रान्त संसार की रक्षा के लिये निवृत्ति-परायण बाबाजी का भी गृहस्थ बनना; प्रचण्ड तप करनेवाले दम्पति के संयोग से कार्तिकेय-जैसे प्रचण्ड दैत्य-कुल-घालक वीर का जन्म होना इत्यादि बातें जीवन के महत्व-पूर्ण रहस्य नहीं तो और क्या हैं? क्या इनमें जीवन के उच्चातिउच्च सन्देश नहीं भरे हुए हैं? क्या रघुवंश की कहानी में, जिसका उल्लेख हो चुका है, एक गहन तथा अतीव उच्च आदर्श का समावेश नहीं है?

रही दीनों के दुर्भाग्य और संसार के यातनामय रूप को न देखने की बात, सो वह भी निराधार ही है। साधारण स्त्री-पुरुषों की कौन कहे, कालिदास के जगत में बड़े-बड़े राजकुमार और राजकुमारियाँ भी यातना-जाल में फँसी हुई दीखतीं है। प्रिया के साथ राजोद्यान में आमोद-प्रमोद करने वाले महाराज अज पर एकदम दुर्भाग्य का वज्र गिर पड़ता है! कल अयोध्या के रङ्गमहल में विहार करने वाली सीता आज निस्सहाय होकर बन में ढाड़ मारती दीखती है! कल काम-केलि में मग्न अग्निवर्ण आज यक्ष्मा का शिकार बना मृत्यु-शय्या में पड़ा-पड़ा मौत के दिन गिनता दिखाई देता है। तारक और रावण के अत्याचारों से व्यथित जगत का यातनामय रूप, तथा दनुजाक्रान्त तपोवनों की दयनीय दशा देख कर, और वहाँ के ऋषि-मुनियों की त्राहि-त्राहि सुनकर भी डाक्टर कीथ ने कालिदास की यह शिकायत क्यों कर डाली?

हमें तो महाकवि कालिदास की कला अनिर्वचनीय चमत्कार से परिपूर्ण प्रतीत होती है। उसमें यथार्थवाद और आदर्शवाद का अद्भुत सम्मिश्रण है। उसमें जितनी सुन्दरता है, उतनी ही उपादेयता भी। वह जीवन की सर्वाङ्गीण व्याख्या है; मानव-हृदय की असंख्य प्रवृत्तियों, शक्तियों और रुचियों का प्रत्यक्षीकरण है। वह एक विशाल रत्नाकर है, जिसके गहरे गर्तों में रत्नों के ढूह लगे हुए हैं। इनकी चमक-दमक ने भारत को ही नहीं, संसार को मुग्ध कर लिया है। हमारा महाकवि विश्व की विभूति है।

उपसंहार।

पाठक-प्रवर ! भगवती भारती के पूर्णावतार कालिदास की रघुवंश-जैसी कृति के यथोचित विवेचन और पद्यानुवाद के लिये अपने को अपर्याप्त समझता हुआ भी यदि मैं इस क्षेत्र में कूद पड़ा हूँ, तो इसका दोष मेरे सिर नहीं, उस कविवर के ही सिर है जिसकी कृति के लिए उसी के स्वर में स्वर मिलाकर मुझे भी यह कहना पड़ता है—"तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः"

रघुवंश को पढ़कर तबियत फड़क गई। अनुवाद शुरू कर दिया। पूज्य-पाद पिता जी ने प्रथम प्रयत्न की बड़ी सराहना की। शायद उसकी तह में पुत्र-मोह ने भी काम किया हो। कुछ भी हो। बहुत प्रोत्साहन मिला। फल-स्वरूप आज यह पुस्तक दिखाई देती है, परन्तु इसके प्रेरक पिताजी नहीं दीखते। वे इसे अधूरी ही छोड़ गये। जिस चीज को हाथों में लेकर वे चूमते और छाती से लगाते, वह आज उनका स्मारक-मात्र बन सकी है। दैवेच्छा बलीयसी।

मेरा यह प्रथम प्रयास है, और वह भी जीवन के उस समय में किया हुआ जब मैं अतीव अस्वस्थ और अशान्त रहा। अतः त्रुटियाँ बहुत निकलेंगी। कुछ को तो मैं स्वयं जान सका हूँ; औरों की सूचना के लिये सहृदय पाठकों और समालोचकों की प्रतीक्षा करूँगा, और यदि इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण की आवश्यकता पड़ी, तो उसमें उनका संशोधन कर दूँगा।

अनुवाद यथाशक्ति भावानुकूल किया है। वर्णों या मात्राओं का वज़न भी प्रायः एक सा ही रक्खा है। बीस मात्रा या वर्ण वाले श्लोक को लगभग इतनी ही मात्रा या वर्ण वाले छन्द में परिवर्तित किया है। इससे भाषा कुछ क्लिष्ट हो गई है, किन्तु वह सर्वत्र कोश-साध्य है। आजकल की छायावादिनी भाषा की भांति अर्थ करने में कोश के भी होश भुलाने वाली, और बुद्ध को भी बुद्धू बनाने वाली नहीं है। अन्त में बहुत से क्लिष्ट शब्दों के अर्थ भी दे दिये है।

अनुवाद में मूल का सा आनन्द तो नहीं आ सकता, किन्तु यदि यह पुस्तक उसका एक अंश भी पाठकों को दे सकी; महा कवि कालिदास की काव्य-कला के महान् सौन्दर्य और सन्देश की ओर हिन्दी-जगत को कुछ भी आकर्षित कर सकी; पश्चिमी काव्यादर्श का अन्धानुकरण करने वाले साहित्य-सेवियों को अपने घर की खोज करने के लिये तनिक भी उकसा सकी, और यदि बड़े जटिल और विशाल वाग्-जाल में भाव की छोटी सी चुहिया पकड़ने वालों को कालिदास की गागर में सागर भर देने की रीति का थोड़ा सा भी आभास दे सकी, तो लेखक अपने श्रम को पूर्णतः सफल समझ लेगा—तथास्तु।

भूमिका के लिये मैंने इस सामग्री से सहायता ली है:—

(१) मालविकाग्निमित्र (सम्पादक–श्रीरंग शर्मा और आर. डी. करमारकर एम. ए.)

(२) विक्रमोर्वशीय (सं० एम. आर. काले. बी. ए.)

(३) ऋतु-संहार (सं० वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पाणिष्कर)

(४) अभिज्ञान शाकुन्तल (सं० एम. आर. काले. बी. ए.)

(५) रघुवंश (सं० काशीनाथ पांडुरंग परव)

(६) रघुवंश (सं० एम. आर. काले. बी. ए.)

(७) कुमारसम्भव (सं० गोविंद शास्त्री)

(८) मेघदूत (सं० जी. आर. नन्दरगीकर)

(९) कालिदास और भवभूति (ले० द्विजेन्द्रलाल राय, अनुवादक रूप नारायण पांडेय)

(१०) कालिदास और शैक्सपियर (ले० पं० छन्नूलाल द्विवेदी)

(११) महाकवि कालिदास (लेख—माधुरी वर्ष १२ खण्ड १ सं० २ भाद्रपद । लेखक—गोपीकृष्ण शास्त्री)

(१२) आर्यदेव-चरितावली (ले० महाराज-कुमार दीवान प्रतिपालसिंह)

(१३) काव्यादर्श (आचार्य दण्डीकृत)

(१४) हिन्दी-मेघदूत-विमर्ष (ले० सेठ कन्हैयालाल पोद्दार)

(१५) कालिदास और उनकी कविता (ले० आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी)

(१६) मनुस्मृतिः (निर्णय सागर प्रेस)

(१७) The Brith place of Kalidas(ले० पं० वंशीधर कल्ला एम. ए. एम. ओ. एल. शास्त्री)

(१८) Kalidas Vol I His period, personality and Poetry (ले० के. एस. रामस्वामी शास्त्री बी. ए. बी. एल)

(१६) Kalidas & Vikramaditya (ले० एस. सी. दे)

(२०) Short History of indian Literature (ले० ई. हॉरविज)

(२१) The Combridge Shorter History of India.

(२२) Oxford History of India (ले० वी .ए. स्मिथ)

(२६) Ancient Indian History and Civilization (ले० डाक्टर रमेशचन्द्र मजूमदार)

(२४) Introduction to the Study of literature (ले० प्रो० हडसन)

रामप्रसाद सारस्वत

गणेशाश्रम, मदियाकटरा

आगरा ।

बसंतपंचमी वि० सं १६६२

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

❀ श्रीः ❀

रघुवंश

प्रथम सर्ग

[१]

जगत के जननी-जनक, संयुक्त ज्यों वागर्थ,
गौरि-शंकर को भजूँ वागर्थ की प्राप्त्यर्थ ॥

[२]

कहाँ रवि-कुल! कहाँ मति अति तुच्छ ! सिन्धु अपार
चाहता हूँ मोह-वश करना उडुप से पार ॥

[३]

प्रांशु - लभ्य - फलार्थ - उन्नत - बाहु - खर्व - समान
मैं बनूँगा कवि-यशेच्छुक मूढ़ हास्य-स्थान ॥

[४]

या कुलिश से विद्ध मणि में सूत्र के अनुसार,
रचित-रचना-द्वार से कुल में करूँ संचार ॥

[५]

सतत शुद्ध, फलाप्ति तक जो कार्य में थे लीन,
नभग-रथ-पति, जलधि तक वसुधाधिपति स्वाधीन;

[६]

रहे जिनके दान, दंड-विधान, यज्ञ, विचार,
अर्थि-रुचि, अपराध, विधि औ समय के अनुसार;

[७]

धनिक जो दानार्थ, मित-भाषी रहे सत्यार्थ,
यश-निमित्त जिगीषु, और गृहस्थ सन्तानार्थ;

[८]

किया शैशव में पठन, तारुण्य में उपभोग,
तप जरा में, अन्त में देहान्त करके योग;

[९]

अपटु भी मैं कहूँ उन रघुवंशियों का वृत्त ।
तद्‌गुणों को सुन चपल कुछ हो गया है चित्त ॥

[१०]

सन्त सदसद्भाव-दर्शी दें इधर को ध्यान ।
स्वर्ण शुद्धाशुद्ध की है अग्नि ही पहिचान ॥

[११]

हुए मनु वैवस्वताख्य मनस्वि-वंशाराध्य ।
प्रणव छन्दों में यथा, वे थे नृपों में आद्य ॥

[१२]

विमल तत्कुल में विमलतर हुआ नृप-राकेश,
अर्णवाविष्कृत-सुधाकर - सम दिलीप नरेश ॥

[१३]

दीर्घ-वक्ष, प्रलम्ब-भुज, वृषभांस, शालाकार,
वह स्वकर्म-समर्थ तनु से शौर्य था साकार ॥

[१४]

तेज, बल, वीरत्व में सर्वातिरिक्त शरीर,
प्राप्त कर, अरका अवनि पर मेरु-सम वह वीर ॥

[१५]

देह-सम थी बुद्धि, बुद्धि-समान शास्त्र-विधान ।
शास्त्र-विधि-सम कर्म थे, परिणाम कर्म-समान ॥

[१६]

भीम-मृदु नृप-नीति से, जलजीव - रत्न - समेत
सिन्धु-सम, भगदाश्रयद था आश्रितों के हेत ॥

[१७]

उस नियन्ता की प्रजा थी नेमि-वृत्ति समस्त ।
क्षुण्ण मनु-पथ से न होती जो तनिक भी व्यस्त ॥

[१८]

लोक-भूति-निमित्त ही वह कर उघाता वीर ।
एक-गुण ले सहस-गुण रवि फेरता है नीर ॥

[१९]

शास्त्र-पारग धी, धनुर्गत ज्या—यही दो काज
सिद्ध करती थीं, नृपति का सैन्य ही था साज ॥

[२०]

इंगिताकृति गहन, उसके भाव थे अज्ञेय;
काम थे प्रारब्ध-सम परिणाम से अनुमेय ॥

[२१]

पालता तन अभय, भजता धर्म वह नीरोग;
धारता निर्लोभ धन, निर्लिप्त करता भोग ॥

[२२]

दान में कीर्त्यरुचि, मति में मौन, बल में शान्ति—
मिल अमिल गुण रहे उसमें सोदरों की भांति ॥

[२३]

ज्ञान-पारग, धर्म-रत, विषयाभिरुचि - निर्मुक्त,
वह बिना वृद्धत्व ही वृद्धत्व से था युक्त ॥

[२४]

विनय-रक्षण-भरण से जन-जनक था वह भूप ।
थे जनों के जनक केवल जन्म-कारण-रूप ॥

[२५]

था प्रसूति-निमित्त परिणय, दण्ड मर्यादार्थ
दण्ड्य को, थे धर्म ही उस धीर के कामार्थ ॥

[२६]

नृप धरा यज्ञार्थ दुहता, स्वर्ग हरि सस्यार्थ ।
वित्त-विनिमय युगल करते युग-भुवन-भरणार्थ ॥

[२७]

कर सके अनुकरण उसकी कीर्ति का राजा न ।
पर-धनागत चौर्य का था शब्द ही में स्थान ॥

[२८]

आर्त को ज्यों अगद, थे तन्मान्य अरि भी शिष्ट ।
अंगुली अहि-दष्ट-सम थे त्याज्य स्वजन अशिष्ट ॥

[२९]

सतत-सर्व-परार्थ-साधक - गुण - समन्वित भूप
था महाजन-तत्व का विधि-रचित मानों रूप ।

[३८]

शाल-रस-सुरभित, हिलाता विपिन-तरु-संघात,
सुमन-रज-वर्षक, सुखद, सेवा-निरत था वात ॥

[३९]

रथ-रवोन्मुख केकियों की षड्ज-मय, द्वि-विभक्त,
हृदय-हारिणी केक सुन कर वे हुए अनुरक्त ॥

[४०]

मृग-मिथुन, जो निरखते रथ विरम पथ के पास,
दे रहे थे युगल को दृग-साम्य का आभास ॥

[४१]

विरचते निज पंक्ति से अस्तम्भ तोरण-माल,
सारसों का सुरव सुनते कहीं उन्नत-भाल ॥

[४२]

कामना-साफल्य-सूचक पवन था अनुकूल ।
छू सकी उनका न शिर-पट तुरग-ताडित धूल ॥

[४३]

उर्मि-गति-शीतल, मधुर निज श्वास-सम, सामोद,
सूँघते जाते सरों में मंजु कंजामोद ॥

[४४]

यूप-युक्त स्वदत्त ग्रामों में शुभाशीर्वाद,
सफल पाते ऋत्विजों से अर्घ्य-विधि के बाद ॥

[४५]

घोष-जरठों से, निकलते सद्य घृत जो थाम,
पूछते थे वन्य पथ—गत पादपों के नाम ॥

[४६]

युगल-छवि क्या थी निराली ! वे धरे वर वेश,
विचरते थे, ज्यों सचित्रा चैत्र में राकेश ॥

[४७]

दृश्य प्रिय-दर्शन दिखाता नारि को बहु-रूप,
ज्ञात लंघित मार्ग कर पाया न ज्ञानी भूप ॥

[४८]

सहित पत्नी श्रान्त-वाहन, महा-महिम नृपाल,
गया तप-रत-ऋषि-वराश्रम पहुँच सायङ्काल ॥

[४९]

मुनि वनान्तर से वहाँ, फल-दर्भ-समिध समेत,
आरहे थे, उठा अनल अलक्ष्य जिनके हेत ॥

[५०]

खा रहे थे मृदु समा मृग रोक उटज-द्वार,
पालती मुनि-पत्नियाँ सुत-सम जिन्हें कर प्यार ॥

[५१]

मुनि-सुताएँ तुरत तजती थीं द्रुमों को सींच,
अभय खग जिससे पियें पय थामलों के बीच ॥

[५२]

कर रहे थे उटज-अजिरों में कुरंग उगार,
आतपात्यय में जुटाये थे जहाँ नीवार ॥

[५३]

हवि-सुरभि दीप्ताग्नि-सूचक धूम पवनोद्धूत,
कर रहा था आश्रमोन्मुख अतिथियों को पूत ॥

[५४]

सारथी को अश्व-विश्रामार्थ दे आदेश,
यान से उतरा स्वपत्नी को उतार नरेश ॥

[५५]

शास्त्र-चक्षु, प्रशस्त नृप सकलत्र का सन्मान,
सभ्य संयमवान मुनियों ने किया रुचि मान ॥

[५६]

सान्ध्य-विध्युपरान्त अवलोके महर्षि वसिष्ठ।
अग्न्यनुग-स्वाहा-समान अरुन्धती थीं पृष्ठ ॥

[५७]

मागधी महिषी तथा नृप ने छुए शुचि पाद।
दिया गुरु-गुरुनारि ने सस्नेह आशीर्वाद ॥

[५८]

हर अतिथि-सत्कार से ऋषि ने रथ-श्रम, क्षेम
राज्य की राजर्षि से पूछी समुद सप्रेम ॥

[५९]

शत्रु-पुर-जेता सुवक्ता - वृन्द - नेता पार्थ,
मुनि अथर्व-निधान से बोला वचन अमितार्थ—

[६०]

"युक्त ही है क्षेम मम सप्ताङ्ग की गुरुदेव!
दुःख दैवी मानवी जिसके हरें स्वयमेव ॥

[६१]

मन्त्रकृत्! तव मन्त्र दूरी से परों को मार,
करें लक्षित-लक्ष्य-भिद् मम शरों को बेकार ॥

[६२]

अनल मे तव सविधि-हुत हवि, सस्य-संभव-हेत
वृष्टि बन, करता हरे जल-रहित सूखे खेत ॥

[६३]

तेज तव ब्रह्मत्व ही का है कि जिससे लोग,
ईति-भीति-विमुक्त, करते पूर्ण वय का भोग ॥

[६४]

मुझ सुखी के सुख अभङ्ग न क्यों रहें गुरुदेव !
चिन्तना जिसकी करें यो ब्रह्म-सुत स्वयमेव ॥

[६५]

पर बिना देखे सदृश सुत तव बधू की गोद,
रत्न-सू सद्वीप भू से भी न पाता मोद ॥

[६६]

जान पिण्ड-क्षय परे मम, स्वधा-संग्रह-लीन,
पितर मम करते प्रभो ! पर्याप्त भोजन भी न ॥

[६७]

वे सकल मेरे परे जल-दान दुर्लभ जान,
विकल करते हैं स्व-निश्वासोष्ण पय का पान ॥

[६८]

मख-विमल मानस मलिन है मम बिना सन्तान,
ज्योति - तम - संयुक्त - लोकालोक - अद्रि - समान ॥

[६९]

दान तप के पुण्य हैं पर-लोक में फलवान ।
सुखद अत्र-परत्र किन्तु कुलीन है सन्तान ॥

[७०]

विफल-सरुचि-स्वसिंचिताश्रम-तरु-समान विलोक।
मुझे निस्सन्तान, हे विधि ! क्यों न करते शोक ?

[७१]

पितृ-ऋण करता मुझे अति व्यथित हे भगवान् !
मर्म-भिद् ज्यों हो अमज्जित द्विरद को आलान ॥

[७२]

उऋण हूँ उससे करें वह, क्योंकि करते आप,
हे प्रभो ! इक्ष्वाकुओं के सिद्ध अर्थ दुराप"

[७३]

ध्यान-निश्चल नयन हो सुन यह नृपति की टेर,
सुप्त-मीन-तड़ाग-सम ऋषिवर रहे कुछ देर ॥

[७४]

भूप - पुत्राभाव - कारण ध्यान-द्वारा जान,
सत्स्वभाव महर्षि ने नृप को दिया यह ज्ञान—

[७५]

"पूर्व में मिल शक्र से तुम थे धरागम-लीन।
सुर-सुरभि पथ मे मिली मन्दार-छायासीन ॥

[७६]

इस युवति को ऋतु-स्नाता जान, अघ-भय मान,
उस प्रदक्षिण-योग्य का न किया उचित सम्मान ॥

[७७]

दिया शाप—'महीप ! तुमने किया मम अपमान।
मम-प्रजा-पूजन-विना होगी न तव सन्तान ॥'

[७८]

व्योम-गंगा-मध्य था उद्दाम-दिग्गज-शोर ।
अतः सारथि ने न तुमने सुना शाप कठोर ॥

[७९]

तव-मनोरथ-सिद्धि-बाधक है वही अपमान ।
श्रेय दरना है न करना मान्य का सन्मान ॥

[८०]

अब वरुण की विशद विधि में हव्य-हित पाताल,
वह गई है, द्वार जिसका रोकते हैं व्याल ॥

[८१]

तत्सुता को मान तत्प्रतिनिधि, प्रयत, सकलत्र,
पूजिये, वह तुष्ट होगी कामदा सर्वत्र ॥"

[८२]

यह कहा, वन से तभी आगई गाय निकेत,
नन्दिनी-नामा, अनिंद्या, हव्यदा मुनि-हेत ॥

[८३]

दल-सदृश तनु स्निग्ध-पाटल, था कुटिल सित अंक
भाल पर, सन्ध्या-सदृश थी लिये नवल मयंक ॥

[८४]

कुण्ड-सा था ऐन, अवभृथ से अधिक शुचि दुग्ध
कोष्ण भूपर थी गिराती वत्स-दर्शन-मुग्ध ॥

[८५]

डाल कर निकटस्थ नृप-तनु पर खुराहत रेत,
शुद्धि तीर्थ-स्नान की दे दी नृपति के हेत ॥

[८६]
पुण्य-दर्शन धेनु को लख, शकुन को कर ज्ञात,
सफल-याचो याज्य नृप से कही ऋषि ने बात—
[८७]
"आगई यह नाम लेते संग मंगल-मूर्ति।
जानिये नृप-वर ! अतः अति निकट अभिमत-पूर्ति ॥
[८८]
अनुसरण इसका, निरन्तर करो वन का वास।
तुष्ट होगी यह, यथा विद्या किये अभ्यास ॥
[८९]
नृप ! रुको रुकते, करो प्रस्थान पर प्रस्थान;
बैठते बैठो, करो पय-पान पर पय-पान ॥
[९०]
पूज आश्रम से सरुचि शुचि महिषि भी नरनाथ !
साथ प्रातः जाय, आवै नित्य सायं साथ ॥
[९१]
रहो गौ की तुष्टि तक यों सतत सेवा-लीन।
सुसुत-जनकों के जनक-सम बनो विघ्न-विहीन ॥"
[९२]
अति प्रणत था देश-कालाभिज्ञ शिष्य नरेश।
सरुचि पत्नी-सहित स्वीकृत कर लिया आदेश ॥
[९३]
तब वचन मृदु सत्य बोले ब्रह्म-सुत विद्वान्—
"शयन यामिनि में करो नृप ! अमित लक्ष्मीवान ॥"
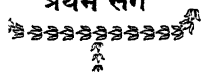
[६४]

कल्पविद् तप-सिद्ध मुनि ने भी, नियम-अनुसार,
नृपति का वन-संविधा से ही किया सत्कार ॥

[६५]

प्रयत कलत्र सहित तृण-शाला में, जो कुलपति ने दिखलाई,
बटुओं ने अध्ययन, शयन नृप ने कुश पर कर निशा बिताई ॥

इति महाकविश्रीकालिदास-विरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन
हिन्दीभाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
वसिष्ठाश्रमाभिगमनो नाम प्रथमः सर्गः ।

द्वितीय सर्ग

[१]

जाया ने ऋषि-धेनु गन्ध-माला से पूजी प्रातःकाल।
पीत वत्स को बाँध, ले चले वन को मान-धनिक नरपाल॥

[२]

नृपति-नारि साध्वी प्रसिद्ध, थी खुर-न्यास-शुचि जिसकी धूल,
उस गो-पथ पर चली, यथा चलती है स्मृति श्रुति के अनुकूल॥

[३]

दयिता को फिर फेर, घेरने लगे नृपति बलवान उदार
धरणी-रूप धेनु को, जिसके चतुःसिन्धु-सम थे थन चार॥

[४]

अन्यानुग भी फेर, दिया उस गो-सेवक ने व्रत में ध्यान।
पर-रक्षित न कदापि, स्वभुज-रक्षित रहती है मनु-सन्तान॥

[५]

दंश-विसर्जन खर्जन करते, देते थे तृण-कवल रसाल,
विचराते स्वच्छन्द, धेनु-सेवा-तत्पर हो गये नृपाल॥

[६]

रुकते रुकते, चलते चलते. जाते बैठ बैठते भूप,
पय पीते पय पीते, पीछे फिरते थे हो छाया-रूप॥

[७]

चिह्न - रहित - राज्य-श्री-धर तेजानुमेय भूपति बलवान
थे उस द्विरद समान, गूढ़ जिसका मद तथा गुप्त हो दान॥

[८]

ऋषि-हवि-गो-रक्षा-हित हनते वन-कुजन्तु-कुल को नरपाल,
तान धनुष अटवी में अटते, सटते थे बेलों में बाल ॥

[९]

वरुण-सदृश अनुचर-विहीन अवनिप का मानो जयजयकार
करते थे निकटस्थ वृक्ष मद-मत्त खगों की कर भनकार ॥

[१०]

सन्निधिस्थ अग्न्याभ पार्थ पर उपचारार्थ वात में भूल,
पुर-कुमारियाँ यथा लाज, बल्लरियाँ बरसाती थीं फूल ॥

[११]

भूप धनुर्धर के भी वपु को निरख दयार्द्र-भाव से व्याप्त,
निर्भय-मन मृगियाँ करती थी दीर्घ दृगों के फल को प्राप्त ॥

[१२]

कुंजों में वन-देव उन्होने सुने स्व-यश का करते गान,
भरते मारुत-रणित वंश-वंशी में तार-स्वर से तान ॥

[१३]

मन्द-चलित-तरु-सुमन-सुरभि-मय, गिरि-भरनों का लिये तुषार,
आतप-तप्त नियम-शुचि नृप का पवन कर रहा था परिचार ॥

[१४]

वृष्टि बिना ही दबा दवानल, होने लगे अधिक फल-फूल;
नृप के रमते वहाँ न देते सबल सत्व निबलों को शूल ॥

[१५]

विचरण से कर शुचि आशाएँ, चलीं निलय को सायंकाल—
रवि की प्रभा, तथा मुनि-वर की धेनु नवल-पल्लव-सम लाल ॥

[१६]

सुर-पितरातिथि-हितकर गो के पीछे चले प्रमुख नर-नाथ।
थी सर्वथा सविधि श्रद्धा सी वह बुध-मान्य नृपति के साथ॥

[१७]

लखते चले श्याम वन में लुकते वराह तालों से दूर,
रुकते हरिण शाद्वलों में, झुकते नीडों की ओर मयूर॥

[१८]

वह गुरूध-धारिणी गृष्टि थी, था यह गुरु-तनु-धर सम्राट्!
युग के चारु संचरण ने की रुचिर आश्रमागम की वाट॥

[१९]

विमल - वसिष्ठ-धेनु-किंकर आगये लौट अटवी से भूप।
वनिता ने अनिमेष पिया मानो सतृष्ण नयनों से रूप॥

[२०]

आगे जा नृपाग्र-गामिनि का किया भूप-भामिनि ने मान,
हुई धेनु युग-मध्य रात्रि-दिन-मध्य सुभग संध्या-सी भान॥

[२१]

कर पयस्विनी को सुदक्षिणा ने प्रदक्षिणा और प्रणाम,
शृङ्ग-मध्य गुरु-सिद्धि-द्वार-सम पूजा अक्षत-भाजन थाम॥

[२२]

हुए मुदित जब ली शिशूत्सुका ने भी पूजा शान्ति-समेत।
प्रीति-चिह्न ऐसों के लाते फल आगे भक्तों के हेत॥

[२३]

भज सनारि गुरु-पद, अरि-मर्दन नृप दिलीप, कर सन्ध्याचार,
फिर सेवा-रत हुए, दुहाकर बैठ गई जब धेनु दुधार॥

[२४]

धेनु बैठते नारि-सहित बैठते जला बलि-दीप समीप;
सोने पर सोते, जगने पर जगते प्रातःकाल महीप ॥

[२५]

करते व्रत इस भांति सभामिनि धारण कर सन्तति की चाह,
महा-महिम उस दीन-बन्धु को हुए व्यतीत तीन सप्ताह ॥

[२६]

एक दिवस मुनि-होम-धेनु निज-दास-भाव करने को ज्ञात,
गई हरित हिम-गिरि-गह्वर में, जहाँ निकट था गाङ्ग प्रपात ॥

[२७]

गिरि-छवि-रत थे नृप मन से भी अजय उसे हिंस्रों को मान।
सिंह खींचने लगा उसे बल कर, पर उनका गया न ध्यान ॥

[२८]

दीन-बन्धु ने सुना गाय का गुहा-गूँज-गुरु क्रन्दन घोर।
गिरि-रत नृप की दृष्टि खिंच गई रज्जु-बँधी सी झट उस ओर ॥

[२९]

रक्त धेनु पर जमा धनुर्धर नृप ने यों देखा शार्दूल,
ज्यों गैरिक-गिरि के पठार पर लसै लोध्र का वृक्ष सफूल ॥

[३०]

साभिषंग हो नृप मृगेन्द्र-गामी शरण्य अरि-मर्दन धीर,
बध्य-सिंह-बध-हेत खींचने लगे तुरत तरकस से तीर ॥

[३१]

पर उस हन्ता का दक्षिण कर हुआ चित्र-सा जड़ तत्काल।
सटी उँगलियाँ बाण-पुङ्ख से, कंक-पत्र पर नख-भा डाल ॥

[३२]

क्रुद्ध बद्ध-भुज नृप स्वतेज से, जो न सके घातक को घाल,
हुए स्वयं ही दग्ध, यथा मन्त्रौषधि से अशक्त हो व्याल ॥

[३३]

मनु-कुल-केतु, स्वगति-विस्मित, सद्गण्य, बलिष्ठ सिंह-अनुकूल,
नृप को कर विस्मित, बोला नर-वाणी गो-पीड़क शार्दूल—

[३४]

"प्रयुक्तास्त्र भी व्यर्थ यहाँ होगा नृपवर! मत करो प्रयास!
वृक्षोन्मूलक भी मारुत-बल चलता नहीं अचल के पास ॥

[३५]

हर गिरीश-सित वृप पर चढ़ते कर पद से मम पीठ पवित्र।
गुनो मुझे कुम्भोदराख्य, शिव का सेवक, निकुम्भ का मित्र ॥

[३६]

आगे देखो देवदारु, जो पुत्र लिया है शिव ने मान;
कनक-कुम्भ-सम उमा-स्तनों से मिला जिसे है पय का पान ॥

[३७]

कट-घर्षण करते वन-गज ने कभी त्वचा ली इसकी नोच;
दैत्यास्त्रों से क्षत कुमार-सम इसका किया उमा ने सोच ॥

[३८]

तब से ही हूँ शिव-नियुक्त इस गह्वर में धर सिंहाकार।
वन्य गजों को हटा करूँ निकटागत जीवों का आहार ॥

[३९]

यथा राहु को चन्द्र-सुधा, मुझको यह मिली समय-अनुसार।
दैव-दया से कर शोणित-पारण पाऊँगा पूर्णाहार ॥

[४०]

सो तुम लौटो लज्जा तज, गुरु को दे चुके स्वभक्त्याभास,
शस्त्रारद्ध्य अर्थ कर सकता नहीं वीर-महिमा का ह्रास ॥"

[४१]

यह प्रगल्भ वाणी मृगेश की सुन, महेश का मान प्रभाव,
किया कुण्ठितायुध नरेश ने शिथिल आत्म-निन्दा का भाव ॥

[४२]

बोले नृप—जो शर-क्षेप में विफल हुए पहिली ही बार,
वज्र-मुमुक्षु हुआ हरि हर-वीक्षण से यथा हत-व्यापार—

[४३]

"जीवों के हैं विदित सकल प्रच्छन्न भाव तुमको पंचास्य !
करता हूँ हत-चेत अतः कुछ कथन, भले ही हो वह हास्य ॥

[४४]

मुझे मान्य हैं स्थावर-जंगम-सर्ग-स्थिति-लय-हेतु महेश ।
किन्तु साग्नि-गुरु-धन भी आगे नशता है न उपेक्ष्य मृगेश !

[४५]

सो तुम करो कृपा कर मम काया से निज शरीर-निर्वाह,
छोड़ो ऋषि-गौ को, दिनान्त में वत्स देखता होगा राह" ।

[४६]

गिरि-गह्वर-तम छिन्न किया दंष्ट्रा-किरणों से कर कुछ हास ।
फिर यों कहने लगा नरेश्वर से वह भूतेश्वर का दास—

[४७]

"एक-छत्र यह आधिपत्य ! यह कान्त देह ! यह आयु नवीन !
अल्प-हेतु बहु खोते होते विदित मुझे तुम बुद्धि-विहीन ॥

[४८]

जीव-दया यदि करो, करो तो मर कर एक धेनु सक्षेम।
जीकर सदा प्रजा पालोगे दुख हर, पिता-सदृश कर प्रेम॥

[४६]

एक - धेनु - अपराध - रुष्ट अग्न्योपम गुरु से हो यदि भीत,
तो दे कुम्भापीन धेनु कोटिशः उन्हें कर सकते प्रीत॥

[५०]

अतः बचाओ विविध - भद्र - भोगी बलिष्ठ अपना यह गात्र।
राज्य समृद्ध इन्द्र - पद ही है, भेदक है भू - स्पर्शण- मात्र॥"

[५१]

यह कह हूआ सिंह चुप, गिरि ने भी, कर गह्वर-गत प्रतिनाद,
नरपति-रति वश उच्च - स्वर से मानों कहा वही संवाद॥

[५२]

फिर बोले नर-देव सदय अति सुन शिवानुचर का उच्चार।
तदाक्रमण कातर नयनों से धेनु रही थी उन्हें निहार॥

[५३]

"क्षत से त्राण करे—यह ही है 'क्षत्र' शब्द का प्रचलित अर्थ।
तद्विरुद्धचर के हैं निन्दा-कलुषित प्राण राज्य सब व्यर्थ॥

[५४]

अन्य - धेनु - वितरण से है ऋष्यनुनय का अशक्य व्यापार।
समझो कम न सुरभि से, इस पर हर-बल से ही करते वार॥

[५५]

सो वह तुमसे मुक्त मुझे करनी है निज तनु को भी त्याग।
यों न रुकेगा तवाहार ही, और न मुनिवर का ही याग॥

[५६]

पर - वश तुम भी यह लख करते देवदारु - हित महा प्रयास—
रक्ष्य नष्ट कर स्वयमक्षत सकता न बैठ स्वामी के पास ॥

[५७]

यदि समझो मुझको अवध्य, तो कीर्ति-देह मम है दयनीय।
मुझसों को भौतिक अवश्य-नश्वर न पिण्ड हैं आदरणीय ॥

[५८]

वार्तानुग है सख्य, हुआ जो वन में हम-तुम में संजात।
अतः करो हे शिवानुचर! निज सखा-याचना का न विघात ॥"

[५९]

"यही सही"—यह कही, खुल गया भूप - भुजा - बन्धन तत्काल।
शस्त्र फेंक कर मांस-पिण्ड-सम दी स्वदेह हरि-सन्मुख डाल॥

[६०]

नृपति अधो-मुख पड़े समझते थे अब झपटेगा शार्दूल।
विद्याधर-गण ने परन्तु उस क्षण उन पर बरसाये फूल॥

[६१]

"उठो वत्स!" सुन कर यह अमृत-वचन त्वरित उठ बैठे भूप।
सिंह न देखा, देखी आगे गो पयस्विनी जननी-रूप ॥

[६२]

विस्मित नृप से बोली गौ—"की साधु! परख रच माया-जाल।
अपर हिंस्र क्या, ऋषि-बल से सकता न काल भी मुझको घाल॥

[६३]

माँगो वर, हूँ मुदित दया तव मुझमें गुरु में भक्ति निहार।
होती मैं कामदा तुष्ट, मत मानो केवल धेनु दुधार ॥"

[६४]

बद्धाञ्जलि नृप ने, जिसको था 'वीर' शब्द निज भुज से प्राप्त,
मांगा सुदक्षिणा को सुत कुल-कर्ता, अमित कीर्ति से व्याप्त ॥

[६५]

पयस्विनी गौ ने 'तथास्तु' कह, दे सुतेच्छु नृप को वरदान,
कहा—"पत्र-पुट में दुहकर मम दुग्ध पुत्रवर! कर तत्पान ॥"

[६६]

"अम्ब! चाहता हूँ तव पय को पीना पाकर ऋषि-आदेश,
अवनी के षष्ठांश-सदृश, शिशु तथा होम-विधि से अवशेष ॥"

[६७]

हुई और भी तुष्ट धेनु ऋषि की बोले जब यह नर-नाथ।
गिरि-गह्वर से आश्रम में श्रम बिना आगई उनके साथ ॥

[६८]

शशि-मुख नृप-गुरु ने गुरु से कह, कहा प्रिया से गौ-प्रसाद;
मानों किया द्विरुक्त वचन से हर्ष - चिह्न - लक्षित - संवाद ॥

[६९]

उस सद्वत्सल सत्स्वभाव ने, हो सतृष्ण, पा ऋष्यादेश,
मूर्त-शुभ्र-यश-सदृश नन्दिनी-स्तन्य पिया शिशु-हुतावशेष ॥

[७०]

महिषी-भूप वसिष्ठ वशी ने समुचित व्रत-पारण के बाद,
किये राजधानी को प्रेषित दे प्रास्थानिक आशीर्वाद ॥

[७१]

कर प्रदक्षिणा हुत, हुताश की, अरुन्धती की ऋष्युपरान्त,
गौ सवत्स की, नृपति सिधारे सन्मंगलज - तेज से कान्त ॥

[७२]

सफल-स्वकीय-मनोरथ-सम, श्रुति-सुखद-शब्द-कारी, बे-हाल
स्यन्दन में सानन्द बैठ पत्नी-समेत चल दिये नृपाल ॥

[७३]

उत्सुक दर्शन बिना, प्रजार्थव्रत से क्षीण-देह थे भूप।
पिया अतृप्त प्रजा-नयनों ने वह शशि-सदृश नवोदित रूप ॥

[७४]

पुर सकेतु में नराभिनन्दित इन्द्र-श्री नृप हुए प्रविष्ट।
फिर भू-भार लिया स्वभुजा पर, जो थी शेष-समान बलिष्ठ ॥

[७५]

अत्रि- दृगज - भा - वहन यथा सुर - भू करती है,
अग्नि - दत्त हर - तेज यथा सुरसरि धरती है,
लोकप - विभव - विशिष्ट - गर्भ महिषी ने धारण
किया तथैव महीप - वंश - महिमा का कारण ॥

इति महाकवि श्री कालिदासविरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन
हिन्दीभाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
नन्दिनीवरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः ॥

तृतीय सर्ग

[१]

सखी-दृग-द्युति-धाम गर्भ के चिह्न किये महिषी ने धारण ।
विकसे मानो पति-वाँछित इक्ष्वाकु-वंश-विस्तृति के कारण ॥

[२]

कृश तनु पर परिमित भूषण धर लोध्र-पाण्डु-वदनी वह भामिनि;
रुची विरल-तारक-मलीन-शशि-युक्ता ज्यों प्रभात की यामिनि ॥

[३]

सूंघ अकेले में तन्मुख मृत्सुरभि भूप को तृप्ति न आती;
पावस में ज्यों मेघ-सिक्त तरु-पत्र-राशि गज को न सुहाती ॥

[४]

इन्द्र स्वर्ग को यथा, चक्रवर्ती तत्सुत भोगेगा भू को;
अतः प्रथम ही सब रस तज मृद्रुचि थी मानों नृपति-वधू को ॥

[५]

कहते थे अवधेश प्रिया-सखियों से फिर फिर—"कुछ न बताती
स्वरुचि लाज-वश मुझे, कहो क्या वस्तु मागधी को है भाती ?"

[६]

मन-भाता आता ही दीखा दोहद-दुःखित नृप-नारी को ।
अगम न इष्ट स्वर्ग में भी था उस सन्नद्ध-धनुष-धारी को ॥

[७]

क्रमशः दोहद-दुःख गया, विकसे समस्त अवयव, वह भासी
जीर्ण-पत्र-पतनानन्तर नव-पल्लव-वलित ललित लतिका सी ॥

[८]

उभय-स्तन अति पीन नील-मुख उसके पड़े दिवस जब बीते,
भ्रमराच्छादित कलित-कंज-कोशों की छबि को भी जो जीते ॥

[९]

अभ्यन्तर-पावका शमी सी, अथवा वसु-गर्भा वसुधा सी,
अन्तःसलिला सरस्वती सी गर्भवती युवती वह भासी ॥

[१०]

प्रिया-प्रेम, औदार्य, मोद, भू-व्याप्त-श्री भुज-शक्त्युत्पादित—
सब के सदृश भूप ने क्रमशः पुंसवनादि किये सम्पादित ॥

[११]

लोकप-कला-विशिष्ट-गर्भ-गरिमा-वश श्रम पाती उठते भी ।
मुदित गृहागत नृप लखते कर श्रान्त स्वागतांजलि जुटते भी ॥

[१२]

बाल-चिकित्सा-दक्ष विज्ञ वैद्यों ने किया गर्भ संरक्षित ।
प्रसवोन्मुखी प्रिया पति से थी समुद साभ्र नभ के सम लक्षित ॥

[१३]

उच्च असूर्यग पंचग्रहों में यथा–समय सुत विदित-भाग्य-धन
जना शची सी उसने, जनती अक्षय धन ज्यों शक्ति त्रि-साधन ॥

[१४]

ली हवि भ्रमित-ज्वाल अनल ने, चली सुवात, खिली आशाएँ;
हुए शकुन सब, आती हैं जगदुन्नति-हित ऐसी आत्माएँ ॥

[१५]

था सब ओर अरिष्ट-तल्प के उस सुजन्म का तेज प्रसर्पित,
जिससे पड़े निशीथ-दीप झट मलिन, हुए मानों चित्रार्पित ॥

[१६]

अमृत-सदृशाक्षर-सुत-संभव-सूचक अन्तःपुर-परिचर को
थे अदेय बस तीन—चमर युग, तथा छत्र शशि-सम—नृप-वर को ॥

[१७]

नृप ने पिया निवात-पद्म-सम-अचल दृगों से वदन कुँवर का;
हर्ष न मन में रुका, यथा शशि-दर्शन से जल रत्नाकर का ॥

[१८]

किये परोधा तप-रत ने सब जात-कर्म आश्रम से आकर।
वह दिलीप-सुत रुचा खनिज-मणि-सदृश अधिक, संस्कार कराकर ॥

[१९]

बजे नर्तकी-नृत्य-गान के संग मधुर मंगल के बाजे,
नहीं मागधी-नाथालय ही, देवालय भी जिनसे गाजे ॥

[२०]

बद्ध न था कोई जिसकी सुत-जन्म-मुदित वह करे रिहाई।
मुक्ति पितृ-ऋण के बन्धन से बस उस समय उसी ने पाई ॥

[२१]

श्रुत का, रण में रिपु का पारग हो शिशु, अतः स्वसुत को सार्थक
दिया नाम अर्थज्ञ नृपति ने 'रघु', पहिचान धातु गमनार्थक ॥

[२२]

बढ़े नित्य उसके शुभांग सम्पन्न-जनक-यत्नों के कारण।
नव शशि पुष्ट यथा होता है सूर्य-रश्मियों को कर धारण ॥

[२३]

यथा गौरि-हर षण्मुख से, जैसे जयन्त से शची-सुरेश्वर,
हर्षे उसी भांति उनसा सुत पा उनसे मागधी-नरेश्वर ॥

[२४]

हृदयाकर्षक प्रेम कोक-कोकी सम उनका अन्योन्याश्रित,
हो तदन्य-सुत से विभक्त भी, हुआ परस्पर अधिक प्रकाशित ॥

[२५]

धात्रि-वचन प्रथमोक्त बोलने, चलने लगा तदंगुलि धर के।
पिता प्रीत होते थे लख शिशु को विनीत शिक्षा पाकर के ॥

[२६]

उसे अङ्क ले, अमृत-सम तनु-योगज सुख से त्वचा सींचते,
सुत-स्पर्श-रस पीते थे अति नृपति दृगों की कोर मीचते ॥

[२७]

उस सुजन्म से स्वकुल प्रतिष्ठित जाना स्थिति-पालक नर-पति ने;
यथा सत्व-गुण-वलित विष्णु से माना यह जग प्रजाधिपति ने ॥

[२८]

मुण्डित वह मिल लोल-लटा-धर सवय-अमात्य-पुत्र-परिकर में,
लिपि-ग्रहण से धसा ज्ञान में, यथा नदी-मुख से सागर में ॥

[२९]

हुआ सविधि उपनयन, विज्ञ गुरुओं ने वह प्रिय शिष्य पढ़ाया।
हुए सफल वे, क्रिया पात्र में ही देती है फल मन-भाया ॥

[३०]

चतुःसिन्धु-सम तरा सुधी विद्याएँ चार धी-गुणों-द्वारा।
पवन-द्रुततर यथा हयों से सूर्य चतुर्दिग्-मंडल सारा ॥

[३१]

सीखा शस्त्र समन्त्र जनक से ही वह कृष्ण-मृगाजिन धर कर।
नृप ही नहीं, धनुर्धर भी था अद्वितीय रघु-जनक अवनि पर ॥

[३२]

बछड़ा वृषपन, पाता गजपन यथा कलभ, त्यों पा तरुणाई,
हुआ दूर रघु का शिशुपन, तन में आई गाम्भीर्य-निकाई ॥

[३३]

तद्गुरु ने केशान्त-अनन्तर वैवाहिक शुभ कर्म दिया कर।
रुची नरेन्द्र-सुता सत्पति से, दक्ष-सुता ज्यों शशि को पाकर ॥

[३४]

विपुल-स्कंध, कपाट-वक्ष, युग-दीर्घ-बाहु उस रघु ने पाई
गुरु पर तनोत्कर्ष में जय, लघु तदपि विनय से दिया दिखाई ॥

[३५]

नृप ने, करने को लघु अति गुरु स्वयं-चिर-धृत प्रजा-भार को-
बना दिया युवराज प्रकृति-संस्कृति-विनीत अपने कुमार को ॥

[३६]

तब गुणेच्छुका श्री नवीन युवराज-ओर नृप-मूल-स्थल से,
चली आंशिकाश्रय-निमित्ति, कमला उत्पल को यथा कमल से ॥

[३७]

वात-सूत से अग्नि, दान से गज, घनान्त से यथा दिनेश्वर,
निज युवराज तनुज से दुःसह हुआ नितान्त तथैव नरेश्वर ॥

[३८]

राज-सुतों के संग धनुर्धर उसे होम-हय-रक्षण में रख,
किये पूर्ण सुर-पति-सम नर-पति ने निर्विघ्न एक-कम सौ मख ॥

[३९]

फिर अबद्ध-गति अश्व यज्ञ-हित छोड़ा मख-दीक्षित नर-पति ने।
सधनु रक्षकों के समक्ष ही पर हर लिया छली सुर-पति ने ॥

[४०]

किंकर्तव्य-विमूढ़ शोक से हुई सपदि रघु-सैन्य इधर को,
ज्ञात-शक्ति स्वयमागत दीखी विधि-सुत-गौ नंदिनी उधर को ॥

[४१]

उसके सुचि देह-द्रव-पय से रघु ने किया दृगों का स्पर्शन;
होने लगा सताग्रगण्य उसको गोतीत भाव का दर्शन ॥

[४२]

देखा रघु ने अद्रि-पक्ष-भेदी सुर प्राची में ले जाता
हय रथ-रज्जु-बद्ध को, पुनि पुनि गया सूत चापल्य दबाता ॥

[४३]

शत अनिमेषित दृगों तथा हरिताश्वों से सुर-पति विचार कर,
रघु लौटाता सा बोला गंभीर नभग स्वर से पुकार कर–

[४४]

"सदा प्रथम मख-भाग-भोगियों में सुजनों ने तुमको माना।
प्रयत नित्य-दीक्षित मम गुरु का विधि-विधात हरि फिर क्यों ठाना?

[४५]

हे त्रिभुवन-पति दिव्य-चक्षु! तुमको हैं बध्य सदा मख-बाधक।
बीती विधि, यदि विघ्न तुम्ही से पावें शुभ कर्मों में साधक ॥

[४६]

अतः महा-मख का प्रधान साधन यह वाजि विसर्जनीय है।
श्रुति-प्रदर्शक महेश्वरों को मार्ग मलीमस वर्जनीय है" ॥

[४७]

सुन रघूक्त वाणी प्रगल्भ सुर-पति ने फेर लिया स्यन्दन को,
तथा सविस्मय दिया घूमकर उत्तर यह दिलीप-नन्दन को—

[४८]

कुँवर! ठीक कहते, यशोधनों को पर जो रिपु-रक्ष्य रहा है,
उस मम विश्व-विदित सब यश को तव गुरु मख से मेटा चाहे।

[४९]

पुरुषोत्तम हरि तथा त्रिलोचन हर हैं एक एक ही जैसे,
कहें शत-क्रतु मुझको ही मुनि, पर-वाची न नाम मम तैसे॥

[५०]

कपिल-सदृश मुझसे तव गुरु का अतः हुआ यह हय अपहारित।
व्यर्थ यत्न से करो सगर-सुत-पदवी में न स्वपद निर्धारित"॥

[५१]

तब निर्भय हय-रक्षक हँस कर बोला—"यही किया यदि निश्चय,
तो ओटो यह शस्त्र, सफल होगे न बिना पाये रघु पर जय"॥

[५२]

उन्मुख वह यह कह मघवा से, विशिखाशन पर तीर तानता,
करता था आलीढ़-रुचिर तनु-गुरुता से हर की समानता॥

[५३]

स्तंभ-सदृश रघु-शर से हो हृदय-क्षत क्रुद्ध हुआ सुर-नायक।
नव-घन-चय से क्षण-लांछित धनु पर अमोघ ताना तब सायक॥

[५४]

विकट दैत्य-शोणित-परिचित शर रघु के गढ़ा वक्ष में जाकर,
जहाँ अपीत-पूर्व नर-शोणित उसने पिया कुतूहल सा कर॥

[५५]

शची-पत्र-चित्रित, सुर-गज-ताड़न से कठिन उगलियों वाली
हरि-भुज भी कुमार-विक्रम रघु ने स्वनाम-धर शर से घाली॥

[५६]

काटी वज्र-ध्वजा शक्र की अपर मोर-पत्री फिर शर से;
बल से सुर-कमला-कच-कर्षण-सदृश हुआ हरि क्रुद्ध कुँवर से ॥

[५७]

अधः-ऊर्ध्व-गामी सपक्ष शर सर्प-सदृश बरसा कर भीषण,
किया विकट रण जिगीषुओं ने, देखें निकट सिद्ध-सैनिक-गण ॥

[५८]

दुःसह-तेज-धाम रघु को हरि अविरलास्त्र-वर्षा के द्वारा
सका न थाम, स्वतश्च्युत पावक को थामे न यथा घन-धारा ॥

[५९]

तब रघु ने चन्द्रार्ध-मुखी शर से दर दी हरि-धनु की डोरी;
हरिचन्दन-चर्चित प्रकोष्ठ पर मथित-महोदधि-सम जो घोरी ॥

[६०]

प्रबल-शत्रु-बध को तब मघवा बद्ध-वैर ने धनु को डाला।
अद्रि - पक्ष - विच्छेद - दक्ष द्युति-मंडल-मंडित आयुध घाला ॥

[६१]

भटाश्रुओं के संग वज्र-विच्छिन्न-वक्ष रघु गिरा धरा पर।
उनके हर्ष-स्वर के सँग फिर तत्क्षण उठा व्यथा विसरा कर ॥

[६२]

शस्त्र-घात-निष्ठुर चिर-रिपु रघु का भी शौर्य विलोक विलक्षण,
हुआ शक्र सन्तुष्ट, सभी पर होता है गुण का आकर्षण ॥

[६३]

"है त्वदन्य सब को असह्य मम शस्त्र नगों में भी अव्याहत।
बोला हरि—"हूँ तुष्ट, कहो हय के सिवाय किसकी है चाहत ?"

[६४]

धर अध-खिचा तूण में शर, उँगलियाँ स्वर्ण-पुङ्ख-द्युति-मय कर,
दिया प्रियं-वद नृप-सुत ने हरि को प्रत्युत्तर उसी समय पर—

[६५]

"यदि मानों हय को अमोच्य, तो सकल सविधि विधि का फल सारा
प्राप्त करे अविरल-दीक्षा से प्रयत पिता हे प्रभो ! हमारा ॥

[६६]

सुने वृत्त यह हरैकांशता से दुर्जेय यथा अवधेश्वर,
घर पर दूत आपके ही से—है तथैव करणीय सुरेश्वर !"

[६७]

चला गया यह कह मातलि-सारथी—"पूर्ण होवे मन भाया।"
अर्ध-तुष्ट नन्दन सुदक्षिणा का भी लौट भवन को आया ॥

[६८]

किया इन्द्र-चर-पूर्व ज्ञापित नृप ने अभिनन्दन नन्दन का;
स्पर्शण किया हर्ष-जड़ कर से वज्र-व्रण-लांछित फिर तन का ॥

[६९]

इस प्रकार महनीय अवनि-पति ने नव-नवति महा-मख-वाली,
आयु-क्षय के समय स्वर्ग चढ़ने को सीढ़ी सी गढ़ डाली ॥

[७०]

भूपति ने करके मन से विषयादिक का परिपूर्ण निवारण,
देकर यौवन-युक्त निजात्मज को नृप-चिह्न सितातपवारण,
ले महिषी निज संग, किया शुचि आश्रम-जीवन का व्रत धारण,
वृद्ध दिनेश्वर-वंशज भूप इसी व्रत का करते अनुसारण ॥

इति महाकवि श्री कालिदासविरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन
हिन्दी भाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
रघुराज्याभिषेको नाम तृतीयः सर्गः ।

चतुर्थ सर्ग

[१]

पा पितागत राज्य दमका अधिक वह नरपाल,
प्राप्त कर रवि-तेज पावक यथा सायंकाल ॥

[२]

सुन महीप दिलीप पीछे उसे राज्यासीन,
नृप-मनों में सुलगती ज्वाला जली प्राचीन ॥

[३]

निरख इन्द्र-ध्वज-सदृश उसका नया उत्थान,
जन दृगावलि उच्च कर हर्षे सहित सन्तान ॥

[४]

संग इन दो पर चढ़ा मातंग-गति नरपाल—
जनक-सिंहासन, तथा निज शत्रु-संघ विशाल ॥

[५]

कान्ति-लक्ष्य अलक्ष्य पद्मा पद्म-छत्री तान,
भूप साम्राज्यस्थ का थी आप करती मान ॥

[६]

कर स्वयं संचरण जब तब चारणों के साथ,
गिरा गाती थी गुणी की अर्थ-गुरु गुण-गाथ ॥

[७]

भोगते यद्यपि रहे मन्वादि मान्य नृपाल,
तदपि भूमि अभुक्त-पूर्वा सी हुई उस काल ॥

[८]

सब हृदय शुभ दंड-विधि से लिये उसने जीत,
दक्षिणानिल-सदृश,उष्ण न अति,न अति ही शीत ।

[९]

निज गुणों से किया उसने जनक में कम चाव,
आम्र-पुष्पों में यथा करता फलाविर्भाव ॥

[१०]

किया नव नृप को बुधों ने सत् असत् निर्दिष्ट,
पक्ष उत्तर नहीं, उसको पूर्व ही था इष्ट ॥

[११]

पंच-भूतों के हुए गुण भी अधिक उत्कृष्ट ।
हुआ होते नये नृप के नया सा सब दृष्ट ॥

[१२]

चन्द्र चन्दन से, तपन ज्यों ताप से है सार्थ,
बना राजा प्रकृति-रंजन से तथा वह पार्थ ॥

[१३]

श्रुति-तट-स्पर्शी यदपि थे नृपति-नेत्र महान,
था तदपि सूक्ष्मार्थ-दर्शी शास्त्र से दृगवान ॥

[१४]

पद्म-चिन्हा अन्य-राज-श्री-सदृश समुपस्थ,
हुई उसको शरद, जब था लब्ध-शान्ति-स्वस्थ ॥

[१५]

नृप तथा निर्वृष्ट-लघु-घन-मुक्त रवि का ताप
गये दिक्पर्यन्त दोनों एक ही सँग व्याप ॥

[१६]

गिरा घन-धनु इन्द्र का, रघु का तना जय-चाप।
युगल धनु धरते प्रजा हित ओसरे से आप॥

[१७]

काश का कर चमर, छत्र कुशेशयों का तान,
रीस की ऋतु ने, हुई पर प्राप्त वह शोभा न॥

[१८]

मोद-सुमुख नरेश था, शशि था अधिक द्युतिवान।
देखते सम-प्रीति से थे युगल को दृगवान॥

[१९]

हंस-माला, धवल तारक, कुमुदमय कासार--
था सभी में भूप-कुल-यश-भूति का विस्तार॥

[२०]

गोपियाँ कृषि को रखातीं इक्षु-छायासीन,
भूप-यश गातीं, सुनातीं कथा शिशु-कालीन॥

[२१]

दीप्त कुम्भज के उदय से सर हुए मल-हीन।
रघु-उदय से हुए अविभव-भीत शत्रु मलीन॥

[२२]

गुरु-ककुद मद-मत्त साँड़ों ने सरित्तट तोड़,
भूप के लीला-ललित शूरत्व की की होड़॥

[२३]

द्विरद उसके मद-सुरभि-शारद-सुमन-विक्षिप्त,
डालते मद सप्तधा मानों असूया-लिप्त॥

[२४]

शरद ने कर पाँक नदिया, शुष्क-कर्दम राह,
शक्ति के पहिले नृपति को दिया यात्रोत्साह ॥

[२५]

वाजि-नीराजन-समय सु-हुताग्नि ने जय-दान
दिया दक्षिण-गत-शिखा-मिस उसे कर सा तान ॥

[२६]

नगर-गढ़ कर गुप्त, हन पृष्ठारि, भाग्य-समेत,
सैन्य ले षड्-विधि, चला रघु दिग्-विजय के हेत ॥

[२७]

सिन्धु हरि पर मन्दरोत्थित बिन्दु ज्यों, त्यों लाज
डालता था नृपति पर पुर-जरठ-युवति-समाज ॥

[२८]

डाटता सा शत्रु को वह पवन में ध्वज तान,
प्रथम प्राची को चला प्राचीनबर्हि-समान ॥

[२९]

रथ-चलित रज से, तथा घन-सम गजों से भूप
गया करता नभ मही-सम, मही नभ-अनुरूप ॥

[३०]

तेज पहिले, बहुरि रव, पुनि रज, रथादिक-पाँति
फिर चली—थी वह चमू चतुरंग सी इस भाँति ॥

[३१]

नाव से सुप्रतर नदियाँ, नीर-मय मरु-देश,
तरु-रहित बन, शक्ति से करता गया अवधेश ॥

[३२]

पूर्व-सागर-गामिनी गुरु वाहिनी ले संग,
रघु चला, ज्यों ले भगीरथ हर-जटागत गंग ॥

[३३]

हुए रघु-पथ में विफल, या भग्न, या उत्खात
नृपति, होता द्विरद-पथ में यथा तरु-संघात ॥

[३४]

लाँघता सब प्राच्य देशों को विजेता वीर,
गया आखिर पहुँच ताली-श्याम नीरधि-तीर ॥

[३५]

था महीप अनम्र-घालक सिन्धु-वेग-समान।
सुह्मियों ने की स्वरक्षा वैतसी धर बान ॥

[३६]

हने बल से बंग के नौ-साधनोद्यत भूप।
गाङ्ग द्वीपों में नृपति के बने विजय-स्तूप ॥

[३७]

बङ्ग के नृप-संघ ने रघु-पद-कमल में लेट,
उद्धृतारोपित-कलम-सम दी फलों की भेंट ॥

[३८]

पार कर गज-सेतु से कपिशा, सदल सम्राट
चल कलिंग दिया, दिखाई उत्कलों ने बाट ॥

[३९]

दिया डाल महेन्द्र-गिर पर निज प्रताप प्रभूत;
शूल ज्यों गंभीरवेदी-द्विरद-शिर पर सूत ॥

[४०]

लड़े उससे गज-बली कालिङ्ग बरसा बाण;
पक्ष-भेदी शक्र से ज्यों गिरि गिरा पाषाण ॥

[४१]

शत्रु-शर-वर्षा सही काकुत्स्थ ने पर्याप्त,
स्नान कर मांगलिक मानो की जय-श्री प्राप्त ॥

[४२]

बने ताम्बूली-दलों के वहाँ पान-स्थान।
पी गये भट नारिकेलासव तथा अरि-मान ॥

[४३]

अस्त-मुक्त महेन्द्र-पति की मेदिनी मसकी न।
धर्म-विजयी ने करी तद्भूति ही स्वाधीन ॥

[४४]

फलित-पूगावलि-वलित चलता जलधि के तीर,
गया दक्षिण को अयाचित विजय पाता वीर ॥

[४५]

द्विरद-मद-गंधित भटों के भोग से सकलंक,
किया कावेरी नदी-प्रति नदी-नाथ सशंक ॥

[४६]

जा बसा विजिगीषु का दल मलय-घाटी-बीच,
थे जहाँ हारीत-संकुल सघन बन मारीच ॥

[४७]

सटी झड़ कर हय-दलित एला-फलों की धूल
गज-कटों से, दे रहे थे गन्ध जो अनुकूल ॥

[४८]

बँधे चन्दन-सर्प-गाढ़ों में पघैया पीन
सरकते थे शृङ्खला-भेदी गजों के भी न ॥

[४६]

दक्षिणाशा-मध्य घटता भानु का भी ताप;
वहीं पाण्ड्य न सह सके रघु का प्रचंड प्रताप ॥

[५०]

ताम्रपर्णी - सिन्धु - संगम - लब्ध - मुक्ता - भेट,
स्वयश संचित सम, उन्होंने की पदों में लेट ॥

[५१]

कुच-सदृश दक्षिण दिशा के, विमल-चन्दन-युक्त,
मलय-दर्दुर भूधरों को पूर्णतः कर भुक्त,

[५२]

जलधि-मुक्त अवस्त्र भूमि-नितम्ब के अनुरूप,
सह्य गिरि को गया लाँघ असह्य-विक्रम भूप ॥

[५३]

ले चला पश्चिम-जयोद्यत जब अनीक महीप,
राम-शर-चालित जलधि भी लगा सह्य-समीप ॥

[५४]

भीत केरल-नारियों ने दिये भूषण त्याग।
तत्कचों का बन गया सिन्दूर सैन्य-पराग ॥

[५५]

हुई मुरला-वात-वाहित मंजु केतक-रेत
गन्ध-वस्तु बिना परिश्रम भूप-भट-पट-हेत ॥

[५६]

वात-कंपित-राजताली-विपिन-रव को हार
दे रहे थे कवच कर हय-देह पर झनकार ॥

[५७]

बँधे खजूरी-तनों से मद-सुगन्धित नाग।
गिर रहे थे तत्कटों पर त्याग अलि पुन्नाग ॥

[५८]

दिया था याचित जलधि ने परशुधर को स्थान।
दिया रघु को पश्चिमी-धरणीश-मिस कर-दान ॥

[५९]

मत्त-गज-रद-खचित-विक्रम-चिह्न-युक्त महान
गिरि त्रिकूट बना वहाँ रघु-जय-स्तम्भ-समान ॥

[६०]

तब चला थल-मार्ग से ईरान-जय को भूप।
ज्ञान से दरता यती अरि यथा इन्द्रिय-रूप ॥

[६१]

वह यवनि-मुख-कमल-मधु-मद सह सका न नृपाल,
यथा बालातप कमल-गत को न मेघ अकाल ॥

[६२]

हुआ हय-बल यवन-दल से तुमुल युद्ध सरोष,
जहाँ प्रतिभट ज्ञेय थे सुन धनुष का ही घोष ॥

[६३]

दिये भालों से यवन-शिर जटिल डढ़ियल काट;
दी मही मानों समक्षिक क्षौद्र-कुल से पाट ॥

[६४]

शेष रघु की शरण आये झिलिमटोप उतार।
है महात्मा–कोप का प्रणिपात ही उपचार॥

[६५]

द्राक्ष-कुञ्जों में बिछा कल चर्म, कर मधु-पान,
लगे करने दूर रघु-भट विजय-जनित थकान॥

[६६]

चला उत्तर उत्तरी-दल-दलन हित वह पार्थ
शरों से, जैसे करों से सूर्य रस-हरणार्थ॥

[६७]

कर प्रकम्पित अंस कुंकुम-केसरों से युक्त,
सिन्धु-तट पर लोट रघु-हय हो गये श्रम-मुक्त॥

[६८]

वहाँ हूणों में हुआ नृप-शौर्य व्यक्त प्रचण्ड;
हो गये रक्ताभ जिनकी नारियों के गंड॥

[६९]

द्विरद-बन्धन-छिन्न अक्षोटों-सहित काम्बोज
झुक गये, जो सह सके रण में न उसका ओज॥

[७०]

बार बार सुबाजि-बहुला स्वर्ण-राजि महान
भेट में आई, न आया पर उसे अभिमान॥

[७१]

चढ़ गया तब रघु हिमाचल अश्व-दल के संग;
धातु-धूलि बखेर गुरुतर से किये तच्छृङ्ग॥

[७२]

घूम कर लखते गुहाशय केसरी सम-सत्व;
सैन्य-रव में भी जताते थे स्व-निर्भीकत्व ॥

[७३]

वंश मुखरित, मर्मरित कर भूर्ज, गाङ्ग-तुषार
लिये, पथ में पवन करता था नृपति-परिचार ॥

[७४]

बैठ कर मृग-नाभि-वासित प्रस्तरों पर शूर
जम नेमरू-छाँह में, करने लगे श्रम दूर ॥

[७५]

बनीं औषधियाँ निशा में दीप स्नेह-विनैव,
चमक जिनसे उठे सरल-निबद्ध द्विरद-ग्रैव ॥

[७६]

ग्रैव-विक्षत देवदारु विलोक, करते ज्ञात
त्यक्त वासों में गजों का विशद डील किरात ॥

[७७]

पर्वती गण से हुआ रघु-रण वहाँ दुर्द्धर्ष।
अग्नि-वर्षक हुआ शर-सेलाश्म का संघर्ष ॥

[७८]

मार शर मर्दित किये रघु ने गणों के मान।
किन्नरों से स्वभुज-जय-यश का कराया गान ॥

[७९]

सन्धि होने पर परस्पर गये दोनों जान—
नृप हिमालय-सार को, नृप-सार को हिमवान ॥

आत्म-निकेत-निवृत्ति-निमित्त दिया उनको फिर मन्त्र सुहाया।
क्योंकि हुईं चिरकाल-वियुक्त समुत्सुक थीं उनकी घर जाया ॥

[८८]

पाद-द्वंद्व प्रसाद-लभ्य सबने पूजे महाराज के,
थे रेखा-मय चिह्न व्यक्त जिनमें छत्र-ध्वजा-वज्र के।
प्रस्थान-प्रणिपात से उँगलियाँ कीं गौर सम्राट् की,
पादों में मकरन्द-रेणु शिर की सन्माल्य से डाल के ॥

इति महाकवि श्री कालिदासविरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन
हिन्दी भाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
रघुदिग्विजयो नाम चतुर्थः सर्गः ॥

पंचम सर्ग

[१]

सकल कोश-संघात विश्वजित मख में जब दे चुके महीप,
पढ़ कर गुरु-शुल्कार्थ गये वरतन्तु-शिष्य तब कौत्स समीप ।।

[२]

बिना हिरण्मय मृण्मय भाजन में धर अर्घ्य, नृपति सद्वृत्त,
अतिथि-साधु यश-विदित गये श्रुत-विदित अतिथि-सन्मान निमित्त।।

[३]

पूज तपोधन विष्टर-स्थ को प्रमुख यशोधन विधि के साथ,
कर्म-दक्ष विधि-कुशल अवनि-पति बोले निकट जोड़ कर हाथ—

[४]

"कहो कुशल तो हैं कुशाग्र-मति ! तव गुरु मन्त्र-कृतों में गण्य,
मिला ज्ञान तुमको सब जिनसे, ज्यों जग को रवि से चैतन्य ?

[५]

तन-मन-वचन-सतत-संचित जो हरता है हरि का भी चैन,
कहो त्रिविधि-तप वह महर्षि का विघ्न-रहित चलता तो है न ?

[६]

पाले जो सुत-सदृश आलबालादि प्रयत्नों से भरपूर,
वे श्रम-हर आश्रम के तरु क्या हैं वातादि विघ्न से दूर ?

[७]

मख के कुश में भी अभग्न-रुचि रखते मुनि जिन को कर प्यार,
हैं न स्वस्थ वे मृग-शिशु, तजते जो तदङ्क-शय्या में नार ?

[८]

जिनसे सविधि-स्नान तर्पणांजलि पितरों को करते आप,
हितकर हैं क्या उञ्छ-षष्ट-चिह्नित पुलिनों वाले तीर्थाप ?

[६]

चरते तो न ग्राम्य डंगर हैं नीवरादि वन्य भवदीय,
दे सामयिक अतिथियों को करते मुनि जिनसे भरण स्वकीय ?

[१०]

क्या प्रसन्न गुरु ने भेजे हो घर सम्यक् शिक्षण के बाद ?
धरते हो इस समय सर्व-हित-कर द्वितीय आश्रम में पाद ॥

[११]

पूज्य तवागम से अतृप्त मम मन सेवोत्सुक है हे देव !
आये बन से मम गौरव-हित स्व-गुरु-कथन से, या स्वयमेव ?"

[१२]

सुन उदार नृप-वचन, किन्तु धन को कर अर्घ्य-पात्र से ज्ञात,
स्वार्थ-सिद्धि में दुर्बलाश वरतन्तु-शिष्य बोले यह बात ॥

[१३]

"समझो हमें सदैव स्वस्थ, है अशुभ कहाँ जब तुम हो नाथ !
दृष्ट्यावरण न कर सकता तम जब कि दमकता है दिन-नाथ ॥

[१४]

नृप ! वंशोचित पूज्य-भक्ति में गये स्व-पूर्वों को भी जीत ।
मुझे यही है साल कि आया निकट हुआ जब काल व्यतीत ॥

[१५]

तीर्थों को दे ऋद्धि सकल, केवल तन से हो हे सम्राट् !
स्तम्ब-शेष-नीवार-सदृश, आरण्यक जिसके फल लें काट ॥

[१६]

एक-छत्र हो नृप, तथापि है यज्ञज दैन्य रुचिर भवदीय।
देव-पीत-शशि-कला-ह्रास होता विकास से है कमनीय॥

[१७]

मैं अनन्य-गति गुरु-धनार्थ हूँगा अन्यत्र यत्न में लीन।
सलिल-गर्भ से रिक्त मेघ का याचन करता चातक भी न॥"

[१८]

यह कह कर गमनेच्छु रोक वरतन्तु-शिष्य को, नृपति उदार
बोले—"विद्वन्! क्या, कितना गुरु-वर को देना है उपहार?"

[१९]

सविधि-यज्ञ-कर्ता, वर्णाश्रम-रक्षक, गर्वावेश-विहीन
नृप से कहने लगा विषय को तब वह वर्णी महा प्रवीण—

[२०]

"गुरु-शुल्कार्थ विनय की मैंने ऋषि-वर से होकर विद्वान्।
सेवा-भंग-रहित चिर-वर्तिन भक्ति शुल्क ली गुरु ने मान॥

[२१]

बोले गुरु हठ-रुष्ट बिना ही अर्थ-कार्श्य का किये विचार—
'लाओ कोटि चतुर्दश मुद्रा विद्या-संख्या के अनुसार॥'

[२२]

सो मैं अर्घ्य-पात्र से तुमको प्रभु-शब्दावशेष ही जान,
कहना नहीं चाहता अब कुछ, श्रुत-निष्क्रय है क्योंकि महान्॥

[२३]

वेद-विदांवर द्विज-वर से द्विजराज-कान्ति सुनकर यह हाल,
फिर बोला अनघेन्द्रिय-रुचि वह जग का एक-छत्र नरपाल—

[२४]

"गुरु-निमित-याचक, श्रुत-पारग, रघु-सकाश से सिद्धि-विहीन
अन्य वदान्य समक्ष जाय—अवतरे न यह अपमान नवीन॥

[२५]

चतुर्थाग्नि-सम विशद महित मम अग्न्यालय में करो निवास
दिन दो तीन, करूँ तब तक भवदीय-कार्य-साधन-प्रयास"

[२६]

प्रीत विप्रवर ने करली संगर अमोघ नृप की स्वीकार।
नृप भी चले धनद से धन लेने निहार अवनी निःसार॥

[२७]

पा वशिष्ठ-मंत्रोक्षण का बल रुद्ध न होता था रघु-यान
नीरधि-नभ-नग-मध्य, पवन-संगत घन यथा कहीं रुकता न॥

[२८]

धर कर शस्त्र धीर रघु सोये स्यन्दन में जब हुआ प्रदोष;
करना चाहा विजित धनद सामन्त-भाव से ही कर रोष॥

[२६]

कोश-रक्षकों ने गमनोद्यत नृप से, होते प्रातःकाल,
कहा सविस्मय कोश-भवन में नभ से स्वर्ण-पतन का हाल॥

[३०]

प्राप्त हुआ आक्रान्त धनद से वह सब हेम-पुञ्ज द्युतिवान,
दिया कौत्स को सोंप, वज्र-विक्षत सुमेरु के पाद-समान॥

[३१]

बने सकल साकेत-वासियों को दोनों ही श्लाघा-पात्र—
रुच्यधिक-प्रद भूप, तथा गुरु-देयाधिक-निस्पृह वह छात्र॥

[३२]
लदीं सैकड़ों उष्ट्र-वामियाँ धन से, नबी पूर्व नृप-देह,
कर से छू जिसको महर्षि गमनोद्यत बोले यह सस्नेह—

[३३]
"वृत्त-स्थित-नृपार्थ होवे यदि भू काम-सू न तो आश्चर्य।
दुहा अभीष्ट स्वर्ग से भी, है तव प्रभाव अद्भुत नृप-वर्य !

[३४]
है पुनरुक्त-भूत वर अन्यत्, मिला तुम्हें सब श्रेय-कलाप।
मिलै स्वगुण-सम सु-सुत, मिले जैसे कि आपके गुरु को आप"

[३५]
दे यह आशीर्वाद नृपति को, पहुँचा द्विज-वर गुरु के पास।
नृप ने भी पाया उससे सुत, ज्यों भव ने भास्कर से भास॥

[३६]
ब्रह्म-लग्न में नृप-जाया ने जना कुमार-समान कुमार।
अतः कहा गुरु ने सुत को 'अज' ब्रह्म-नाम के ही अनुसार॥

[३७]
वही तेजसी रूप, शौर्य, था वही प्राकृतिक दीर्घाकार।
यथा प्रवर्तित दीप दीप से, था न पिता से भिन्न कुमार॥

[३८]
गुरु से शिक्षित सविधि, यौवनागम से रुचिर कुँवर की चाह
श्री ने की, पर सौम्य-सुता-सम देखी गुरु-सम्मति की राह॥

[३९]
भेजा भगिनी इन्दुमती के स्वयंवरार्थ दूत साकेत
भोज विदर्भाधिप ने रघु को, कर औत्सुक्य अजागम-हेत॥

[४०]

जान उसे सम्बन्ध-योग्य, सुत को विवाह के योग्य विचार,
भोज-समृद्ध-राजधानी को रघु ने भेजा सदल कुमार ॥

[४१]

जुटा दिये डेरों में ढेरों नगरों के सुन्दर उपचार।
नृप-सुत को पथ-वास सुखद होगये यथा उद्यान-विहार ॥

[४२]

धूलि-धूसरित केतु होगये, रुका श्रान्त दल रेवा-तीर,
हिला रहा था जहाँ नक्तमालों को सीकर-सिक्त समीर ॥

[४३]

उठा वन्य-गज एक नदी से लेकर धौत विमल कट-देश।
ऊपर उड़ते अलि-कुल से था व्यक्त पूर्व ही पय-प्रवेश ॥

[४४]

धुला धातु, पर ऋक्षवान-तट पर तद्वप्र-केलि को ज्ञात
करते थे नीलोर्ध्व-रेख-रंजित प्रस्तर-कुंठित दो दांत ॥

[४५]

व्यास तथा संकोच-क्षिप्र कर से वह करी मचाता शोर,
वार्यर्गल-सम तुंग तरंगें चला तोड़ता तट की ओर ॥

[४६]

शैलोपम वह खींच कंठ से शैवल-लता-जाल को संग,
पीछे आप, प्रथम तट पहुँची तत्पीड़ित-जल-राशि-तरंग ॥

[४७]

क्षण भर रुकी गंड पर थी जो जलावगाहन से मद-धार,
पुनरपि उस एकाकी गज की उमड़ी द्विरद अनेक निहार ॥

[४८]

सप्तच्छद-रस-सम सुगंध थी जिसकी कटु, वह उसका दान
सूँघ नाग सब भाग गये, कर व्यर्थ हस्तिपक-यत्न महान ॥

[४९]

उलटे रथ भग्नाक्ष, तोड़ कर बन्धन तुरग भग गये दूर;
संकुल हुआ पड़ाव, लगे तत्क्षण रमणी-रक्षण में शूर ॥

[५०]

लौट जाय आता गज, कट पर अतः कुँवर ने शर-प्रहार
किया अध-खिंचे धनु से, वन-गज को अबध्य नृप-हित निर्धार ॥

[५१]

सैन्य चकित रह गई निरख कर उसे प्रभा-मण्डल से व्याप्त ।
क्षत होते ही मिला कान्त खेचर-तन, नर-तन हुआ समाप्त ॥

[५२]

वह वाग्मी निज-शक्ति-लब्ध देव-द्रुम-कुसुम कुँवर पर डाल,
बोल उठा दशन-द्युति से संवर्धित कर उर-मुक्ता-हार—

[५३]

"हुआ मतंगज में मतंग का गर्व-मूल पाकर के शाप ।
गंधर्वाधिप-प्रियदर्शन-सुत मुझे प्रियंवद जानें आप ॥

[५४]

अनुनय किया प्रणत मैंने जब, आया ऋषि-वर में मृदु भाव ।
अनल-ताप से जल होता है उष्ण, शैत्य है किन्तु स्वभाव ॥"

[५५]

बोले ऋषि-'भेदेगा जब तव कट इक्ष्वाकु-कुलज अज वीर
निज शर से, तू प्राप्त करेगा तब निज गौरव-युक्त शरीर ॥'

[५६]

दर्शन की थी चाह, शाप से सबल आपने लिया उबार।
स्वपद-लब्धि मम व्यर्थ, करूँ यदि मैं न आपका प्रत्युपकार॥

[५७]

उतरै चढ़ै भिन्न मन्त्रों से, रिपु-बध-रहित करै जो जीत,
गान्धर्वास्त्र सखे! सम्मोहन-नामक वह मम करो गृहीत॥

[५८]

करो न लज्जा, हुए दया-पर मुझ पर तुम करते भी वार।
इस प्रार्थी की ओर करो प्रतिषेध-रौद्य धारण न कुमार!"

[५९]

कह तथास्तु, मन्त्रज्ञ उदङ्-मुख अज ने रेवा-वारि पुनीत
पीकर, शाप-मुक्त उससे कर लिया अस्त्र का मंत्र गृहीत॥

[६०]

दोनों का यों हुआ दैव-वश पथ में सख्य अनिर्वचनीय।
एक चैत्ररथ को, सुराज्य-सुन्दर विदर्भ को गया द्वितीय॥

[६१]

गये विदर्भ-महीप लिवाने पुर-समीप जब सुना कुमार।
तदागमन से अति प्रसन्न थे, यथा चन्द्र से पारावार॥

[६२]

प्रणत पुरःसर नृप ने पुर में ला, धन दे, ऐसा सन्मान
किया, कि जनता ने जाना अज गृह-पति, तथा भोज मिहमान॥

[६३]

वितान सुन्दर प्रबन्धकों ने दिया कुँवर को प्रणाम करके,
धरे जहाँ द्वार-देहरी पर बड़े बड़े कुंभ नीर भरके॥

कुमार प्रतिनिधि-समान रघु का बसा उसी ही नये निलय में;
यथा बसे मार बालपन से परे नरों की नवीन वय में ।।

[६४]

वहाँ, स्वयंवर-निमित्त जिसके नरेश आये अनेक पुर में,
निहार लिप्सा उसी कुमारी ललाम के हित कुमार-उर में,
मलीन नारी समान, जो हो निराश दुर्भाव हेर नर के,
कुमार-नयनों-समीप निद्रा पड़ी निशा-मध्य देर करके ।।

[६५]

किये रगड़ कर्ण-भूषणों ने विदीर्ण थे पीन अंस जिसके,
तथा पलँग के परिच्छदों से बिगड़ गये चन्दनादि घिसके,
सुबोध उसका प्रबोध करने लगे उसी की युवा उमर के
प्रगल्भ बंदी-कुमार होते प्रभात भारी बखान करके ।।

[६६]

"मनस्वि-भूषण! विमुक्त शय्या करो, इति-श्री हुई निशा की।
विधातृ-वर से विभक्त दो-मध्य ही हुई है धुरी रसा की।
अभी तुम्हारे पिता उठाने लगे उसे एक ओर उठकर।
कुमार! तुम भी सँम्हालने भार को लगो अन्य ओर जुटकर।।

[६७]

अभग्न-निद्रा-निमग्न तुमसे अदृष्ट हो खंडिताबला सी,
रमा विरम कर समक्ष जिसके गमा रही थी निशा-उदासी,
मयंक वह भी मलीन पश्चिम-दिगंत में अब लटक रहा है।
कुँवर! तुम्हारे प्रसन्न मुख का प्रकाश खोकर भटक रहा है।।

[६८]

रमा-रमण से सुरम्य तो ये पदार्थ दो एक संग खिल कर,
करें न क्यों सद्य साम्य की प्राप्ति को परस्पर कुमार! मिलकर—

नयन तुम्हारे, ललाम तारे जहाँ कि भीतर फिसल रहे हैं,
तथा कमल, कोश-मध्य जिनमें मलिन्द अविरल मचल रहे हैं ॥

[६६]

सुरम्य सौरभ्य आपके मुख-समीर का है स्वभाव से ही,
जिसे कि चाहे प्रभात की वात अन्य गुण के प्रभाव से ही।
कुमार! मानो अतः शिथिल फूल डंठलों से गिरा रही है,
तथा दिवाकर-मयूख-विकसित कुशेशयों को हिला रही है ॥

[७०]

हिमाम्भ-कण स्वच्छ ताम्र-तरु-पल्लवोदरों-मध्य पात पाकर,
चमक रहे हैं सुधौत-मुक्ता-समान सुन्दर प्रभा दिखा कर।
प्रकाश जिसमें रुचिर अधर पर विकास पाता द्विजावली का,
रुचै उसी तब विलास-मय-मन्द-हास-सम तत्प्रकाश नीका ॥

[७१]

प्रताप का ये अखंड-भंडार भानु जब तक निकल न पाया,
तुरन्त तब तक अनूरु ने अन्धकार का मार दल भगाया।
निहार अयोधनाग्र-गामी प्रचार तुम से सुवीर-वर का,
पिता तुम्हारे स्वयं करेंगे सँहार क्या शत्रु के निकर का?

[७२]

कुमार! बगलें हिला युगल तव गजेन्द्र निद्रा छुड़ा रहे हैं;
विसार कर तल्य, खींच जंजीर झनझनाती, तुड़ा रहे हैं।
बने अरुण दन्त-कोश उनके प्रभात-रवि-कान्ति-योग पाकर;
विदीर्ण मानो हुए कुधर-धातु के तटों का प्रहार खाकर ॥

[७३]

कुमार! हे नीरजाक्ष ये तुंग तंबुओं में बँधे तुम्हारे
भगा रहे नींद इस समय हैं वनायुदेशी तुरंग सारे।

बड़े बड़े सामने लवण-खंड चाटने को पड़े हुए हैं,
प्रभात होते समय मलिन वक्त्र-वाष्प से जो मढ़े हुए हैं॥

[७४]

फलों के उपहार की सुरचना फीकी सभी हो गई।
दीपों की स्व-मयूख-मण्डल-विभा भी, देखलो, खो गई।
भाषी मंजुल पंजर-स्थ अपना तोता सुनो बोलते
बाणी वो, हम लोग नींद जिससे हैं आपकी खोलते॥

[७५]

सुन यह सूत-सुतों की रचना जगे कुँवर, झट तल्प बिसारी;
सुप्रतीक ज्यों गाङ्ग पुलिन तजता मराल-रव सुन मद-कारी॥

[७६]

सुनयन-पद्मा कुँवर प्रात के आगम-विहित कर्म कर सारे,
रुचिर रूप धर स्वयंवर-स्थिति भूप-निकर की ओर पधारे॥

इति महाकवि श्री कालिदासविरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन
हिन्दीभाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
अजस्वयंवराभिगमनो नाम पंचमः सर्गः॥

षष्ठ सर्ग

[१]

लखे वहाँ उसने मंचों पर सोपचार-पीठ-स्थ नरेश,
विमान-स्थ देवों की छवि की प्राप्त जिन्होंने धर वर वेष ॥

[२]

इन्दुमती-प्रति थे निराश नृप अज को लख उस मार-समान,
जिसको फेर दिया था त्र्यंबक ने तनु अनुनति रति की मान ॥

[३]

चढ़ा कुँवर नृप-नियत मंच पर सुभग सीढ़ियों से उस बार,
शिला-विभंगों से ज्यों गिरि के तुंग शृङ्ग पर सिंह-कुमार ॥

[४]

रुचिर-वर्ण-परिधान-रचित मणि-खचित पीठ पर बैठ कुमार,
लगा अतीव ललाम, बर्हि-पीठ-स्थ लगें ज्यों कलित कुमार

[५]

प्रभातिशय से दुर्निरीक्ष्य लक्ष्मी का हुआ स्वरूप विभक्त
उस नृप-दल सहस्रधा, ज्यों हो चपला का घन में व्यक्त ॥

[६]

रुचिर-वेष-धर श्रेष्ठ-पीठ-संस्थित भूपों में रुचा कुमार
रघु का ही निज द्युति से, सुर-तरुओं में पारिजात-अनुसार ॥

[७]

पुर-जन-नयन-निपात उसी पर हुआ सभी भूपों को त्याग;
यथा महोत्कट बन-गज पर अलि गिरें सुमन-विटपों से भाग ॥

[८]

जब कि हो रहे थे संस्तुत सूतों से रवि--शशि-वंशज भूप;
फहराती थीं ध्वजा , महक देतीं थी अगुरुसार की धूप;

[९]

बजते थे जब शंख, व्याप्त था मंगल-वाद्य-नाद सब ओर,
जिनको सुनकर लगे नाचने नगर-निकट बागों में मोर;

[१०]

तब नर- वाह्य पालकी में आरूढ़, धरे वैवाहिक वेष,
पतिंपरा ने मंचान्तर-पथ-मध्य सपरिजन किया प्रवेश ॥

[११]

नयन-शतैक-लक्ष्य थी कन्या-मूर्ति ब्रह्म की सृष्टि विशेष,
जिस पर मन से गिरे, रहे तन से ही मंचासीन नरेश ॥

[१२]

हुए तदेच्छुक भूपों के शृंगार-विकार प्रणय के दूत।
यथा पादपों मे होती है पल्लव-शोभा प्रादुर्भूत ॥

[१३]

थाम करों से नाल, लोल पत्रों से हनता हुआ मलिन्द,
रच पराग-परिवेष, घुमाता था कोई लीला-अरविन्द ॥

[१४]

अन्य छैल तिरछा मुख कर, करता था ठीक हार को खींच,
जो कि अंस से हटा , सटा था मणि-मय-वलय-कोटि के बीच ॥

[१५]

अग्राङ्गुलि को दाब, खींच कुछ ललित नयन, कोई नर-पाल
पद से हेम-पीठ पर लिखता था, तिरछी द्युति नख की डाल ॥

[१६]

उन्नतांस कर, वाम भुजा का आसनार्द्ध पर किये निवेश,
नत त्रिक-ओर हार कर, करता बात मित्र से अपर नरेश ॥

[१७]

प्रिया-नितम्बोत्पाटक नख से नोंच रहा था कोई भूप
केतक-दल को, जो था वनिता-विभ्रमार्थ श्रुति-भूषण-रूप ॥

[१८]

कमल-रक्त-तल, रेख-केतु-लांछित कर से लीला में पाश
किसी नृपति ने फेंका, जिसमें फैला मणि-मुद्रिका-प्रकाश ॥

[१९]

चमका कर गाइयाँ वज्र-किरणों से धरता कोई हस्त
यथा-स्थान-संस्थित किरीट पर भी, था मानो स्वपद-स्रस्त ॥

[२०]

तब नृप-कुल-वृत्तज्ञ द्वार-पालिका सुनन्दा ने सन्देश,
बन नर-सदृश प्रगल्भ, दिया कन्या को कर समक्ष मगधेश—

[२१]

"यह शरणागत-साधु, अमित-बल नृपति, मगध है जिसका धाम,
जन-रंजन में लब्ध-कीर्ति है, मिला परन्तप सार्थक नाम ॥

[२२]

की जगती नृपवती इसी ने यद्यपि हैं नृप अन्य अनेक
ग्रह-नक्षत्र-मयी यामिनि को ज्यों दमकाता है शशि एक ॥

[२३]

अविरल मख कर इस नरेश ने किये बुला कर नित्य सुरेश,
चिर-मन्दार-विहीन पाण्डु गंडों पर पड़े शची के केश ॥

[२४]

पाटलिपुत्र-गवाक्ष-स्थित-ललना-नयनों को दो उत्साह
पुर में जाते, इस वरेण्य को वरने की यदि की है चाह ॥"

[२५]

यह सुन, उसे विलोक, हटा कुछ दूर्वाङ्कित मधूक का हार,
सरल प्रणति से ही तन्वी ने किया बिना बोले परिहार ॥

[२६]

वेत्र-धारिणी गई नृपान्तर-निकट कुमारी को ले संग,
अन्य वनज तक मानस-हंसी को ले पवनज यथा तरंग ॥

[२७]

बोला—"यह अंगेश अवनि-गत भी करता है हरि-पद-भोग—
यौवन-छवि-रत सुर-कलत्र हैं, गज-शिक्षक गज-शास्त्री लोग ॥

[२८]

मुक्ताफल-सम दीर्घ अश्रु-बूँदों का कर कुच-मध्य प्रसार,
सूत्र बिना ही इसने सौंपे मानों अरि-स्त्रियों को हार ॥

[२९]

भिन्नाश्रय श्री-गिरा प्रकृति से इसमें हैं एक-स्थानीय।
मधुर-सत्य-वाणी-शुचि भद्रे ! तुम ही दो में बनो तृतीय ॥"

[३०]

"चलो"-सखी से कहा कुमारी ने नर-पति से नयन उतार।
वह न काम्य, या वह न सुदर्शिनि यह न, भिन्न-रुचि है संसार ॥

[३१]

इन्दुमती को द्वार-पालिका ने दिखलाया अपर नरेश,
अरि-दल-दुःसह जो कि नवोदित-शशि-सम था अभिराम विशेष ॥

[३२]

"यह अवन्ति-नृप दीर्घ-वक्ष, कृश-वर्तुल-कटि, विशाल-भुजदंड,
रुचै सयत्न विश्वकर्मा से सान-कसा जैसे मार्तण्ड ॥

[३३]

इस समग्र-बल के प्रयाण में अग्रग-तुरगोत्थापित धूल
करता है सामन्त-मौलि-मणि-दीप्ति-मयूखों को निर्मूल ॥

[३४]

महाकाल-वासी शशि-शेखर निकट वास कर यह नर-नाथ
कृष्णपक्ष में भी भजता है द्युतिमय निशा स्त्रियों के साथ ॥

[३५]

क्या इस तरुण-नरेश-संग रंभोरु ! चाहती हो सुविहार
उद्यानों में, जिन्हें कँपाती है सिप्रा-लहरों की ब्यार ?"

[३६]

बन्धु-पद्म-पोषक, बल से अरि-कर्दम-शोषक उसमें चित्त
रमा न सुकुमारी का, ललके ज्यों न कुमोदिनि सूर्य निमित्त ॥

[३७]

विधि की सुन्दर सृष्टि, गुणवती, सुदती वह, पद्मोदर-कान्त,
की अनूप-नृप-निकट सुनन्दा ने फिर कह कर यह वृत्तान्त—

[३८]

"हुआ अभूत-पूर्व योगेश्वर कार्तवीर्य अवनी पर भूप,
रण-सहस्र-भुज जिसने गाढ़े अष्टादश द्वीपों में यूप ;

[३९]

जो सचाप आगे आता था करते ही दुष्कर्म-विचार,
अन्तःकरण-स्थित अनीति का भी जो करता था परिहार ;

[४०]

ज्या-बन्धन-जड़-भुज, हरि-जित, वक्त्रों से लेते लम्बी श्वास,
रावण ने प्रसाद तक जिसके कारा-गृह में किया निवास;

[४१]

हुआ उसी के कुल में है यह श्रुत-गुरु-निरत प्रतीप नरेश,
'प्रकृति-लोल'—यह नर-दोषज श्री-अयश किया जिसने निःशेष ॥

[४२]

रण में अग्नि सहायक पाकर जिसने राम-परशु की धार,
क्षत्रिय-काल-रात्रि सी तीखी मानी उत्पलदलानुसार;

[४३]

इस गुरु-भुज की हो अंक-श्री, यदि गौखों से रेवा-धार
लखो सोर्मि माहिष्मति-वप्र-नितंब-लंबि-मेखलानुसार ॥"

[४४]

हुआ न इन्दुमती को रुचिकर वह प्रिय-दर्शन भी अवनीश,
यथा कमलिनी को न पूर्ण-कल शरद्-मेघ-मोचित रजनीश ॥

[४५]

राज-सुता से द्वार-पालिका बोली दिखा सुषेण महीप,
शूरसेन-पति, स्वर्ग-विदित, आचार-विमल, युग-कुल-प्रदीप—

[४६]

"नीपान्वय यज्वा इस नृप में सहजान्योन्य-विरोध समाप्त
हुआ गुणों का, ज्यों जीवों का शुचि सिद्धाश्रम को कर प्राप्त;

[४७]

फैलाया जिसने स्व गेह में नयन-सुखद शशि-सदृश विकास;
तथा प्रताप प्रखर से अरि-पुर-हर्म्यों में उपजादी घास;

[४८]

जिसकी कामिनियों का कुच-चन्दन धुल, करते वारि-विहार,
यमुना को मथुरा में भी करता गंगा-संगतानुसार ॥

[४९]

उर-प्रकाशक मणि को धर यह गया सकौस्तुभ हरि को जीत,
जो दी थी यमुना-निकेत कालिय ने होकर तार्क्ष्य-विभीत ॥

[५०]

बिछें चैत्ररथ-सम वृन्दावन में सेजों पर मृदुल प्रवाल।
मान इसे पति सुन्दरि! उन पर भोगो यौवन-रंग रसाल ॥

[५१]

जल-कण-सिक्त, शिलाजतु-सुरभित शिला-तटों पर हो आसीन,
देखो गोवर्धन-विवरों में मोर-नृत्य पावस-कालीन" ॥

[५२]

गई भँवर-वर-नाभि नृपान्तर-बधू-भाविनी उसको छोड़।
सिन्धु-गामिनी नदी यथा बढ़ती पथ-गत पहाड़ को तोड़ ॥

[५३]

बोली यह किंकरी पूर्ण-विधु-मुखी सखी से, जब कि समीप
था अरि-मर्दन साङ्गद-भुज हेमाङ्गद-नाम कलिङ्ग-महीप—

[५४]

"यह महेन्द्र-सम सबल, महोदधि तथा महेन्द्राचल का नाथ,
जिसके समद गजों मिस चलता है महेन्द्र यात्रा में साथ;

[५५]

धरता है जो द्वि-भुजों पर ज्या-घर्षण-रेख धनुर्धर वीर,
वन्दी-कृता शत्रु-लक्ष्मी की मानो साञ्जन अश्रु-लकीर ॥

[५६]

हैं गवाक्ष-लक्षित लहरें, गुरु रव करता है सिन्धु समीप।
अतः विना ही याम-तूर्य जगता यह स्व-गृह-सुप्त महीप॥

[५७]

इसके साथ रमो ताली-वन-मर्मर-मय समुद्र के तीर,
जहाँ लवंग-सुमन ला द्वीपों से हरता है स्वेद समीर॥"

[५८]

भोजानुजा रूप-रुचि ने प्रेरित होकर भी दिया विसार
वह नृप, करै अभागे का ज्यों यत्नानीत रमा परिहार॥

[५६]

सुर-सम नागपुराधिप के जा निकट सुनन्दा ने वृत्तान्त
कहा कुमारी से 'चकोर-नयनी! लख' कहने के उपरान्त—

[६०]

"पाण्डु-भूप यह, हरिचन्दन-चर्चित अंसों पर डाले हार,
है बालातप-रंजित-निर्झर-धार-सहित-भूधरानुसार ;

[६१]

अश्व-मखाभिषिक्त जिसके सौस्नातिक बने घटज हो प्रीत,
रोक जिन्होंने लिया विन्ध्य गिरि, उगल दिया रत्नाकर पीत ;

[६२]

हर से दुर्लभ-अस्त्र-प्राप्त जिससे कर संधि किया प्रस्थान
स्वर्ग-विजय को उद्धत रावण ने, भय जनस्थान का मान॥

[६३]

बनो भूमि-सम गुरु तुम विधि से इस कुलीन को देकर पाणि,
रत्नमयार्णव-रशना–भूषित-दक्षिण-दिक्सपत्नि कल्याणि !
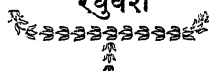
[६४]

करो तमाल-पल्लवाच्छदित मलय-बनों की सैर अखंड,
ताम्बूली-मय पूग, जहाँ है एला-लता-व्याप्त श्रीखंड !

[६५]

तुम रोचना-गौर-तनु, इन्दीवर-श्याम-तनु है यह भूप।
युग-शोभा-वृद्ध्यर्थ बने युग-योग दामिनी घनानुरूप ॥"

[६६]

भोजानुजा-चित्त में तत्सम्मति को नहीं मिला अवकाश ;
सूर्य विना संकुचित कमलिनी में न पड़े ज्यों शशि-प्रकाश ॥

[६७]

वह पतिंवरा, जो थी निशि में चलती दीपक-शिखा-समान,
जिस जिस को तज गई हुआ वह वह नृप नृप-पथाट्ट-सा म्लान ॥

[६८]

'मुझे वरै न वरै'—संशय में उसे निकट लख अज था व्यस्त ।
दक्षिण भुज ने वलय-स्थल पर किन्तु फड़क वह किया निरस्त ॥

[६९]

गई नृपान्तर-निकट न कन्या, अज को लख सर्वाङ्ग-ललाम ।
भ्रमर-पंक्ति चाहती नहीं है वृक्षान्तर तज कुसुमित आम ॥

[७०]

इन्दु-द्युति उस इन्दुमती का चित्त उसी में लीन निहार,
अनुक्रमज्ञ सुनन्दा बोली तब यह वचन सहित विस्तार-

[७१]

"नृप-वर हुआ ककुत्स्थ एक इक्ष्वाकु-वंश्य गुण-गण-विख्यात,
हुए महाशय कोसलेन्द्र जिससे 'काकुत्स्थ' शब्द से ज्ञात ॥

[७२]

चढ़ महोक्ष-रूपी महेन्द्र पर, जिसने रण में धर हर-वेष,
पल्लव-रचना-रहित किये बाणों से असुर-नारि-कट-देश ॥

[७३]

सुर-गज-ताड़न-शिथिल वलय से वलय रगड़ कर जो नर-राज,
सुभग-स्वरूप-युक्त हरि के भी आसनार्ध पर गया विराज ॥

[७४]

कुल-प्रदीप दिलीप हुआ उसके कुल में महीप यशवान,
किये एक कम शत मख जिसने शतमख का रखने को मान;

[७५]

जिसके शासन में वनिताएँ सोती थीं विहार-पथ-बीच।
कौन बढ़ाता कर, उनके पट सकता था न पवन भी खींच ॥

[७६]

तत्पद-पालक तत्सुत रघु ने किया विश्वजित यज्ञ-विशेष,
चतुर्दिशा-संचित लक्ष्मी कर दी जिसने मृद्-भाजन-शेष;

[७७]

भूधर-जलधि-भुजंगलोक-नभ-मध्य गया उसका यश व्याप
अविच्छिन्न, जिसका हो सकता था न मान द्वारा कुछ माप ॥

[७८]

यथा जयन्त इन्द्र के, उसके जन्मा यह अज-नाम कुमार,
जो कि अनाड़ी भी धरता है धुर्य-जनक-सम-गुरु-भू-भार ॥

[७९]

कुल में, छवि में, नव-वय में, विनयादि गुणों में आत्म-समान
वरो इसे, मिल जावे जिससे कंचन-मध्य रत्न द्युतिवान ॥

[८०]

रुके सुनन्दा-वचन, लजा कर कुछ नृपात्मजा ने उस बार,
डाल स्वयंवर-हार-सदृश मुद-विमल दृष्टि वर लिया कुमार ॥

[८१]

वह लज्जा-वश व्यक्त नहीं कर सकी कुँवर-हित अपना नेह।
किन्तु हुआ वह प्रकट कुटिल-केशी की भेद पुलक-मिस देह ॥

[८२]

हँस कर बोली वेत्र-धारिणी सखी सखी का लख यह हाल—
"आर्ये! आगे चलें", बधू ने किये क्रोध से नयन कराल ॥

[८३]

करभोरू ने धात्रि-करों से यथा-स्थान अज-कंठासक्त
करवाया वह हार, मूर्त-अनुराग-सदृश, कुंकुम से रक्त ॥

[८४]

दीर्घ वक्ष में पड़ा हुआ माङ्गल्य-सुमन-मय हार महान,
उस वरेण्य ने माना उर में इन्दुमती-भुज-पाश-समान ॥

[८५]

"मिली प्रभा घन-मुक्त चन्द्र में, मिली देव-सरिता सागर में"—
सम-गुण-योग-मुदित नर कहते भूप-कर्ण-कटु वचन नगर में ॥

[८६]

वह दल, जिसमें इधर मुदित वर-पक्ष, उधर नृप-वर्ग म्लान था,
प्रफुलित-पद्म, मलीन-कुमुद-बन-मय प्रभात-सर के समान था ॥

इति महाकवि श्रीकालिदासविरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन
हिन्दी भाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
स्वयंवरवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ॥

सप्तम सर्ग

[१]

गुह के साथ देव-सेना सी थी जो सदृश कान्त के साथ,
उस भगिनी को लिये हुए पुर में प्रविष्ट क्रथकैशिक-नाथ ॥

[२]

इन्दुमती-प्रति-विफल भूप भी रूप-वेष की निन्दा घोर,
करते गये प्रभात-ग्रह-सम-क्षीण-कान्ति शिविरों की ओर ॥

[३]

किये शची-संनिधि ने बाधक वहाँ स्वयंवर के निःशेष;
अतः हो गये शान्त समत्सर भी जो थे अज-ओर नरेश ॥

[४]

वज्र-द्युति-सम तोरणाङ्क, नव साज जहाँ थे, रोकी धप
केतु-छाँह ने, उस नृप-पथ से निकला सबधू कुँवर अनूप ॥

[५]

स्वर्ण-जाल-मय सौधों से नारियाँ रहीं थी उसे निहार,
त्याग अपर सब कर्म बन पड़े जिनसे कुछ ऐसे व्यापार—

[६]

खिड़की को सहसा जाते खुल पड़ी किसी के शिर की माल।
कर से थामे रहने पर भी सूझी यह न बाँध ले बाल ॥

[७]

प्रसाधिका-द्वारा पद-सन्मुख धृत लाक्षारस को ही खींच,
लपकी कोई लीक झरोखे तक उसकी करती पथ-बीच ॥

[८]

कोई दक्षिण दृग में अंजन आँज, निरंजन रख दृग वाम,
वातायन तक वैसी ही चल पड़ी शलाका कर में थाम ॥

[९]

गमन-भिन्न नीवी बे बाँधे कोई झाँक रही थी जाल।
खड़ी रही थामे कर से पट, भूषण-कान्ति नाभि पर डाल ॥

[१०]

द्रुत-स्खलित' गति से पद पद पर गिरी किसी की रशना छूट,
अर्ध-गुथित जो सूत्र-शेष रह सटी अँगूठे से झट छूट ॥

[११]

उन अति चकितों के मद-सुरभित वदनों से होकर संसक्त,
गौख लोल-नेत्रालि-संकुलित थीं सरसिज-सज्जित सी व्यक्त ॥

[१२]

अज को नयनों से पीतीं उनको सुध विषयान्तर की थी न।
मानो हुए पूर्णतः सब करणों के कर्म दृगों मे लीन ॥

[१३]

"रुचा स्वयंवर ठोक, यदपि भोज्या-याचक अदृष्ट थे भूप।
श्री को हरि ज्यों, इसे अन्यथा कैसे मिलता पति अनुरूप ?

[१४]

परस्परापेक्षित-छवि इस जोड़ी को यदि न जोड़ता दैव,
तो होता इन दो में उसकी छवि-रचना का यत्न वृथैव ॥

[१५]

वरा सहस्रों भूपों में कन्या ने स्व-प्रतिरूप कुमार।
थे ये युग रति-मार, हृदय रखता है जन्मान्तर-संस्कार" ॥

[१६]

सुनता पौर-नारियों की श्रुति-सुखद कथाएँ इसी प्रकार,
मंगल-रचना-रुचिर पहुँच सम्बन्धि-सद्म में गया कुमार॥

[१७]

कामरूप-भूपति-कर धर करिणी से उतरा तुरत कुमार,
पैठा भोज-कथित अन्तश्चत्वर में वनिता-मनानुसार॥

[१८]

नृप ने दिये दुकूल-युग्म दे अर्घ्य समणि-मधुपर्क सहेत;
किये विशद-पीठ-स्थ कुँवर ने स्वीकृत नारि-कटाक्ष-समेत॥

[१९]

बधू निकट स-दुकूल उसे ले पहुँची सखियाँ विनयाधीन;
यथा सफेन सिन्धु को ले तट-निकट चन्द्र-रश्मियाँ नवीन॥

[२०]

पावक के सम भोज-पुरोहित ने पावक में दे हवि-दान,
किये वहाँ संयुक्त बधू-वर साक्षी-रूप उसे ही मान॥

[२१]

थाम बधू के कर को कर से लगा कुँवर अत्यंत ललाम,
ज्यों निकट-स्थ अशोक-लता-पल्लव को पल्लव पर धर आम॥

[२२]

स्विन्नांगुलि थी बधू, हुए वर के प्रकोष्ठ पर कंटक व्यक्त।
की स्ववृत्ति मानों स्मर ने उस क्षण दोनों में सदृश-विभक्त॥

[२३]

क्रिया-योग से रहित, परस्पर-लोलुप, दृष्टि डालते वाम,
ललित लाज के बन्धन में बँध गये युगल के नयन ललाम॥

[२४]

दीप्तानल की प्रदक्षिणा करते वे यों होते थे व्यक्त,
यथा मेरु-चहुँ-ओर घूमते रात्रि-दिवस अन्योन्यासक्त ॥

[२५]

उस नितंब-गुर्वी, चकोर-नयनी सलज्ज ने लाज विसृष्ट
कीं पावक में, ब्रह्म-तुल्य उस याजक से होकर आदिष्ट ॥

[२६]

उठा अग्नि से लाज-शमी-पल्लव-हवि-गन्धित धूम पुनीत,
बधू-कटों पर पड़ क्षण भर जो श्रुति-भूषण सा हुआ प्रतीत ॥

[२७]

सांजन जल से आकुल दृग, हो गये यवांकुर-कुण्डल म्लान;
हुए बधू के गंड अरुण आचार-धूम का कर आदान ॥

[२८]

स्नातक-गण ने, नृप सबन्धु ने, पुरंध्रियों ने, क्रमानुसार,
रोपे आर्द्राक्षत, लखते थे स्वर्णासन से बधू-कुमार ॥

[२९]

यों कर चुका विवाह बहिन का जब विदर्भ-कुल-दीप नरेश,
पृथक् पृथक् नृप-पूजनार्थ दे दिया अधिकृतों को आदेश ॥

[३०]

गूढ़-ग्राह-विमल-सर-सम, कर गुप्त मोद-चिह्नों से द्वेष,
उपदा-मिस पूजा लौटाकर हुए भोज से विदा नरेश ॥

[३१]

सिद्धि-हेत संकेत पूर्व ही करके यथा-समय नृप-लोक,
प्रमदामिषाहरण की करके ठान, अड़ा अज-पथ को रोक ॥

[३२]

जब निज अनुजा का विवाह कर चुका पूर्ण क्रथकैशिक-नाथ,
यथोत्साह धन दे कुमार को विदा कर दिया जाकर साथ ॥

[३३]

तीन रात करके निवास त्रि-भुवन-विश्रुत उस अज के साथ,
फिरा भोज, पर्वान्त-काल में यथा फिरै रवि से निशि-नाथ ॥

[३४]

रघु से सब नृप रुष्ट पूर्व ही थे हरने के कारण वित्त।
तत्सुत के स्त्री-रत्न-लाभ से कुढ़ा और भी उनका चित्त ॥

[३५]

भोज्या को ले जाते अज के पथ में अड़ा भूप-दल क्रुद्ध,
बलि-लक्ष्मी लेते वामन-पद किया इन्द्र-रिपु ने ज्यों रुद्ध ॥

[३६]

आप्त सचिव को तद्रक्षण में रखकर अमित भटों के संग,
भिड़ा भूप-सेना से अज, ज्यों शोण गङ्ग से तुंग-तरंग ॥

[३७]

रथी रथी, पैदल पैदल, घुड़चढ़े घुड़चढ़े का तब वार
हुआ, गजस्थ गजस्थ लड़े, छिड़ गई सदृश शूरों में रार ॥

[३८]

तूर्य-नाद में गिरी गिरा, कहते न धनुर्धर कुलाभिधान :
शराक्षरों से ही आपस में करते व्यक्त स्व-नाम महान ॥

[३९]

अश्वोत्थापित, रथ-चक्रों से सघन धूलि ने, पा विस्तार ॥
कुञ्जर-कर्ण-घात से, रवि को ढाँक लिया अंशुकानुसार ॥

[४०]

मत्स्य-केतु मुख फाड़ वायु-वश करती वृद्ध-सैन्य-रज-पान,
रुचीं मलीन नवीन नीर पीतीं याथार्थिक-मीन-समान ॥

[४१]

गज विलोल-घंटा-ध्वनि से थे ज्ञात, चक्र-रव से थे यान।
सान्द्र धूलि में स्वामि-नाम सुन होता था निज-पर का ज्ञान ॥

[४२]

लोचन-पथ को रोक समर में फैला रज-तम-तोम अखंड।
शस्त्र-क्षत-हय-गज-भट-गण का रुधिर बन गया नव मार्तंड ॥

[४३]

अवनी से उठकर शोणित ऊपर उड़ती वाताहत धूल
थी सुलगे अंगारे पर पूर्वोत्थित धूँए के अनुकूल ॥

[४४]

मूर्च्छा से जग रथी सारथी तुरग-निवर्तक को फटकार,
दृष्ट केतु से ज्ञात स्वहन्ताओं पर करते थे फिर वार ॥

[४५]

अर्ध-मार्ग में पर-शर-खंडित भी धनुर्धरों के शर घोर
फल-समेत पूर्वार्ध-भाग से गये लक्ष्य तक करके जोर ॥

[४६]

क्षुरा-धार-सम-खर चक्रों से छिन्न सूत-शिर गज-रण-बीच
गिरते थे स-विलम्ब, क्योंकि कच लेते श्येन नखों से खींच ॥

[४७]

हयासीन ने हना न हन कर अरि प्रतिघाताशक्त विचार।
हय स्कंध पर नियत-काय फिर चेत जायँ यह किया विचार ॥

[४८]

निडर सवर्म भटों की नंगी असि गुरु गज-दन्तों को तोड़,
आग उगलतीं, जिसे बुझाते भीत नाग कर से जल छोड़ ॥

[४६]

शर-विच्छिन्न भाल थे फल, थे च्युत शिरस्त्र मद-पात्र-समान ;
मद-कुल्या था रुधिर, बनी रण-भूमि मृत्यु का पान-स्थान ॥

[५०]

माँस-प्रिया शिवा भी खगखंडित भुज-खंड खगों से खींच,
देती डाल सालती थी जब अंगद-कोटि तालु के बीच ॥

[५१]

अरि-असि-भिन्न-भाल कोई भट रण में झट पा गति स्वर्गीय,
ले सुराङ्गना वाम ओर लखता नाँचता कबन्ध स्वकीय ॥

[५२]

कोई दो भट सूत-मरण पर बनते रथी सारथी संग,
गदा-युद्ध हय मरते, करते बाहु-युद्ध आयुध कर भंग ॥

[५३]

कोई दो भट एक संग कर एक दूसरे का संहार,
एकाप्सरा-याचना-वश, करते थे सुर-गति में भी रार ॥

[५४]

क्रमशः इधर उधर मारुत-संवृद्ध-महार्णव-लहर-समान
उन दो व्यूहों का न परस्पर हार-जीत का रहा विधान ॥

[५५]

रिपु से भग्न-सैन्य भी अज रण-धीर चला अरि-सैन्य-समक्ष ।
फिरता धूम पवन से, पावक गिरता वहीं जहाँ है कक्ष ॥

[५६]

रथी, निषङ्गी, कवची, धन्वी, दृप्त एक ही अज ने चीर
दिया भूप-दल, यथा प्रलय में गुरु-वराह ने अर्णव-नीर ॥

[५७]

दक्षिण अज-कर कलित लगा रण-मध्य तूण-मुख पर क्रियमाण,
श्रुति तक खिंच मौर्वी ही मानों जनती थी रिपु-घातक बाण ॥

[५८]

रोष-रक्त अति ओष्ट, ऊर्ध्व-रेखाङ्कित थे जिनके भ्रू-जाल,
बिछा दिये भू पर भालों से अज ने वे स-हाँक अरि-भाल ॥

[५९]

सब गजादि सेनाङ्गों से, सब कङ्कट-भेदी शस्त्र सम्हाल,
सब प्रयत्न कर रण में, उस पर टूट पड़े सब ही नरपाल ॥

[६०]

वह ध्वजाग्र से ही लक्षित था, रथ पर बिछा परायुध-जाल,
यथा सूर्य हिम-लिप्त दीखता तनिक तेज से प्रातःकाल ॥

[६१]

गान्धर्वास्त्र सुलाने वाला, प्राप्त प्रियंवद से विकराल,
छोड़ा सजग, मदन-सुन्दर, अधिराज-तनुज अज ने उस काल ॥

[६२]

धनुषों से कर फिरे, गिरे एकांस ओर शिर-कवच कराल ।
पड़े ध्वज-स्तंभों में तन, सो गया सकल नृप-दल उस काल ॥

[६३]

शंख प्रिया-पीताधर-स्थ का करता रव वह वीर महान,
रुचा उस समय मूर्त स्व-हस्तार्जित यश का करता सा पान ॥
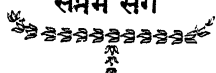
[६४]

शंख-स्वन सुन फिरे स्व-भट, देखा निद्रित-रिपु-मध्य कुमार,
मुकुलित-कमल-विपिन में छिटके प्रतिबिम्बित शशि के अनुसार

[६५]

लिखा गया सरुधिर शराग्र से नृप-ध्वजों पर यह आख्यान—
"सम्प्रति अज ने हरा तुम्हारा मान, कृपा कर हरी न जान" ॥

[६६]

चाप-कोटि पर एक भुजा थी, खुले शिरस्त्र हटाते बाल;
था ललाट पर स्वेद कहा जब भीत प्रिया से अज ने हाल—

[६७]

"शिशु ने हरे शस्त्र! देखो वैदर्भि! परों को मम मत मान।
मम-कर-गत तुमको लेने का करते इस बल पर अरमान!"

[६८]

दमक उठा उसका तुरन्त मुख तजकर शत्रु-जनित संताप।
निज नैर्मल्य यथा पाता है दर्पण त्याग श्वास की भाप ॥

[६९]

हुई मुदित, पर किया सखी-मुख से, न स्व-मुख से, प्रिय-गुण-गान
लज्जा-वश, ज्यों नव-जलार्द्र भू करै मोर-रव से घन-मान ॥

[७०]

महीश्वरों के ललाट पर वाम पाद को इस प्रकार धर के,
गया कुँवर दोष-मुक्त उस दोष-मुक्त पर स्वाधिकार करके।
कचाग्र जिसके हुए मलिन धर तुरंग-मातंग-यान-रज को
वही बनी मूर्ति-मय विजय की ललाम लक्ष्मी कुमार अज को ॥

[७१]

कुमार विजयी प्रशस्य जाया-समेत साकेत लौट आया।
सुताभिनन्दन किया, प्रथम ही महीप ने पूर्ण वृत्त पाया।
कुटुम्ब सौंपा उसे, हुई मोक्ष-मार्ग की चाह भूप-मन में,
समर्थ होते स्व-पुत्र के फिर न सूर्य-वंशी रहें भवन में॥

इति महाकविश्रीकालिदास-विरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन
हिन्दीभाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
अजेनेन्दुमतीपाणिग्रहणो नाम सप्तमः सर्गः

अष्टम सर्ग

[१]

तदनन्तर उस नरपति ने, सुत के विवाह को कर के,
भू भी द्वितीय भोज्या सी, कर में दी सौंप कुँवर के ॥

[२]

नृप-पुत्र स्व-वश में जिसको करते कर कर दुष्करणी,
अज ने ली गुरु-मत से वो, न कि भोग-भाव से धरणी ॥

[३]

कर वसिष्ठ-संभृत जल से, अभिषेक संग नरपति के,
मानों कृतार्थता-सूचक उच्छ्वास उठे वसुमति के ॥

[४]

गुरु अथर्वज्ञ से संस्कृत वह हुआ परों को दुर्गम।
है ब्राह्म क्षात्र तेजों का संगम पवनानल-संगम ॥

[५]

पुनरागत-यौवन रघु ही नवनृप जनता ने जाना।
श्री ही न वरन् उसने थे पाये गुरु के गुण नाना ॥

[६]

हो गए उभय सुन्दरतर मिलकर के शुभद उभय से—
पैतृक समृद्ध पद अज से, नव यौवन तथा विनय से ॥

[७]

हो सदय दीर्घभुज नृप ने भोगी नवागता धरणी,
जिससे न खिन्न हो, बल से जैसे कि नवोढा रमणी ॥

[८]

प्रति मनुज सोचता था यह "मैं ही हूँ नृप से आदृत"।
सागर से नदियों-सम था उससे कोई न निरादृत ॥

[९]

अति मधुर न वह अति कटु था, उसकी माध्यमिक रहन से
अवनिप नव गये न उखड़े, पादप-गण यथा पवन से ॥

[१०]

तब जमा जनों में सुत को अवलोक, आत्मवत्ता से
निस्पृह रघु सुर-पुर की भी हो गया विषय-सत्ता से ॥

[११]

नर-पति दिलीप-कुल के रख श्री को सुपुत्र के कर में
वल्कल-धर यतियों का पद धरते हैं गई उमर में ॥

[१२]

वन-वासोद्यत-गुरु-पद में, वेष्टन-शोभी शिर धर कर,
"त्यागो न मुझे"—यह विनती सुत ने की उस अवसर पर ॥

[१३]

सुत-वत्सल रघु ने रोते आत्मज की चाह निभाई।
पर अहि-त्वचा-सम लक्ष्मी तज कर न पुनः अपनाई ॥

[१४]

अन्त्याश्रम धर, पुर बाहर आश्रम में बसे यती की
सुत-भोग्या-स्नुषा-सदृश श्री सेवा करती थी नीकी ॥

[१५]

हट गया महीप पुराना आगया नवीन नरेश्वर।
कुल था उस नभ सा जिसमें शशि छिपै, दिपै दिवसेश्वर ॥

[१६]

यति-भूप-रूप-धर रघ्वज जनता को दिए दिखाई
दो अंश धर्म के जग में, शुचि मुक्ति-भुक्ति-फल-दाई ।।

[१७]

अज नीति-निपुण सचिवों से पाने को मिला अजित पद ;
रघु मिला योग्य यतियों से करने को प्राप्त परम पद ।।

[१८]

ले लिया तरुण नरपति ने जन-रक्षणार्थ सिंहासन ;
ध्यानार्थ लिया निर्जन में बूढ़े रघु ने दर्भासन ।।

[१६]

नृप अन्य एक ने जीते प्रभु-शक्ति-सम्पदा धरके ;
तन-पवन अपर ने पाँचों जीते समाधि को करके ।।

[२०]

भूपर अरि-कर्मों के फल कर दिये भस्म नव नृप ने ;
ज्ञानानल-दग्ध अपर ने कर दिये कर्म सब अपने ।।

[२१]

अज ने सन्ध्यादि भजे गुण फल उनके करके निश्चित ;
मृत्सम तज स्वर्ण,गुणत्रय रघु जीत गया प्रकृति-स्थित ।।

[२२]

अज कर्मवीर ने त्यागा कर्तव्य न फल पाने तक ;
दृढ़ रघु ने योग न त्यागा आत्मत्व दरस जाने तक ।।

[२३]

बैरियों इन्द्रियों की यों हो सजग प्रवृत्ति दबाई ;
बन भुक्ति-मुक्ति-रत युग ने अनुरूप सिद्धियाँ पाईं ।।

[२४]

पुत्रानुरोध से रघु ने ऐसे कुछ वर्ष बिता कर,
अव्यय तम-मुक्त पुरुष को पा लिया समाधि लगाकर ॥

[२५]

डाला सुन मरण पिता का चिरकाल चक्षु-जल अज ने;
अंत्येष्टि संग यतियों के की अनग्नि साग्न्यात्मज ने ॥

[२६]

की गुरु-श्राद्ध-विद् सुत ने उदकादि क्रिया गुरु-रति से;
यद्यपि इस पथ मे मृत नर चाहें न पिंड सन्तति से ॥

[२७]

बुध-वचनों से तज अज ने निज मुक्त पिता की शंका,
हो बद्ध-चाप बजवाया जग में अपना ही डंका ॥

[२८]

भू तथा बधू भोज्या ने वह महावीर पति पाया।
पहिली ने धन, अपरा ने नन्दन पराक्रमी जाया ॥

[२९]

वह दशशतकर-सम द्युति कर, दशमुखारि-गुरु कहलाया
दशरथ, जिसका यश भारी दश आशाओं में छाया ॥

[३०]

ऋषि-सुर-पितरों से चुक कर, श्रुत-मख-सुत से मनुजेश्वर
लग गया दमकने जैसे परिवेष-मुक्त दिवसेश्वर ॥

[३१]

बल आर्त-भीति हरता था, श्रुत भी था बुद्धाराधक।
धन ही न, किन्तु उस विभु के गुण भी थे पर-हित-साधक ॥

[४०]

व्यजनादिक से नृप चेते, वह रही किन्तु वैसे ही।
उपचारादिक फलते हैं वय के विशेष रहते ही॥

[४१]

वह प्राण-नाश से उतरी वल्लकी-सदृश गति-वाली
अङ्गना अङ्क अपने में नृप ने सप्रेम उठाली॥

[४२]

निष्प्राण विवर्ण प्रिया को अङ्कस्थ किये नृप दरसे,
लेकर मलीन मृगलेखा ऊषा में रजनीकर से।

[४३]

स्वर वाष्प-रुद्ध था, रोये नृप सहज धैर्य को तज कर
जीवों का क्या कहना है, गलता लोहा भी तच कर।

[४४]

"यदि तनु-स्पर्श सुमनों का जीवन को हन सकता है
तो हनते विधि का साधन क्या अन्य न बन सकता है?

[४५]

या मृत्यु मृदुल द्रव्यों को मृदु द्रव्यों से दलती है
दृष्टान्त प्रथम इसका ही हिम-हित नलिनी मिलती है।

[४६]

यदि हार प्राणहर है, तो उर-गत न मुझे क्यों हनता?
दैवेच्छा से विष अमृत, अमृत भी विष है बनता।

[४७]

या मम-अभाग्य-वश विधि का बन गई वज्र यह माला,
जिसने न हना तरु, आश्रिता, लतिका का बध कर डाला॥

[४८]

मुझ चिर-अपराधी का भी अपमान न तुम थीं करतीं।
अब निरपराध भापी का सहसा न ध्यान क्यों धरतीं ?

[४९]

निश्चय शुचि-स्मिते ! तुमने कपटी प्रेमी मैं जाना,
जिससे कि मुझे बेपूछे सुरपुर को हुईं रवाना ॥

[५०]

यदि गया प्रिया के पीछे, उस बिना लौट क्यों आया ?
हत जीव! व्यथा अब सह वो तूने ही जिसे बढ़ाया ॥

[५१]

तुम चलदीं, पर मुख पर है सुरत-श्रम-जनित पसीना।
धिक्कार-योग्य जीवों का निःसार हाय यह जीना ॥

[५२]

क्यों तजे मुझे ? मन से भी अप्रिय न किया था तेरा।
शाब्दिक क्षित-पति हूँ, तुझसे सहजानुराग है मेरा ॥

[५३]

भृङ्गाभ, कुटिल, कुसुमार्चित तव कच, करुभोरु ! हिलाता,
मारुत तव पुनरागम का मन को सन्देह दिलाता ॥

[५४]

तो प्रिये ! बोध से सत्वर हरलो विषाद यह मेरा ;
ज्यों हरै निशा में द्युति से हिमगिरि का जड़ी अँधेरा ॥

[५५]

तव मुख, निशि-सुप्त कमल-सा जिसमें मूकालि लुके हैं,
मुझको देता दुख, जिसके कच बिखरे, वचन रुके हैं ॥

[५६]
विरह-क्षम निशि-कोकी हैं शशि-कोक क्योंकि मिल जाते।
पर मुझे न दाहोगी क्यों प्यारी सदैव को जाते ? ॥

[५७]
नव-पल्लव-शय्या पर भी जो दुख पाती थी भारी,
बोलो ! वह चढ़ै चिता पर कैसे मृदु देह तुम्हारी ?

[५८]
ये निष्क्रिय पड़ी तुम्हारी पहिली गुप्तानुचरी सी,
गत-विभ्रम नीरव रशना, तुमको है विलख मरी सी ॥

[५९]
स्वर मधुर परभृताओं में, मंथर गति हंसनियों में,
चल दृग मृगियों में, विभ्रम वाताहत वल्लरियों में,

[६०]
निश्चय, स्वर्गोत्सुक भी तुम मुझको ये छोड़ गईं गुण ;
तुम बिना किन्तु देते हैं सुख नहीं, मुझे दुखदारुण ॥

[६१]
फलिनी-रसाल ये तुमने थे किए वधूवर निश्चित ।
हे प्रिये ! इन्हें अविवाहित तज कर जाना है अनुचित॥

[६२]
जिसका दोहद तुम करतीं वह फूल अशोक जनेगा ।
कच-भूषण कर अब उनसे कैसे जल-दान बनेगा ?

[६३]
पर-दुर्लभ नूपुर-रव-मय पद-रति को स्मृति में लाके,
मानो त्वदर्थ रोता है, पुष्पाश्रु अशोक गिराके ॥

[६४]

तव श्वास-सदृश बकुलों की मेरे सँग गुथी न पूरी,
सो किन्नर-कंठि ! न तज के विभ्रम-मेखला अधूरी ॥

[६५]

नव-शशि-सम पुत्र, तथा हैं दुख-सुख-संगिनि सखियाँ ये
मैं स्वयं एक-रस, तो भी ऐसी तव क्रूर क्रिया ये !

[६६]

धृति गई, गई रति, गाना भूला, ऋतु हुईं निरुत्सव ;
होगये निरर्थक भूषण, मम सेज हुई सूनी अब ॥

[६७]

प्रिय शिष्या ललित-कला की शुचि सचिव, सहचरी नारी,
हर क्रूर काल ने तुमको हर लिया न क्या मम प्यारी !

[६८]

मदिराक्षि ! मदानन से पी आसव अतीव रुचिकारी,
मम साश्रु जलांजलि कैसे स्वर्ग में पियेगी प्यारी ?

[६९]

होते भी विभव, सिराये अज के सुख बिना तुम्हारे ।
हैं सुखद न भोग, विषय मम थे तवाधीन ही सारे" ॥

[७०]

यों कोसल-पति पत्नी को सकरुण विलाप कर रोये ।
स्रुत शाखा-रसाश्रुओं ने सारे पादप भी धोये ॥

[७१]

तब अपनिपाङ्क से ज्यों त्यों, वह अन्त्याभूषण वाली
शुचि अगुरु-चन्दनानल में लेकर स्वजनों ने डाली ॥

[७२]

'सन्नृप भी स्त्री के कारण रो मरे'—इसी संशय से,
दाही न देह देवी-सँग, न कि जीवन के आशय से ॥

[७३]

दस दिवस परे उस बुध ने अपनी गुण-शेष प्रिया की,
नगरी के ही उपवन में सम्पूर्ण समृद्ध क्रिया की ॥

[७४]

पुर में निष्पत्नी आया वह रात्रि-हीन हिमकर सा।
पुर-नारि-वाष्प में उसको निज शोकोद्गम सा दरसा ॥

[७५]

आश्रम में ही मख-दीक्षित गुरु ने चिन्तन से पाके
दुःखित भूपति को, ऐसे समझाया शिष्य पठाके—

[७६]

"तव दुःख-हेतु मुनि जानें, पर मख न पूर्ण कर पाये;
विचलित तुमको समझाने इससे स्वयमेव न आये ॥

[७७]

मुझ में सुवृत्त ! संस्थित हैं सूक्ष्मोपदेश मुनि-वर के।
प्रख्यात धीर ! हृदयंगम तुम करो उन्हें सुनकर के।

[७८]

वे भूत, भविष्यत्, भावी विवरण त्रि-भुवन का सारा
लखते अबद्ध गति से हैं निज ज्ञान-चक्षुओं द्वारा ॥

[७९]

तृणविन्दु-घोर - तप - पीड़ित हरि ने सुराङ्गना हरिणी
भेजी थी पूर्व समय में मुनि-निकट तपस्या-हरिणी ॥

[८०]

तप-भंग-रोष मुनिवर ने करके शम - तट-लयकारी,
वह कल-कटाक्षिणी शापी 'जा होजा भूपर नारी' ॥

[८१]

'अघ क्षमा करो भगवन्! हूँ पर-वश' यह सुन भू-स्पर्शन
रक्खा न उसे जब तक हो सुर-सुमनों का शुभ दर्शन ॥

[८२]

क्रथकैशिक-वंश्या वह कर तव पत्नी-पद चिर धारण,
मर गई स्वर्ग से पाकर निज शाप-मुक्ति का कारण ॥

[८३]

तन्मरण अतः मत सोचो सब प्राणी मर जाते हैं।
पालो भू, भूप कलत्री भू से ही कहलाते हैं ॥

[८४]

आध्यात्मिक ज्ञान जना था निर्मद तुमने जो सुख में,
अब करो प्रकाशन उसका धर धैर्य मानसिक दुख में ॥

[८५]

रोकर तो क्या मर कर भी वह तुम्हें नहीं पानी है।
मृत जीवों को कर्मो-वश राहें विभिन्न जानी हैं ॥

[८६]

राजन्! तज शोक बधू को सुख दो दे पिंड-जलादिक।
कहते मृत को दहते हैं स्वजनाश्रु अविच्छिन्नाधिक ॥

[८७]

बुध कहें विकृति जीवों की जीवन को, प्रकृति मरण को।
है लाभवान प्राणी जो ले श्वास एक भी क्षण को ॥

[८८]

है प्रिय-विनाश मूढ़ों के हृदयों में शल्य गढ़ा सा।
है मुक्त्युपाय-वश वो ही बुध-गण को शर उखड़ा सा॥

[८६]

श्रुति-मत से अंगाङ्गी भी जब मिलते तथा बिछुड़ते,
तो बाह्य-विषय-वंचित हो बुध कहो! कहीं हैं कुढ़ते?

[६०]

पामर-समान शोकाकुल मत हो हे विजितेन्द्रिय-वर!
यदि हिलें पवन से दोनों तो तरु-गिरि में क्या अन्तर?"

[६१]

कहके तथेति उदार गुरु का वचन स्वीकृत कर लिया।
उस नृपति ने मुनि-शिष्य तदनन्तर विसर्जित कर दिया॥
पाया न मानों स्थान मन में, शोक से जो घिर गया।
उपदेश तद्गुरु का अतः तद्गुरु-निकट ही फिर गया॥

[६२]

सम्मिलन कर स्वप्न में कुछ देर के, या प्रिया का साम्य-चित्रण हेर के,
आठ ज्यों त्यों वर्ष सुत-शिशु-काल के कटे सूनृत-सत्य-वचन नृपाल के॥

[६३]

शोक का गढ़ा हृदय में शूल, सौध-तल में वट-जटानुकूल।
प्राण-घातक भी रोग अजेय प्रियानुग नृप ने माना श्रेय॥

[६४]

प्रौढ़ निज सुत सुविनय-संयुक्त सविधि जन-रक्षक किया नियुक्त।
दूर करने को रोगज क्लेश होगये अनशन-निरत नरेश॥

[९५]

गंगा-सरयू-संगमस्थ तीर्थ-स्थल में कर देह समाप्त,
की अमरोंकी गणना में गणना तुरन्त नरपति ने प्राप्त;
पूर्वाकृति से सुन्दरतर तदनन्तर पाकर कान्ति अपार,
नन्दन-विपिन-विहारागारों में नृप करने लगे विहार ॥

इति महाकवि श्रीकालिदासविरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन।
हिन्दीभाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
अज-विलापो नाम अष्टमः सर्गः ॥

नवम सर्ग

[१]

नियम-जितेन्द्रिय महारथी दशरथ, नृप तथा संयमी उत्तम,
बना पितानन्तर नरपति कर उत्तर-कोसल का समाधिगम ॥

[२]

गुह-सम सबल क्योंकि उस नृप ने अधिगत कर विधि-पूर्वक पाला,
अतः हुआ स्वकुलागत उसका राज्य स-पौर अधिक गुण-वाला ॥

[३]

मनु-वंशज नृप तथा शक्र दोनों को मनुज मनीषा-धारी,
समय-वर्षिता-वश, कहते थे कर्म-कारियों के श्रम-हारी ॥

[४]

विपदा जनपद में पद धरती थी न, हुई धरती फल-दायक,
अरि-भय भगा, हुआ जब शम-रत-अमर-तेज अज-सुत नरनायक ॥

[५]

दश-दिग्जित् रघु से, फिर अज से जैसे हुई अधिक श्री-वाली,
वैसी ही दमकी क्षिति पाकर वह पति सदृश-पराक्रमशाली ॥

[६]

समता से, वसु की वर्षा से, तथा खलों के दंड-नियम से,
यम-कुबेर स-वरुण का करता था अनुकरण अवनिपति क्रम से ॥

[७]

द्यूत न, मृगया-रुचि न, तरुण तन्वी न, न मधु चन्द्र-प्रतिमोपम,
पथ-विचलित करते थे नृप को जब वह करता था उद्योद्यम ॥

[८]

होकर प्रभु उस अपरुष नृप ने कहे न परुष वचन अरि से भी;
झूँठ हँसी में भी न कही, बोली न दीन वाणी हरि से भी ॥

[९]

रघु-नायक से किया प्राप्त क्षिति-नायक-गण ने उदय तथा लय,
सुहृद निदेश-कारियों को, वह था निजारियों को अयो-हृदय ॥

[१०]

भूमि जलधि-मेखल वह जीता एक यान से तान शरासन।
सैन्य सजव-हयवती गजवती करती थी बस जय-प्रकाशन ॥

[११]

एक वरूथी रथ से ही की जय धन्वी ने सब अवनी की।
घन-रव-कारी जलधि बना जय-भेरी धनद-समान धनी की ॥

[१२]

दला पक्ष-बल गिरियों का शतकोटि-कुलिश-वर्षक सुर-पति ने;
अरियों का सनाद धनु से शर-वर्षक कमलानन नर-पति ने ॥

[१३]

नख-लालिमा-समृद्ध मुकुट-मणि-किरणों से युग चरण नृपति के
छुए अवनिपों ने, मरुतों ने यथा पूर्ण-पौरुष सुर-पति के ॥

[१४]

अरि-स्त्रियाँ अकचा की, तल्लघु-सुत-कर सचिवों से जुड़वाये
होकर सदय, सिन्धु-तट से अलका-सम स्वपुरी में नृप आये ॥

[१५]

गिरा अन्य छत्रों को, पा नृप-मंडल की प्रधानता को भा,
श्री को लख चंचला, रहा अनलस वह अनल-सोम-सम शोभी ॥

[१६]

याचक-निरत ककुत्स्थ-कुलज उस नृप या आदि-पुरुष को तजती
यदि पतिव्रता सकमल कमला, तो किस अपर पुरुष को भजती ?

[१७]

मगध-कोसला-केकय-भूपों की पति-व्रता दुहिताओं को
बाणों से अरि-मर्दन वह पति मिला, सिन्धु ज्यों सरिताओं को ॥

[१८]

प्रजापाल अरि-घात-दक्ष वह रक्षक पाकर तीन युवतियाँ,
रुचा रसागत सुरपति के सम, लिये संग में तीन शक्तियाँ ॥

[१९]

रण में दे हरि को सहायता, महारथी ने त्रास भगाया
बाणों से सुर-बधुओं का, फिर स्वभुज-शौर्य का गान कराया ॥

[२०]

हटा मखों में मुकुट, जीत कर भुज-बल से वसु सकल रसा के,
किये कनक-यूपों से शोभित उसने तट सरयू-तमसा के ॥

[२१]

यत-गिर-नृप-तनु अजिन, दंड, कुश-रशना, मृग-विषाण को धरके,
हुआ यज्ञ-दीक्षित, जिसमें भासे शंकर निवास निज करके ॥

[२२]

अवभृथ-पूत जितेन्द्रिय उसको देवों में आसन मिलता था।
शीस वीर का नीर-विसर्जक शुनासीर को ही हिलता था ॥

[२३]

लड़ा धनुर्धर धीर एक-रथ कई बार हरिहय के सम्मुख।
सुर-द्विषों के शोणित से दी दाब समर-रज दिनकराभिमुख ॥

[२४]

एक-छत्र, वन्दित-विक्रम, यम-धनद-वरुण-हरि-सदृश धुरंधर
नृप को नव कुसुमों से मानों भजने मधु आया तदन्तर ॥

[२५]

धनदाशा-विजिगीषु सूर्य-स्यंदन के अश्व सूत ने फेरे।
मलयाचल से निकल शीत को दल, निर्मल कर दिये सबेरे ॥

[२६]

कुसुमोद्भव, फिर नव पल्लव, फिर कोकिलालि-गायन मन-भाया—
इस क्रम से उस क्षण वसंत द्रुमवती वन-स्थलियों में छाया ॥

[२७]

नय-गुण-निपुण साधु-हित-साधक नृप की श्री निमित्त व्याकुल से,
अलि-मराल तालों में गिरने लगे सरस कंजों पर हुलसे ॥

[२८]

ऋतु-कुसुमित अभिनव अशोक के केवल कुसुम न काम जगाते;
रमणी-कर्णार्पित मृदु छद भी मद विलासियों में उपजाते ॥

[२९]

मधु-विरचित नव पत्र-विशेषक के समान उपवन-लक्ष्मी के,
रस-दातार कुवरकों में भरने लग गये भ्रमर-रव नीके ॥

[३०]

सुमुखी-मुख-मदिरा-प्रसूत कुसुमों ने धर तत्सम गुण मंजुल,
मधु-लोलुप-दीर्घालि-पंक्तियों से कर दिये बकुल सब संकुल ॥

[३१]

मधु-लक्ष्मी-प्रदत्त शोभित थे मुकुल-जाल किंशुक पर ऐसे,
मद-वश लज्जा त्याग प्रिया से प्रिय में किये नख-क्षत जैसे ॥

[३२]

व्रण-गुरु नारथधरों को दुःसह, कटि से रशना-हारिणि सरदी
हो न सकी निःशेष सर्वथा, केवल कम दिनेश ने करदी ॥

[३३]

अभिनयानुभव-हित उद्यत सी, हिला दलों को मलय-पवन में,
समुकुल आम-लता भरती थी काम काम-जित के भी मन में ॥

[३४]

कुसुमित सुरभित वन-स्थली में परिमित गिरा परभृताओं की
सुनी गई, जैसे कि विरल वाणी नव मुग्धा वनिताओं की ॥

[३५]

अलि-रव का कर रुचिर गान, मृदु दशन-कान्ति कुसुमों की पाकर,
पवनाहत बन-बेलें अभिनय सा करतीं कर-पत्र कँपा कर ॥

[३६]

मृदु विलास का जनक, मदन-सहचर, बकुलों से अधिक सुगंधित
मधु पतियों के संग पत्नियाँ पीतीं रख रस-रंग अखंडित ॥

[३७]

थीं वापियाँ, जहाँ विकसे थे कमल, कूजते सलिल-विहंगम,
सस्मित-मुखी, शिथिल-मुखरित-मेखला-वलित वनिताओं के सम ॥

[३८]

चन्द्रोदय से पीत-मुखी हो गई क्षीण मधु-खंडित यामिनि;
प्रिय-संयोग-भोग-वंचित होती है यथा खंडिता कामिनि ॥

[३९]

हटने से तुषार के, शशि ने दीप्त रश्मियाँ डाल, भगाया
सुरत-श्रम, मकरोर्जित-केतन कुसुम-चाप का तेज जगाया ॥

[४०]

हुताग्नि-सम भास्वर, प्रतिनिधि वन-लक्ष्मी के सुवर्ण-भूषण का,
दल-केसर-सुकुमार कुसुम था केशाभरण कामिनी-गण का ॥

[४१]

अंजन-विन्दु-मनोज्ञ, प्रसूनों पर गिरते अलि-कुल से अंकित
तिलक वृक्ष से थी वनस्थली, यथा तिलक से नारि, अलंकृत ॥

[४२]

पत्राधर की मधुर सुमन-मधु-गंध-मयी स्मित-रुचि से मन में
मद भरती थी नवल मल्लिका मंजुल तरु-विलासनी वन में ॥

[४३]

अरुण-राग से अधिक रक्त पट, श्रवणासक्त यवांकुर, पिक-रव—
इस अनंग-दल ने केवल अंगनाधीन कर दिये रसिक सब ॥

[४४]

जिसके सित-रज-मय मंजुल अङ्गों पर भ्रमर-भीड़ थी छाई,
तिलक-मंजरी उसने कच-जालक-मुक्ता-छबि-समता पाई ॥

[४५]

काम-केतु-पट, ऋतु-लक्ष्मी—सिंदूर कुसुम-केसर-रज मंजुल,
सपवन वन में उठी, अनुसरण जिसका करने लगे भ्रमर-कुल ॥

[४६]

ऋतु के नव दोलोत्सव का अनुभव करतीं, पटु भी वनिताएँ,
प्रिय-कंठालिंगन-हित करतीं शिथिल रज्जु पर बाहु-लताएँ ॥

[४७]

"छोड़ो मान बिसारो विग्रह, आनी नहीं जवानी जाकर"—
काम-केलि कामिनि करतीं मानो यह सीख पिकों से पाकर ॥

[४८]

प्रिया-समेत वसंतोत्सव की मौज भोग करके मन आई,
विष्णु-वसंत मार-सम नृप के मन में रुचि मृगया की आई ॥

[४९]

चले सचिव-मत सुन—"मृगया श्रम-जय से तनु गुणवान बनाती;
सिखलाती चल-लक्ष्य-निपातन, इङ्गित से भय-रोष जनाती ॥"

[५०]

डाल विशाल कंठ में कामुक, धारण कर मृगयोचित वरदी,
सकल गगन उस नर-सविता ने अश्व-खुरोत्थित रज से भरदी ॥

[५१]

शिर पर था बन-माल-मुकुट, तरु-पत्र कवच-रँग से मिलते थे।
रमा रुरु-चरित अटवी मे नृप, हय-गति से कुण्डल हिलते थे ॥

[५२]

वन-सुर नयन मिला भ्रमरों में, मिला सूक्ष्म बेलों में तन को,
देख रहे थे पथ में उस नय से कोसल-नंदन सुनयन को ॥

[५३]

दृढ़, हय-योग्य, सजल, खग-मृग-गवयादि-युक्त वन में नृप आये,
जहाँ पूर्व ही श्वगणी-जालिक जमे, अनल-चौरादि सिराये ॥

[५४]

कर रव-रुष्ट नाहरों को नरवर ने धरा बद्ध धनु ऐसे,
कनक-पिंग-चपला-गुण-मय सुर-धनु को धरै भाद्रपद जैसे ॥

[५५]

नृप-निकट निकला हरिण-गण मुख में कुशा लेता हुआ,
मृग कृष्ण गर्वित एक जिसका अग्रसर नेता हुआ।

[५५]

थीं साथ में मृगियाँ, चलीं ले संग निज निज बाल को,
लिभड़े स्तनों में जो कि उनको रोकते थे चाल को॥

[५६]

खींचा द्रुताश्वारूढ़ नृप ने तीर तरकस से जभी,
निकटस्थ वह मृग-निकर तजकर पंक्ति को बिखरा सभी,
बन किया उसने श्याम आकुल आर्द्र दृष्टि-निपात से;
करता यथेन्दीवर-निकर होकर प्रकम्पित वात से॥

[५७]

अड़ गई लक्ष्यीकृत हरिण की प्रिया प्रिय-तनु रोक के।
उस काल उसका कामिता-वश हाल यह अवलोक के,
हरि-तेज धन्वी भूप का मानस दया से झुक गया।
श्रुति तक खिचा नाराच भी झट हाथ ही में रुक गया॥

[५८]

शर प्रखर अपर कुरंग-गण पर भी गिराते खुल पड़ी,
अवनीश की कर्णान्त तक तानी हुई मुट्ठी कड़ी।
नृप के, निरख मृग-नयन चंचल चकित मारे त्रास के,
आये स्मरणपथ में प्रगल्भ प्रिया-कटाक्ष विलास के॥

[५९]

उठ तुरत पल्वल-पंक से जो चल पड़ा धाता हुआ,
पथ-मध्य मुस्ताङ्कुर-कवल के शकल बरसाता हुआ,
गुरु पाद-चिह्नों से स्वपथ था व्यक्त जिसने कर दिया,
पथ उस वराह-समूह का उस समय नृप ने धर लिया॥

[६०]

कुछ पूर्व तनु हय पर झुकाये भूप के प्रतिघात को,
करते वराह प्रहार थे ताने सटा-संघात को।
जंघा द्रुमों में टेक कर शर-विद्ध भी वे अड़ गये।
यह भी न जाना तीर चीर शरीर को थे गढ़ गये॥

[६१]

अभिघात-हित उत्सुक हुए वन-जात महिष महान के
दृग-विवर में शर भूप ने मारा शरासन तान के।
पाई रुधिर में पुंख भीग न, पशु-कलेवर चिर गया।
पीछे गिरा वह शर, प्रथम ही महिष भू पर गिर गया॥

[६२]

पैने क्षुरप्रों से विशाल विषाण नृप ने काट के,
कर दिये खड्ग कुरंग प्रायः सर्व सूक्ष्म ललाट के।
गुरु वय अखरती थी नहीं उस दुष्ट-निग्रहवान को;
वह किन्तु सह सकता नहीं था शत्रुओं की शान को।

[६३]

थे व्याघ्र प्रफुलित पवन-भग्न यथाग्र-पादप सर्ज के,
जो छूट विवरों से नृपति पर टूटते थे गर्ज के।
शिक्षा तथा निज हस्त-लाघव से उसी क्षण भर दिये
उसने मुखों में तीर, यों तूणीर से वे कर दिये॥

[६४]

बध-निमित्त निर्घात-घोर रोदा का कर रव,
किये क्रुद्ध नृप ने निकुंज-शायी नाहर सब

मानों उनका शौर्य-पूर्ण, मृग-कुल-सम्मानित
'राज'-शब्द होता था उस रव से अपमानित ॥

[६५]

हनके उन गज-बैर बिकट करने - वालों को,
कुटिल नखाग्रों में मुक्ता धरने-वालों को,
अपने को काकुत्स्थ मनाने लगा शरों से
उऋण समर में अति उपयोगी गज-निकरों से ॥

[६६]

चमरों के चहुँ ओर भूप ने अश्व फिरा कर,
कहीं कहीं कर्णाविकृष्ट खर भल्ल गिराकर,
उन सब को चामर-विहीन, जित नृपति-निकर-सम,
करने के उपरान्त तुरत कर लिया प्राप्त शम ॥

[६७]

किया बाण का लक्ष न उसने रुचिर-पक्ष-धर मोर,
यद्यपि आ कूदा था वह अति निकट अश्व की ओर।
रति में भग्न, विविध वर्णों के गूँथे जिनमें हार,
उन कामिनी-कचों का झट मन में आगया विचार ॥

[६८]

मुख पर छाया कठिन-परिश्रम-जात स्वेद-सीकर-संघात,
जिसे सुखाता था जल-कण-मय पल्लव-पुट-भेदक वन-वात ॥

[६९]

यों तज सकल स्वकर्म, धराधिप, सचिवों को दे भार समस्त,
हुए सतत-सेवन से वनिता-सम मृगया में अति ही व्यस्त ॥

[७०]

कलित कुसुम-किसलय-शय्या पर, जलते जहाँ महौषधि-दीप,
बिछुड़ परिजनों से, रजनी को करते कहीं व्यतीत महीप ॥

[७१]

कहीं पटह-रव-सम द्विरदों की कर्ण-ताल से जग नरपाल,
वन्दि-गान-सम मृदु खग-रव सुनते फिरते थे प्रातःकाल ॥

[७२]

एक दिवस वन में रुरु-पथ पर हो अदृष्ट अनुगों से, वीर,
श्रम-सफेन हय पर चढ़, पहुँचा मुनि-सेवित तमसा के तीर ॥

[७३]

नदी-नीर में उठा कुम्भ-पूरण-संभव मृदु रव गंभीर,
जिसे समझ गज-गाज शब्द-वेधी छोड़ा नरपति ने तीर ॥

[७४]

है निषिद्ध नृप को दशरथ ने विधि को लाँघ किया जो काम ।
रजो-निमीलित बुध जन भी धर देते हैं कुपन्थ में पाम ॥

[७५]

"हा तात !" यह क्रन्दन श्रवण कर, हो विकल सन्ताप से,
नृप लगे लखने हेतु, जो था गुप्त वेत-कलाप से,
शर-विद्ध कुम्भ-समेत मुनि के पुत्र को अवलोक कर,
अवनीश के अन्तःकरण में भी समाया शोक-शर ॥

[७६]

जल-कुम्भ के ऊपर निरख मुनि-पुत्र का तन ढुलकता,
पूछा प्रथित-कुल भूप ने हय से उतर कर कुल-पता ।
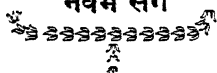
पद बोल कर बिखरे, जिन्होंने लिया अक्षर-रूप को,
शिशु ने द्विजेतर-मुनि-तनुज निज को बताया भूप को ॥

[७७]

खींचा न शर भी, तत्कथन से भूप वैसे ही वहाँ,
उस एक सुत को ले गये मा-बाप अन्धे थे जहाँ।
जा पास दोनों के, विषाद महीप ने करके बड़ा,
व्यापार अपना कह दिया अनजान में जो बन पड़ा ॥

[७८]

उस दम्पती ने करुण-क्रन्दन उस समय करके बड़ा,
सुत के प्रहर्ता से खिचाया बाण जो उर में गड़ा।
फिर, वृद्ध ने कर में दृगों से बरसता ही जल लिया,
नृप को तथा यह शाप दे डाला तनुज जब चल दिया—

[७९]

"तुम भी मरोगे अन्त में सुत-शोक से दहते हुए
मेरे सदृस"—जब यह सुना नृप ने उसे कहते हुए,
पूर्वापकृत-उत्सृष्ट-विष-अहि-सदृश उससे उस समय,
पूर्वापराधी अवध-पति कहने लगे यों सानुनय—

[८०]

"भगवन्! मुझे, जिसने न सुत-मुख-कंज-छवि देखी कभी,
करके अनुग्रह ही दिया है आपने यह शाप भी।
कृष्या धरा को काष्ठ-दीप्तानल जलाता है सदा,
पर वह बनाता है उसे बीजाङ्कुरों की जन्मदा ॥"

[८१]

होकर घृणा से मुक्त तदनन्तर अवनिपति ने कहा—
"इस आपके अभियुक्त को अब नाथ! क्या करना रहा?"
मृत पुत्र के पीछे कलत्र-समेत जाने के लिये,
मुनि ने कहा नृप से दहकता काष्ठ लाने के लिये॥

[८२]

ले अनुचरों को, तुरत करके पूर्ति मुन्यादेश की,
लौटे नृपति, धृति किन्तु उनकी पाप ने निःशेष की।
अन्तःकरण में शाप घातक वह धरा अवधेश ने,
प्रज्वलित बड़वानल यथा धारण किया सरितेश ने॥

इति महाकवि श्रीकालिदासविरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन
हिन्दी भाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
मृगयावर्णनो नाम नवमः सर्गः॥

दशम सर्ग

[१]

इन्द्र-वर्चस वह अतीव समृद्ध था नरपाल।
राज करते उसे कुछ कम अयुत बीते साल ॥

[२]

पितृ-ऋण-मोचक विमल आलोक आत्मज-रूप,
शोक-तम-हर तुरत, प्राप्त न कर सका वह भूप ॥

[३]

बाट संतति की निरखता बहुत दिन अवधेश,
रुचा मन्थन-पूर्व रत्न-प्रद यथा सरितेश ॥

[४]

ऋष्यशृङ्गादिक महात्मा, संत संयत-चित्त,
मख सुतेच्छुक से कराने लगे पुत्र-निमित्त ॥

[५]

गये सुर पौलस्त्य-पीड़ित हरि-निकट उस याम,
पथिक छाया-विटप को भजते यथा सह घाम ॥

[६]

सिन्धु तक सुर गये, हरि हो गये सद्य सचेत।
सिद्धि भावो का सदा अविलम्ब है संकेत ॥

[७]

देव-गण ने शेष-तन-शायी लखे भगवान;
था कलेवर दीप्त फणि-मणि-जाल से द्युतिवान ॥

[८]

बिछा कर-छद, त्तौम से ढक मेखला अभिराम,
दाबती थीं अंक मे पद्मस्थ पद्मा पाम ॥

[९]

बाल-रवि-सम वस्त्र, विकसित कमल-सम थे नैन।
शरद-दिन-सम दरश देता योगियों को चैन ॥

[१०]

रमा-विभ्रम-मुकुर कौस्तुभ, सिन्धु-सार महान,
कर रहा था वत्त में श्रीवत्स को द्युतिवान ॥

[११]

दिव्य-भूषण-वलित, धर भुज-दंड शाखाकार,
हरि जलधि में थे अपर मन्दार के अनुसार ॥

[१२]

हुए मद-रुचि-रहित जिनसे दैत्य-दयिता-गंड,
शङ्ख वे थे कर रहे जय-घोष प्रबल प्रचंड ॥

[१३]

चिह्न वज्र-व्रण-जनित धर, शेष-रिपुता छोड़,
विनय-नत वनिता-तनय थे निकट ही कर जोड़ ॥

[१४]

योग-निद्रा से खुले शुचि विशद डाले नैन
कर कृपा भृगु प्रभृति पर, जो पूछते सुख-शैन ॥

[१५]

निर्जरों ने प्रणति से असुरारि का कर मान,
किया यों उस मन-गिरागम स्तुत्य का स्तुति-गान—

[१६]
"करो भव-संभव-भरण-संहरण क्रम के साथ!
है प्रणाम त्रि-मूर्ति-वाहक आपको हे नाथ!

[१७]
बहु गुणों में बहु दशाऐं धरे अविकृत आप!
बहु थलों में यथा बहु रस एक-रस दिव्याप ॥

[१८]
अर्थ-साधक हो अनर्थी, अमित हो मित-लोक!
हो जयी अविजित, करो अव्यक्त व्यक्तालोक!

[१९]
अगम हो हृदय-स्थ तुम, तप करो काम-विहीन!
सदय भी अदुखित रहो, प्रभु! अजर हो प्राचीन!

[२०]
सर्व-कारण आत्म-भू, सर्वज्ञ हो अज्ञेय!
सर्व-नाथ अनाथ, सब-गत एक हो तुम गेय!

[२१]
सप्त-साम-स्तुत्य तव सप्ताप शयनागार!
देव! तुम सप्तार्चि-मुख हो सप्त-लोकाधार!

[२२]
ज्ञान दायक चार फल का, काल के युग चार,
चार वर्णों का रचो जग आप धर मुख चार!

[२३]
योगि-जन अभ्यास द्वारा रुद्ध करके चित्त,
भजें ज्योतिर्मय हृदय-गत तुम्हें मुक्ति-निमित्त!

[२४]

जन्म लो अज, तुम करो निश्चेष्ट भी रिपु-घात!
सुप्त भी हो सजग, है तव भेद किसको ज्ञात?

[२५]

भोग शब्दादिक रसों का, तथा दुर्गम योग,
जन्म-मरण निर्लिप्त को हैं आप करने योग!

[२६]

तुम्हीं में मत-भिन्न सिद्धि-प्रद मिलें बहु राह,
यथा गिरते सिन्धु में ही विविधि गाङ्ग प्रवाह॥

[२७]

मन तुम्हीं में धर तुम्हें जो सौंपते सब कार,
उन विरक्तों को तुम्हीं हो मुक्ति के आधार॥

[२८]

भ्वादि वैभव नाथ! तव प्रत्यक्ष का अज्ञात!
वेद या अनुमान-साध्य स्वरूप की क्या बात?

[२९]

जब कि कर सकता पुरुष को ध्यान ही तव पूत,
क्या त्वदर्थ न अन्य कृतियाँ करें प्रादुर्भूत?

[३०]

उदधि-रत्नों भानु-तेजों के सदृश भवदीय
इन्द्रियागम चरित हैं स्तुति को अनिर्वचनीय!

[३१]

है न कुछ अप्राप्त या प्राप्तव्य तुमको नाथ!
जन्म-कारण प्रीति है बस लोक ही के साथ॥

[३२]

यदि लजाती गिरा करती तव सुयश का गान,
हेतु गुण-परिमिति न, है श्रम या अशक्ति महान।।"

[३३]

देव-गण ने किये यों हरि मुदित कर गुण-गान;
स्तोत्र ही वे थे न, थे सत्यार्थ के व्याख्यान ।।

[३४]

कुशल-प्रश्नों से सुरों ने समझ उनकी प्रीति,
कही प्रलय विना बढ़े असुराब्धि से निज भीति ।।

[३५]

विष्णु ने निज नाद से कर सिन्धु-रव को मात,
कूल-गिरि-गह्वर गुँजाकर के कही यह बात—

[३६]

आदि कवि से उचित वर्ण-स्थान-द्वारा उक्त,
हुई संस्कृत भारती कृतकृत्यता से युक्त ।।

[३७]

रुची वदनोद्गत दशन-भा-युक्त उक्ति उदार,
ऊर्ध्वगा पद-निसृता शुचि सुरसरी-अनुसार ।।

[३८]

"देहियों के तम-दलित रज और सत्व-समान,
जानता हूँ दैत्य-मर्दित आपके अरमान ।।

[३९]

जानता यह भी त्रिजग को दनुज से है ताप,
साधु-मन को दाहता है ज्यों अनिच्छित पाप ।।

[४०]

कार्य की कार्यैक्य-वश मघवा मुझे कहता न।
वात बनता अग्नि का स्वयमेव है रथवान॥

[४१]

स्वासि के कर सका दनुज न दशम शिर निःशेष।
वह बचा मम चक्र का हैं भाग मानों शेष॥

[४२]

ब्रह्म-वर-वश दनुज का मैंने सहा उत्थान;
यथा सहते रहें चन्दन उरग-गण की शान॥

[४३]

दनुज ने तप-तुष्ट विधि से लिया यह वरदान—
'दैव-योनि-अवध्य होऊँ'' की मनुज-गणना न॥

[४४]

खर शरों से अतः तच्छिर-कमल-जाल समेट,
दाशरथि होकर करूँगा समर-भू की भेंट॥

[४५]

छली दनुजों से अभक्षित भाग सविधि प्रदत्त,
सद्य सुर-गण याज्ञिकों से फिर करें आदत्त॥

[४६]

सुर विमानों में विमल अवगाहते नभ-लोक,
लुकें मेघों मध्य पुष्पक को न अब अवलोक॥

[४७]

शाप-वश पौलस्त्य-कर्षण से अदूषित बाल
बद्ध अब सुर-नारियों के खोलदो तत्काल॥"

[४८]

रावणावग्रह-विकल सुर-सस्य पर उस याम
डाल वचनामृत, तिरोहित होगये घनश्याम ॥

[४६]

अंश से इन्द्रादि सुर-हित-निरत-हरि-पश्चात्
गये, पुष्पों से पवन पीछे यथा तरु-जात ॥

[५०]

उठा ऋत्विज-वर्ग-विस्मय-सहित नर उस काल
अनल से, जब कर चुके संतान-मख नरपाल ॥

[५१]

हाथ में था खीर-संभृत हेम-निर्मित थार।
गुरु उसे भी लगा हरि-संसर्ग-वश तद्भार ॥

[५२]

दिव्य-नर-दत्तान्न वह नृप ने किया स्वीकार,
इन्द्र ने ज्यों अर्णवाविष्कृत सलिल का सार ॥

[५३]

गुण असाधारण हुए नृप के इसी से व्यक्त--
त्रिजग-कारण भी हुए तत्तनुजता-अनुरक्त ॥

[५४]

पत्नियों में नृपति से हरि-तेज वह चरु-रूप
बँटा, नभ-भू-मध्य ज्यों दिवसेश-द्वारा धूप ॥

[५५]

पूज्य कौसल्या, प्रिया कैकेयि थी, अतएव
मान्य युग को हो सुमित्रा-चाहते पतिदेव ॥

[५६]

नृपति पति अमितज्ञ का युग ने समझ अनुराग,
दो सुमित्रा को दिये अर्धार्ध चरु के भाग ॥

[५७]

किया उस पर तदपि उभय सपत्नियों ने प्यार,
करें भ्रमरी पर यथा गज-दान की दो धार ॥

[५८]

किया धारण गर्भ सब ने हरि-कला-संजात;
जल धरें रवि-नाडियाँ अमृताख्य ज्यों विख्यात ॥

[५९]

युवतियों का हुआ, जो सब थीं सगर्भा संग,
फलोद्यत यव-सम्पदा-सम पीत कुछ कुछ रंग ॥

[६०]

शंख-चक्र-गदादि-धर लघु मूर्तियों से गुप्त
आप को देखा उन्होंने स्वप्न में हो सुप्त ॥

[६१]

नीरदाकर्षण स्वजव से, हेम-पत्त्रालोक
विहँग-पति करता, उन्हें ले, उड़ गया नभ-लोक ॥

[६२]

हाथ में पद्म-व्यजन, कुच-मध्य कौस्तुभ-हार,
पति-धरोहर धर, रमा ने किया तत्परिचार ॥

[६३]

व्योम-गंगा-स्नात, करते वेद का वर गान,
किया शुचि सप्तर्षियों ने महिषियों का मान ॥

[६४]

स्वप्न ये सुन पत्नियों से हुआ पति को हर्ष;
विष्णु के जनकत्व से माना स्वकीयोत्कर्ष ॥

[६५]

भिन्न हो उन कुक्षियों में एक था सर्वेश;
विमल जल में रुचै प्रतिबिम्बित यथा राकेश ॥

[६६]

ज्येष्ठ नृप-युवती सती ने जना तम-हर लाल,
समय पर, ओषधि जनै ज्यों तेज रजनी-काल ॥

[६७]

जनक ने अवलोक तनु निज तनुज का अभिराम,
प्रथम जग-मंगल-सदृश शुभ नाम रक्खा 'राम' ॥

[६८]

राम रघु-कुल-दीप ने कर व्याप्त अनुपम तेज,
सौर-घर के दीप सारे कर दिये निस्तेज ॥

[६९]

मा रुची शातोदरी तल्पस्थ सुत के संग,
कमल-मय-सैकत-सहित जैसे शरत्कृश गंग ॥

[७०]

केकई से भरत-नामक हुआ पुत्र सुशील,
मा रुची जिससे यथा पद्मा रुचे पा शील ॥

[७१]

यम सुमित्रा से हुए शत्रुघ्न-लक्ष्मण पूत,
पूर्ण विद्या से यथा हों विनय-बोधोद्भूत ॥

[७२]

अघ-रहित गुण-गण-सहित होगया विश्व तमाम,
भूमि पर स्वर्गानुगत मानों हुए घनश्याम ॥

[७३]

ली दिशों ने, था सुरों को जहाँ असुर-त्रास,
जन्मते चतुरूप हरि के, शुचि-पवन-मिस श्वास ॥

[७४]

अग्नि निर्धूमत्व से, नैर्मल्य से दिवसेश
दुख-रहित दीखे, जिन्हें था दनुज से अति क्लेश ॥

[७५]

खस पड़ी मणियाँ दशानन-मुकुट से उस काल,
दनुज-लक्ष्मी अश्रु जिनके मिस रही थी डाल ॥

[७६]

भूप-पुत्रोत्सव-समय पर बजे वादित्रादि,
हुई जिनकी स्वर्ग की सुर-भेरियों से आदि ॥

[७७]

भवन में बरसे सरस सुरतरु-सुमन उस बार,
सकल चालू हुए जिनसे मांगलिक उपचार ॥

[७८]

धात्रि-पय-पायी बढ़े सब सुत, करा संस्कार,
जनक-सुख के संग, जो था ज्येष्ठ के अनुसार ॥

[७९]

बढ़ा शिक्षण से विनय उनका प्रकृति से सिद्ध;
ज्यों कि होता है हविर्भुज-तेज हवि से वृद्ध ॥

[८०]

प्रेम से रह कर अनघ रघु-कुल किया द्युतिवान
उन सबों ने, ज्यों कि ऋतुओं ने सुरेशोद्यान ॥

[८१]

था सदृश भ्रातृत्व, रहते प्रेम से पर साथ
ज्यों भरत-शत्रुघ्न, त्यों लक्ष्मण तथा रघुनाथ ॥

[८२]

पवन-पावक, शशि-जलधि सम था युगल का संग
एक-रस, जिसका न होता था कभी भी भंग ॥

[८३]

विनय-गौरव से उन्होंने लिये जन-मन जीत,
श्याम-घन-मय ज्यों दिनों ने घाम जाते बीत ॥

[८४]

सोहते थे पुत्र-वर उस अवनिपति के चार—
धर्म-धन-रति-मुक्ति के शुचि मूर्ति-धर अवतार ॥

[८५]

जनक का गुरु-भक्त वे करते गुणों से मान,
ज्यों चतुर्दिग्नाथ का दे रत्न सिन्धु महान ॥

[८६]

सुर-गज ज्यों असुरासि-धार-भिद धरै चार रद;
नृप-नय धरता यथा चार साधन सिद्धि-प्रद:
चार भुजाओं से ज्यों छवि पाते हैं अच्युत;
त्यों नृप रुचे तदंश-भूत पाकर चारों सुत ॥

इति महाकवि श्रीकालिदासविरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन
हिन्दी भाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
रामावतारो नाम दशमः सर्गः ॥

एकादश सर्ग

[१]

कौशिक ने नृप से काकपक्ष-धर राम-निमित्त विनय की
मख-विघ्न-हरण के हेतु, कृत होती न वीर के वय की ॥

[२]

बुध-रत ने मुनि को राम सलक्ष्मण कष्ट-लब्ध दे डाले।
रघु-कुल में होते कभी हताश न प्राण-याचना वाले ॥

[३]

सुत-निर्गमार्थ पुर-पंथ सजाने नृपति न कह भी पाये।
सपवन मेघों ने फूल सजल झट तन्निमित्त बरसाये ॥

[४]

युग धन्वी गुरु-पद-पतित हुए आदेश पालने वाले।
नृप ने भी पुत्र प्रवास-गामियों पर निज आँसू डाले ॥

[५]

हो गये आर्द्र अवनीश-अश्रुओं से कुन्तल कुँवरों के।
मुनि के पीछे हो लिये, बने पथ-तोरण नयन नरों के ॥

[६]

चाहा कौशिक ने क्योंकि सलक्ष्मण राघव को ही लेना,
तद्रक्षण-शक्ताशीष, अतः नृप ने दी, दी न स्वसेना ॥

[७]

तेजस्वी मुनि के संग लगे वे मातृ-चरण छू करके;
मधु-माधव रुचते यथा संक्रमण-वश पीछे भास्कर के ॥

[८]

कल्लोल-लोल भुज बान्य-विवश चंचल भी छवि थीं पातीं;
ज्यों उद्धय-भिद्य की नाम-सदृश कृतियां पावस में भातीं ।।

[९]

पथ में बलातिबल मंत्र कुमारों ने मुनिवर से पाये।
मा-निकट समणि भू-बीच विचरते से न अतः मुरझाये ।।

[१०]

सानुज राघव को पितृ-मित्र की पूर्व-कथाऐं नाना
वाहन सी हुईं, न पाद-चार भी वाहनार्ह जाना ।।

[११]

सेवा-रत थे सर सरस सलिल से, खग-कुल ध्वनि प्यारी से,
सुरभित पराग से पवन, तथा घन सीरक सुखकारी से ।।

[१२]

मुनियों को हुआ प्रमोद इष्ट उनके दर्शन से जैसा,
श्रम-हर तरुओं से हुआ, न सरसिज-सहित सरों से वैसा ।।

[१३]

जिस समय चढ़ा कर चाप दाशरथि तपोभूमि में आये,
हर-दग्ध मदन के रूप कलेवर से, न कर्म से, भाये ।।

[१४]

कौशिक से जान स्वशाप, रुद्ध पथ किया सुकेतु-सुता ने।
कुँवरों ने भू पर कोटि टेक धनु लीला सी कर ताने ।।

[१५]

काली यामिनि सी विकट ताड़का ज्या-निनाद सुन आई।
चंचल-कपाल-कुण्डला बलाकिनि-घटा-सदृश धर धाई ।।

[१६]

धरके मृत-पट, अति विकट वेग से तरु-कुल को थर्राती,
मरघट-मारुत के सदृश राम पर झपटी झट झर्राती ॥

[१७]

वह उठा एक भुज-दंड, बाँध पुरुषान्त्र-मेखला टूटी;
लख उसे राम की बाण-संग वनिता-बध-करुणा छूटी ॥

[१८]

राघव-शर से जो विवर शिला-घन हुआ ताड़का-उर मे,
मानो वह यम ने द्वार किया अप्रविष्ट निश्चर-पुर में ॥

[१९]

शर-भिन्न हुआ उर, गिरी, मही ही कँपी नहीं कानन की,
त्रिभुवन-जय-स्थिरा कँपा किन्तु लक्ष्मी भी दश-आनन की ॥

[२०]

निश्चरी हृदय मे राम-काम के दुःसह शर की मारी,
शोणित-चन्दन दुर्गन्धि लगा प्राणेश-निवेश सिधारी ॥

[२१]

पाये समंत्र दनुजघ्न अस्त्र सब शौर्य-तुष्ट मुनिवर से
रघुवर ने, ज्यों रविकान्त रत्न ने दाहक द्युति दिनकर से ॥

[२२]

पहुँचे ऋषि-कथित पुनीत वामनाश्रम में तब रघुनन्दन।
वह पूर्व। जन्म के कर्म भूलते भी हो आये उन्मन ॥

[२३]

फिर स्वाश्रम में मुनि गये अर्घ्य वटु साध जहाँ कि खड़े थे;
तरु पत्र-पुटांजलि बाँध, दर्शनोन्मुख हो हरिण अड़े थे ॥

[२४]

दीक्षित-मुनि-रक्षण किया विघ्न-गण से रघुवीर-शरों ने;
तम से भूतल का यथा क्रमोदित रवि-राकेश-करों ने ॥

[२५]

अवलोक रक्त-कण वेदि-पतित बन्धूक-सुमन-सम भारी,
खस पड़े विकङ्कत स्रुवा, हुए शंकित ऋत्विज मखकारी ॥

[२६]

उन्मुख रघुवर ने तुरत तूण से शर धरते अवलोके
नभ में दानव-दल, केतु कँपाते गृध्र-परों के झोंके ॥

[२७]

अन्यों को तज, दो किये मुख्य मख-घातक लक्ष्य स्वशर के,
क्या गरुड़ महोरग-काल, निकट जाता जल-नाग-निकर के ?

[२८]

अस्त्रज्ञ राम ने प्रबल धनुष पर शर वायव्य चढ़ाया,
झट पीत पत्र के सदृश दैत्य गिरि-गुरु मारीच गिराया ॥

[२९]

फिरता था अपर सुबाहु-नाम निश्चर जो छद्म बड़े कर,
आश्रम-बाहर वह किया खगार्पित खुरपों से टुकड़े कर ॥

[३०]

कर यज्ञ-विघ्न-हर-समर-दक्ष-युग- विक्रम का अभिनन्दन,
ऋत्विज-गण ने कर दिया पूर्ण मौनी-मुनि-मख-सम्पादन ॥

[३१]

अवभृथ-स्नात हो कुशिक-पुत्र ने युगल कुशा-क्षत कर से
करते चूड़ाएं चलित प्रणति से, आशिष देकर परसे ॥

[३२]

मुनि वशी जनकपुर चले जनक दीक्षित ने जब कि बुलाये,
तद्धनुप-कथा से चकित राम-लक्ष्मण भी संग लगाये ॥

[३३]

रम्याश्रम-तरुओं तले रुक गये सन्ध्या को वे चलकर,
हरि-कलत्रता को प्राप्त हुई थी जहाँ अहल्या पल भर ॥

[३४]

जो मिला शिला-गत यती-नारि को स्वतन दिनों में नीका,
वह था प्रसाद शुचि पाप-हारिणी राघव-पद-रज ही का ॥

[३५]

सुन अर्थ-काम-मय मूर्त धर्म के सम मुनीश का आना,
राघवों सहित, नृप जनक सार्घ्य स्वागत को हुए रवाना ॥

[३६]

सुरपुर से भ्वागत युगल-पुनर्वसु-सम वे युगल जनों ने
नयनों से पिये, निमेष-पात भी माना क्लेश मनों ने ॥

[३७]

मख हुआ सयूप समाप्त, कुशिक-कुल-वर्धक ने नृपवर को
धनु-दर्शनार्थ सोत्कंठ बताये राम, जान अवसर को ॥

[३८]

अवलोक प्रथित-कुल-जात मनोरम उस बालक के तन को,
लख तथा कठिन धनु सुता-शुल्क-सम, खेद हुआ नृप-मन को ॥

[३९]

बोले—"भगवन् ! जो कर्म गजेन्द्रों को भी दुष्कर माना;
उसमें न चाहता व्यर्थ कलभ-करतब को मैं परचाना ॥

[४८]

नृप ने अयोनिजा सुता तुरत दी सत्य-संध रघुवर को,
साक्षी सा किया कृपानु निकट कर तेजस्वी मुनिवर को ॥

[४९]

भेजा महीप ने पूज्य पुरोहित पास कोसलेश्वर के—
"निमि-कुल-सेवा-स्वीकार कीजिये कन्या ले"—कह करके ॥

[५०]

थे स्नुषा-खोज में भूप, सूचना द्विज ने वही सुनाई।
सुरतरु-सम होते साधु-मनोरथ सदा सद्य-फल-दाई ॥

[५१]

अर्चन-पूजन कर, तथा श्रवण कर सुखद वचन द्विजवर के,
हरि-सखा चले स्वाधीन, सैन्य-रज से हर कर दिनकर के ॥

[५२]

मिथिला आये नृप, घेर दले दल ने उपवन-तरु भारी;
पर सहा पुरी ने प्रीति-रोध, पति-भोग गाढ़ ज्यों नारी ॥

[५३]

आचार-निष्ठ मिल गये उभय भूपति ज्यों वरुण-पुरन्दर,
सुत-सुतोद्वाह-संस्कार स्वकीर्त्यनुसार कर दिये सुन्दर ॥

[५४]

सीता राघव को, और लषण को दी उर्मिला तदनुजा;
दो अनुजों को दीं व्याह कुशध्वज की दो मध्या तनुजा ॥

[५५]

दशरथ के चार कुमार व्यक्त थे नव बधुओं से ऐसे,
हों साम-दाम-विच्छेद-दंड सिद्धियों सहित शुभ जैसे ॥

[५६]

मिल मिथः कुमारी तथा कुमारों ने कृतार्थता पाई,
प्रत्यय-प्रकृति-सँग-सदृश वधू-वर-संग दिया दिखलाई ॥

[५७]

यों सानुराग निज चार सुतों के कर विवाह, मिथिला से
स्वपुरी को दशरथ फिरे, नियत कर पथ में तीन मवासे ॥

[५८]

सहसा पथ में प्रतिकूल पवन उखड़ा ध्वज-विटप हिलाता,
बँध को ज्यों उत्तट नदी-वेग त्यों नृप-दल को दहलाता ॥

[५६]

फिर व्यक्त हुआ मार्तंड परिधि-मंडल प्रचंड से घिर के:
होती है जैसे गरुड़-दलित अहि से वेष्टित मणि गिर के ॥

[६०]

पट सांध्य-मेघ-रुधिरार्द्र, श्येन-पर-धूसर-लट-लटकातीं,
रमणी रजस्वला-सदृश दिशाएँ देखी नहीं सुहातीं ॥

[६१]

क्षत्रिय-शोणित से पितृ-कर्म-कारक मानो भार्गव को
उकसाते, करते स्यार सूर्य की ओर घोरतर रव को ॥

[६२]

लख विघ्न विषम वातादि, कृत्य-विद् नृप ने गुरु से जाके,
शान्त्यर्थ विनय की, व्यथा उन्होंने हरी शुभान्त सुनाके ॥

[६३]

सेना-समक्ष उठ पड़ा एक द्युति-पुञ्ज तुरत भारी सा,
चिर मलते दृग, जो लगा भटों को पुरुष-वेष-धारी सा ॥

[६४]

उपवीत-रूप पितृ्यंश, तथा मातृ्यंश-रूप धन्वा से,
जो थे ससोम रवि-सदृश साहि चन्दन से सब को भासे;

[६५]

मर्यादा-लंघी रोप-परुप गुरु की भी कर जो कहनी,
मा का कम्पित शिर काट, घृणा जीते, फिर जीते अवनी;

[६६]

क्षत्रिय-विनाश इक्कीस बार मिस मानों जिनने डाली
वामेतर श्रुति में अक्ष-माल्य इक्कीस गोलकों वाली,

[६७]

गुरु-घात-रुष्ट नृप-वर्ग-घात-रत निरख उन्हीं भृगुपति को,
निज गति को, बालक तथा सुतों को, हुआ विषाद नृपति को ॥

[६८]

अभिधान 'राम', जिसका कि हुआ था शत्रु-पुत्र में संगम,
अहि-हार-नियत-मणि-सदृश उन्हें था भयद तथा हृदयंगम ॥

[६९]

पहुँचे थे राघव जहाँ, न कहते 'अर्घ्य-अर्घ्य' नृप हेरे,
क्षत्रिय-कोपानल-सदृश नयन तारों को तान तरेरे ॥

[७०]

कार्मुक मुट्ठी में जकड़, तथा ऊँगलियाँ सटा कर शर से,
बोले भार्गव समरेच्छु समक्षागत अभीत रघुवर से—

[७१]

"अपकार-शत्रु-नृप-वर्ग मार बहु बार मिला मुझ को शम,
अब दंड-घात से सुप्त-सर्प-सम उखड़ा सुन तव विक्रम ॥

[७२]

भूपों से अनमित-पूर्व जनक-धनु को तुमने भाना है।
तद्भञ्जन को निज-शौर्य-शृङ्ग-भञ्जन मैंने माना है॥

[७३]

मेरा ही वाचक 'राम' नाम पहिले था माना जाता।
तेरे होते अब वही अन्य-वाचक हो मुझे लजाता॥

[७४]

गिरयक्षताश्र-धर मुझे दीखते दो रिपु सम अपकारी—
गो-शिशु-हर हैहय प्रथम, अन्य तू ही है कीर्त्यपहारी॥

[७५]

बेजीते तुझे न सुखद मुझे क्षत्रिय-नाशक भी विक्रम,
पावक-महिमा है यही कि दाहै सागर को भी तृण-सम॥

[७६]

त्वद्भग्न-शैव-धनु-सार हरा हरि-बल ने गुन ले ये ही,
नद-रय से जर्जर-मूल गिरै तट-तरु मन्दानिल से ही॥

[७७]

यदि इस मद्धनु को बाँध डोर सन्नद्ध करे शर धर के
तो हुआ पराजित सदृश-बाहु-बल तुझ से बिना समर के॥

[७८]

मम दीप्त परशु की धार-तर्जना से तू अगर गया डर,
तो जोड़ अभय-हित व्यर्थ मौर्वि से कठिन उँगलियों के कर॥"

[७९]

बोले यों भार्गव भीम, हँसी से हिले अधर रघुवर के।
समुचित प्रत्युत्तर दिया उन्हें तच्चाप ग्रहण ही करके॥

[८०]

थे रुचिर राम अति पूर्व जन्म के उस धनु को लेकर के।
नव मेघ रिक्त भी रम्य लगे, क्या कहना सुर-धनु धरके!

[८१]

भू-निहित कोटि कर एक, सबल रघुवर ने चाप चढ़ाया।
उस क्षत्रिय-रिपु का धूम-शेष-पावक सम तेज सिराया॥

[८२]

वे परस्पर-स्थित युगल, तेज विकसाते तथा गँवाते,
देखे जनता ने चन्द्र-दिवाकर-सम दिनान्त के आते॥

[८३]

हत-बल मुनिवर को, तथा तने निज शर अमोघ को लख कर,
बोले यह वाणी दया-मृदुल हरसूनु-सदृश श्री रघुवर—

[८४]

"हो विप्र, अतः बन क्रूर मारते भी तुम हने न जाओ।
इस शर से गति भवदीय हनूँ या मख-जित लोक? बताओ॥"

[८५]

बोले मुनि—"यह न कि परम-पुरुष मैंने न जान तुम पाये।
भ्वागत प्रभु वैष्णव-धाम-दर्शनेच्छा से ही उकसाये॥

[८६]

गुरु-रिपुओं को दल, दान कर चुकाससागरा अवनी का,
तुझ परमेष्ठी से अतः पराभव भी मेरा है नीका॥

[८७]

मम पुण्य-तीर्थ-गमनेच्छु प्रगति को रक्षित रक्खो स्वामी!
मैं रुद्ध स्वर्ग-पथ देख लहूँगा दुख न भोग-निष्कामी॥"

[८८]

कहके तथास्तु प्राङ्-वदन राम ने छोड़ दिया तब शर को,
शुभ-कर भी जो सुर-लोक-पंथ की रोक बना मुनिवर को ॥

[८९]

रघुवर ने भी "कीजिये क्षमा"— कह छुए चरण मुनिवर के।
पाते बलिष्ठ हैं कीर्ति विनय बल-विजित शत्रु से करके ॥

[९०]

मातृक नृप-सत्व विसार, शान्त पैतृक को जब पालूँगा,
इस शुभ निग्रह को तभी अनुग्रह तुम से करवा लूँगा ॥

[९१]

मैं चलूँ, चले निर्विघ्न सुर-व्यापार समस्त तुम्हारे—"
रघुवर से यों सौमित्र-सहित कह कर मुनिराज सिधारे ॥

[९२]

गये मुनीश, लगाये उर से विजयी राम पिता ने।
पुनर्जात से स्नेह-विवश वे नृप ने मन में माने ॥
उस क्षण-शोची नरपति का परितोप-लाभ यों दर्शा,
दावानल से व्याप्त वृक्ष पर यथा वारि की वर्षा ॥

[९३]

तदनन्तर, थे रचे मार्ग में कलित क्लृप्त जो डेरे,
शर्व-सदृश कुछ शर्वरियों को करके वहाँ बसेरे,
सीय-दर्शनोत्सुक-ललना-नयनों ने जहाँ बनाये
सकमल सकल गवाक्ष, भूप उस अवधपुरी में आये ॥

इति महाकवि श्रीकालिदास विरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन
हिन्दी भाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
सीताविवाहवर्णनो नाम एकादशः सर्गः।

द्वादश सर्ग

[१]

कर भोग विषय-स्नेह का, पा आयु के अवसान को,
थे नृप निकट-निर्वाण ऊषा-दीपकार्चि-समान वो ॥

[२]

सित-केश-मिस मनुजेश से, कैकेयि-भय से कातरा,
"दो राम को श्री"—कह गई श्रुति-मूल मे मानों जरा ॥

[३]

पुर-जन जन-प्रिय राघवोन्नति-वृत्त ने सुख से भरे;
उद्यान-तरु कुल्या-सलिल से ज्यों कि हो जाते हरे ॥

[४]

कर कठिन हठ कैकेयि ने नृप-वाष्प से दूषित किया
वह साज सब, रामाभिषेक-निमित्त जो भूषित किया ॥

[५]

मन कान्त से तद्दत्त चंडी ने दिये वर डाल दो;
मानों निकाले आर्द्र अवनी ने बिले से व्याल दो ॥

[६]

दे एक वर से राम को वन-वास चौदह साल को,
वैधव्य-दा ही श्री अपर से माँगली निज लाल को ॥

[७]

पहिले रुदन कर राम ने स्वीकृत पिता से की मही ।
"जाओ विपिन को"—यह तदाज्ञा फिर मुदित होकर गही ॥

[८]

शुभ क्षौम, फिर वल्कल सदृश मुख-राग से धरते हुए,
रघुवर विलोके लोक ने आश्चर्य अति करते हुए ॥

[९]

सौमित्र-सीता-सहित, गुरु को अविचलित रख सत्य से,
रघुनाथ दंडक-वन तथा प्रति सन्त के मन में बसे ॥

[१०]

कर याद सुत-विरहार्त नृप ने भी स्वकर्मज शाप की,
मानी स्वतनु के त्याग से ही शुद्धि अपने पाप की ॥

[११]

वन में कुँवर, नृप स्वर्ग में, वह राज्य मानों मिल गया
छिद्रावलोकन-दक्ष शत्रु-समूह को आमिष नया ॥

[१२]

भेजे अनाथ अमात्य-गण ने आप्त चर आँसू दबा,
ननसाल मे बसते भरत को जो कि घर लाये लिवा ॥

[१३]

करके श्रवण उस भाँति से गुरु-मरण का संकट नया,
केवल न मा से, मन रमा से भी भरत का हट गया ॥

[१४]

जब तापसों ने तरु दिखाये लषण-राघव-धाम के,
वे रोपड़े जाते हुए सानीक पीछे राम के ॥

[१५]

गुरु-मरण की उस चित्रकूट-वनस्थ से कहदी कथा;
लक्ष्मी अभुक्तोत्कर्ष राघव के निकट धरदी तथा ॥

[१६]

उस अग्रजन्मा ने नहीं जो ग्रहण की थी सम्पदा,
ले उसे निज को मानते थे भरत परिवेत्ता सदा ॥

[१७]

स्वर्गीय जनकादेश से टलना न था उस साधु का,
राज्याधिकार-निमित्त माँगी इसलिए तत्पादुका ॥

[१८]

वह दे पठाये राम ने, पर वह न आये धाम में।
तद्राज्य पाला न्यास-सम कर वास नन्दिग्राम में ॥

[१९]

हो राज्य-लिप्सा विमुख, अग्रज-भक्ति में अति ही पगे,
मा के अघों का भरत प्रायश्चित्त सा करने लगे ॥

[२०]

कन्दादि खाते, शान्त, वन-वासी, सियानुज-संग में,
राघव युवा ही रँगे वृद्धेक्ष्वाकुओं के रंग में ॥

[२१]

वे सो रहे थे एक दिन सीताङ्क-मध्य थकान से
तरु के तले, जिसकी रुकी छाया प्रभाव महान से ॥

[२२]

द्विज हरि-तनुज सीता-स्तनों को प्रिय-नख-क्षत देश में
करके नख-क्षत, निरत मानों हुआ छिद्रान्वेष में ॥

[२३]

उस पर चलाया सींक-शर रामावबोधित राम ने।
उस विहँग का जीवन बचाया एक दृग के दाम ने ॥

[२४]

नैकस्थ्य-वश राघव भरत-पुनरागमन की भीति से,
तज चित्रकूट गये, जहाँ थे हरिण उत्सुक प्रीति से ॥

[२५]

कर आतिथेयाश्रम-रमण दक्षिण गये रघुनाथ यों,
वार्षिक विमल नक्षत्र-कुल में घूम के दिन-नाथ ज्यों ॥

[२६]

कैकेयि-वर्जित भी हुई रामानुसारिणि सीय थी।
अनुसारिणी गुण की रमा-सी वह रमणि रमणीय थी ॥

[२७]

शुचि-गन्ध अनुसूया-समर्पित अङ्गराग ललाम से
उसने भगाये भ्रमर कानन-कुसुम-जाल तमाम से ॥

[२८]

संध्याभ्र के सम कपिश दैत्य, विराध जो था नाम का,
ज्यों राहु शशि का, अड़गया पथ रोक त्योंही राम का ॥

[२९]

वैदेहि को युग-मध्य से ले गया शोषक सृष्टि का,
ज्यों हरण श्रावण-भाद्र से करता अवग्रह वृष्टि का ॥

[३०]

दुर्गन्ध-दूषित हो न आश्रम-भूमि यह निर्धार के,
काकुत्स्थ-युग ने खन धरा, गाढ़ा उसे संहार के ॥

[३१]

घट-योनि के आदेश से फिर राम पंचवटी रहे
सम्पूर्ण-मर्यादा-सहित, विन्ध्याद्रि ज्यों सीमा गहे ॥

[३२]

लंकेश-भगिनी राम पर आई सताई काम की;
चन्दन-समीप भुजंगिनी जैसे तचाई घाम की॥

[३३]

कह कुल-कथा सीता-निकट ही वरा उसने राम को।
रहता न काल-ज्ञान अत्युद्दीप्त कामिनि-काम को॥

[३४]

वृषभांस राघव कामुकी से कह उठे इस बात को—
"मैं तो स्वयं सकलत्र हूँ, भज नारि! मम लघु भ्रात को॥"

[३५]

ज्येष्ठाभिगत थी प्रथम, लघु ने भी अतः वह त्याग दी।
फिर राम-निकटागत रुची युग-तट-गता जैसे नदी॥

[३६]

क्षण-मात्र को हो सौम्य, वह चिड़गई सीता-हास से;
निर्वात निश्चल जलधि-वेला यथा चन्द्र-विकास से॥

[३७]

"फल इस हँसी का सद्य पाओगी इधर देखो सिया!
इस हास से मानों मृगी ने हास व्याघ्री का किया॥"

[३८]

कहते यही, पल्यंक में सीता समाई कातरा।
नामानुसार स्वरूप शूर्पणखा क्षपाटी ने धरा॥

[३९]

पिक सी प्रथम कल-वादिनी, फिर कटु शिवा सी नादिनी
वह जब सुनी सौमित्र ने, पहिचान ली मायाविनी॥

[४०]

झट पर्णशाला में उन्होंने गमन असि लेकर किया।
वैरूप्य द्विगुणित से विरूपा को नियोजित कर दिया॥

[४१]

अंकुश-सदृश थे वक्र नख, दृढ़ पर्व जिनके बाँस से,
उन उँगलियों से युगल तर्जे चंडि ने आकाश से॥

[४२]

यों प्रथम नूतन दनुज-परिभव, राम ने जो था किया,
जा जन-स्थान, खरादि से उस निश्चरी ने कह दिया॥

[४३]

रक्खी मुखाङ्ग-विहीन वह आगे उन्होंने, सामना
श्रीराम का करते हुए, अशकुन यही उनका बना॥

[४४]

आयुध उठाते देख आते क्रुद्ध उनको सामने,
सौंपी जयाशा धनुष को, सीता अनुज को राम ने॥

[४५]

थे राम यद्यपि एक रण में, और दैत्य हज़ारहाँ।
वे किन्तु जितने थे, लगे राघव उन्हें उतने वहाँ॥

[४६]

फिर सहा शुद्धाचरण-युक्त ककुत्स्थ-वंशज राम ने,
खल-कथित निज-दूषण-सदृश, दूषण न आता सामने॥

[४७]

वह, खर, तथा त्रिशिरा शरों से राम ने रण में दले।
तच्चाप से क्रमशः चले शर साथ ही दीखे चले॥

[४८]

रह पूर्ववत् शुचि, निकल बाहर तीन का तन फोड़ के,
शित बाण वय को पी गये, शोणित खगों को छोड़ के ॥

[४९]

उस राम-शर-विच्छिन्न भारी दैत्य-सेना में कहीं
उठते कबंध-कलाप के अतिरिक्त कुछ दीखा नहीं ॥

[५०]

निश्चर-निकर लड़ बाण-वर्षी राम से हत होगया।
वह हाय! गृध्र-च्छाँह में सारा सदा को सोगया ॥

[५१]

राघव-शरों से दनुज-वध के उस अशुभ सन्देश को,
रह गई शूर्पणखा अकेली सौंपने लंकेश को ॥

[५२]

निज स्वसृ-निग्रह से, तथा निज आप्त-बन्धु-विघात से,
दश भाल दशमुख को हुए राघव-पदाहत ज्ञात से ॥

[५३]

मृग-रूप राक्षस से करा छल राम-लक्ष्मण के लिये,
हर ली सिया, पथ किया रुद्ध जटायु ने क्षण के लिये ॥

[५४]

लखते उसे युग ने विलोका गृध्र, रावण-बाण से
खो पक्ष, दशरथ-रति चुकाता कंठ-गत स्वप्राण से ॥

[५५]

'उनको वचन द्वारा बता लंकेश से सीता-हरण,
'सुर-पुर गया वह कर व्रणों से विदित निज वीराचरण॥

[५६]

खग की उन्होंने की जनक के सदृश दाहादिक क्रिया।
उसके मरण ने गुरु-मरण का शोक नूतन कर दिया॥

[५७]

कथनानुसार कबंध के, हो हत बचा जो शाप से,
होगई मैत्री राम की सुग्रीव सम-संताप से॥

[५८]

हन बालि को उस वीर ने तत्पद चिरेच्छित दे दिया
सुग्रीव को, आदेश धातु-स्थान में मानों किया॥

[५९]

जनकात्मजा की खोज में पाकर स्वनाथादेश को,
रघुवर-मनोरथ-सदृश वानर गये इस उस देश को॥

[६०]

सम्पाति-मुख से जानकर सब जानकी के हाल को
लांघे पवन-सुत सिन्धु को, निर्मम यथा जग-जाल को॥

[६१]

लंका-भ्रमण करते लखी दैत्यावृता सीता तथा,
विष-बल्लियों से व्याप्त हो संजीविनी लतिका यथा॥

[६२]

दी जानकी को कीश ने पति-मुद्रका परिचायिका,
सुख-वाष्प शीतल से हुई जो स्वागता सुख-दायिका॥

[६३]

हो अक्ष-बध से दृप्त उसने क्षणिक अरि-बाधा सही;
की शान्त सीता कान्त के संदेश से, लंका दही॥

[६४]

हो सफल, परिचय-रत्न कपि ने राम को दिखला दिया,
था जो कि मानों जानकी का मूर्त स्वयमागत हिया ॥

[६५]

उर-सक्त-रत्न-स्पर्श ने अत्यन्त सुख उनको दिया;
मानों कुचा-संसर्ग से वंचित प्रियालिंगन किया ॥

[६६]

तत्संगमोत्सुक राम ने, सुनकर प्रिया-संदेश को,
लघु खात सा माना महा लंका-जलधि-परिवेष को ॥

[६७]

ले राम ने हरि-सैन्य, अरि-दलनार्थ धावा कर दिया,
जिसने मही पर ही न, संकट व्योम में भी भर दिया ॥

[६८]

भेटे विभीषण, जब कि राघव सिन्धु-तट पर जा बसे ।
मानों फिरी मति निश्चर-श्री-स्नेह के सद्भाव से ॥

[६९]

रघुवीर ने उसके लिये दी सौंप निश्चर-सम्पदा ।
फलवान होते हैं विधान सुसामयिक सब सर्वदा ॥

[७०]

लवणाम्भ पर तत्क्षण रचाया सेतु वानर-जाल से ।
अहि-नाथ हरि-शयनार्थ मानों उठ पड़ा पाताल से ॥

[७१]

हो पार, लंका-रोध तब पिंगल प्लवंगों ने किया,
प्राकार हाटक का जिन्होंने दूसरा सा रच दिया ॥

[७२]

भीषण वहाँ रण वानरों रजनीचरों में रचगया।
रघुवीर-रावण का दिगन्तों में विजय-रव मच गया॥

[७३]

वल्लभ द्रुमों ने, पाहनों ने घोर मुद्गर दर दिये,
आयुध नखों ने, नाग नग-गण ने निकम्मे कर दिये॥

[७४]

शिर-खंड रघुवर का निरख कर हुई मूर्च्छित जानकी।
कह उसे माया-रचित रक्षक हुई त्रिजटा जानकी॥

[७५]

होगई यद्यपि शान्त सीता कान्त जीता जान के,
पर लज्जिता थी सोच-जीयी सत्य मरना मान के॥

[७६]

गरुडागमन से भग्न घननादास्त्र-बन्धन होगया।
वह राम-लक्ष्मण का क्षणिक दुख स्वप्न के सम खोगया॥

[७७]

पौलस्त्य ने सौमित्र-उर दर दिया शक्ति कराल से,
राघव अनाहत भी उराहत हुए शोक विशाल से॥

[७८]

लाये महौषधि मारुती, उनकी व्यथाएँ भग गईं।
फिर तच्छरों से बिलखने लंकाङ्गनाएँ लग गईं॥

[७९]

घननाद के घन-नाद का, सुर-चाप सम तच्चाप का
उनने न कुछ छोड़ा, शरद ने यथा मेघ-कलाप का॥

[८०]

सुग्रीव द्वारा स्वसृ-सम हो, राम-सन्मुख आ डटा
घटकर्ण उस गिरि सदृश, जिसका टंक से गैरिक कटा॥

[८१]

प्रिय-निद्र वह असमय प्रबोधित भ्रातृ-द्वारा होगया,
मानों अतः राघव-शरों से फिर सदा को सोगया॥

[८२]

गिर मरे अन्य ज्ञपाट भी वानर-समूह अपार में,
ज्यों गिरि रही थी रज रणोत्थित तद्रुधिर की धार में॥

[८३]

रण के लिये यह ठानकर लंकेश निकला धाम से—
"संसार होगा आज रावण से रहित या राम से॥"

[८४]

लख कर रथी लंकेश को, पैदल निरख भगवान को,
भेजा तदर्थ महेन्द्र ने कपिलाश्व-कर्षित यान को॥

[८५]

उस जैत्र रथ में जा जमे रघुवीर मातिल-कर गहे,
ध्वज-चीर नभ-गंगोर्मि-शीत समीर से थे हिल रहे॥

[८६]

मघवा-कवच से राम मातलि ने सुसज्जित कर दिये,
जिसने कुशेषय-दल-सदृश सब दानवायुध दर दिये॥

[८७]

बहुकाल में अन्योन्य-दर्शन से मिला शौर्यावसर।
था आज ही चरितार्थ सा वह राम-रावण का समर॥

[८८]

भुज-भाल-जंघ-बहुत्व से धनदावरज ऐसा लसा,
मानों अकेला भी यथावत् मातृ-कुल में था बसा ॥

[८९]

पूजे मुखों से हर, किये लोकप विजित जिस धीर ने,
कैलास तोला, शत्रु वह माना न लघु रघुवीर ने ॥

[९०]

सीता-मिलन-सूचक फड़कती राम-भुज थी दाहिनी।
हो क्रुद्ध उसमें रजनिचर ने भोंकदी शर की अनी ॥

[९१]

उर असुर का भी भेद भू में गढ़ गया रामेश-शर,
मानों उरग-गण को सुनाने के लिये सन्देश वर ॥

[९२]

ज्यों वचन वचनों से, शरों से शर विफल पड़ते गये।
अरमान उनके वादियों के सम सतत बढ़ते गये ॥

[९३]

थी विक्रम-क्रम-वश विजय सामान्य उनमें सर्वथा;
मद-मत्त भिड़ते द्विरद-युग के मध्य हो वेदी यथा ॥

[९४]

कृति औ प्रति-कृति से मुदित सुर-असुर-गण से की गई,
मृदु-पुष्प-वर्षा युगल के शर-जाल से न सही गई ॥

[९५]

तब कूटशाल्मलि-यम-गदा-सम दैत्य ने अरि पर हनी
भीषण शतघ्नी, तीक्ष्ण थीं जिसमें गढ़ीं अय की अनी॥

[९६]

आशा दनुज की ओर वह, आई न जब तक रथ-निकट,
नव-शशि-मुखी शर से कदलि सी राम ने दी काट झट ॥

[९७]

रक्खा तथा उस श्रेष्ठ धन्वी ने अमोघ स्वचाप पर
ब्रह्मास्त्र, औषधि-सम हरा जिसने प्रिया-संताप-शर ॥

[९८]

नभ-मध्य शतधा-भिन्न वह जाज्वल्य स्वमुखों को किये,
था व्यक्त शेष-शरीर सा, विकराल फण-मंडल लिये ॥

[९९]

उस मंत्रितायुध ने गिरा शिर-पंक्ति दी लंकेश की
पल अर्ध में, अनुभूति भी न हुई व्रणों के क्लेश की ॥

[१००]

पतनाभिमुख दशमुख-वदन की कठ-खंड-परंपरा
भासी, यथा नव-भानु-छाया बीचियों से, बहुतरा ॥

[१०१]

तच्छिर पतित भी देख, पर डर कर पुनः सन्धान का,
विश्वास होता था न देवों को दनुज-अवसान का ॥

[१०२]

राघव के शिर पै, जिसके मणि-बन्धन के दिन थे नियराये,
देव-विमुक्त हुए नभ से अति मंजुल-गन्ध प्रसून सुहाये।
लोलुप मत्त मलिन्द सभी, मद से जिनके पर थे गरुआये,
लोकप-नाग-कपोल विसार विसार उन्हीं सुमनों प्रति धाये॥

[१०३]

पूछ राम से, जब कि कर चुके वह पूरा सुर-कार्य-कलाप,
तथा ढील कर प्रत्यञ्चा को तुरत धर चुके अपना चाप,
नामाङ्कित रावण-बाणों से अङ्कित था जिसका ध्वज-दण्ड,
उस सहस्र-हय-मय रथ को ले मातलि चले गये नभ-खण्ड ॥

[१०४]

राघव भी पावक-पवित्र प्यारी को लेकर,
अरि-लक्ष्मी प्रिय मित्र विभीषण को सब देकर,
निज-भुज-विजित-विमान-रत्न में चढ़कर, प्यारे
अनुज, दनुज, रवि-तनुज सहित साकेत सिधारे ॥

इति महाकवि श्रीकालिदासविरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन
हिन्दी भाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
रावणबधो नाम द्वादशः सर्गः ॥

त्रयोदश सर्ग

[१]

विमानस्थ हो शब्द-गणात्मक निज पद में करते संचार,
हरि रामाख्य गुणज्ञ रहसि जाया से बोले जलधि निहार—

[२]

"सीते लखो मलय तक फेनिल सलिल-राशि मम-सेतु-विभक्त
यथा सतारक शुभ्र शरद्-नभ छायापथ से होता व्यक्त ॥

[३]

मख-तुरंग जब सगर भूप का कपिल ले गये थे पाताल
तब तदर्थ खन भूमि, स्वपूर्वों ने इसको था किया विशाल ॥

[४]

गर्भ दिवाकर-कर इससे लें, यहीं अखण्ड रत्न भण्डार;
जल-दाहक पावक इसमें है, यही सुधाकर का करतार ॥

[५]

लिए रूप इसने अनेक, है दशों दिशाओं में विस्तार;
'इतना ऐसा' है अकथ्य यह अच्युत का सा रूप अपार ॥

[६]

प्रथम-नाभि-कमलासनस्थ-विधि-वन्दित यहीं पुरुष प्राचीन,
लोकों का कर लोप, योग-निद्रा लेता है लय-कालीन ॥

[७]

इस शरण्य का आश्रय लेते मघवा-मर्दित शतों पहाड़;
यथा शत्रु-भय-भीत भूप लेते हैं मध्यम नृप की आड़ ॥

[८]

किया भूमि-भामिनि का जल से जब वराह-वर ने उद्वाह,
बना क्षणिक अवगुंठन इसका विमल प्रलय-कालीन प्रवाह ॥

[९]

नदियाँ धृष्ट मुखार्पण में हैं, स्वयं करै लहराधर-दान—
है यह अद्भुत रसिक, अधर-रस करता और कराता पान ॥

[१०]

देखो खोल विशाल मुखों को जल सजीव भरती हैं ह्वेल;
फिर कर बन्द, सरन्ध्र शिरों से ऊपर उसे रही हैं ठेल ॥

[११]

लखो मकर विकराल उछलते सहसा फाड़ फेन का जाल,
तद्गण्डों से सटा चँवर की छटा जो कि पाता कुछ काल ॥

[१२]

तुङ्ग तरङ्गों में अभिन्न अहि निकले पीने को तट-वात,
भानु-रश्मि-रंजित फणस्थ मणियों से ही होते हैं ज्ञात ॥

[१३]

शंख तवाधर-सम प्रवाल-कुल में लहरों ने दिये उछाल,
कर पाते हैं जो ज्यों त्यों संचार प्ररोहों में मुख डाल ॥

[१४]

भ्रमर-वेग-संभ्रमित सलिल-पानोद्यत घन से पारावार
रूचता मानो पुनरपि मन्दर-मथित हो रहा है इस बार ॥

[१५]

लसै दूर से सूक्ष्म सिन्धु का ताल-तमाल-श्यामल तीर—
अयश्चक-धारा पर मानों है निबद्ध मालिन्य-लकीर ॥

[१६]

मानों मुझ बिम्बाधर-रत को साज-समय तक जान अधीर,
आयताक्षि ! केतक-रज से तव वदन सजाता कूल-समीर ॥

[१७]

ये आगये विमान-वेग से क्षण में हम समुद्र के तीर;
खड़े फलानत पूग, रेत में पड़े रत्न सीपों को चीर ॥

[१८]

हे करमोरु ! कुरङ्ग-नयनि ! पीछे तो करो दृष्टि की कोर—
सबन अवनि दूरस्थ सिन्धु से लखो निकलती सी इस ओर ॥

[१९]

कभी देव-पथ, कभी मेघ-पथ, कभी पक्षि-पथ में संचार
करता है देखो विमान ये मम अभिलाषा के अनुसार ॥

[२०]

सुरगज-मद-सुरभित सुरसरि-कल्लोल-सिक्त व्योमानिल शीत
करता है मध्याह्न-जनित तव मुख-स्वेद-कण को अपनीत ॥

[२१]

चंडि ! चाव में जब छूती हो घन को कर गवाक्ष से तान,
तब रच चपला-वलय, तुम्हें देता वह पर भूषण सा दान ॥

[२२]

चिर-त्यक्त निज निज कुटियों में मुनि वे करने लगे निवास ।
जनस्थान निर्विघ्न जान, रचने लग गये नये आवास ॥

[२३]

तुम्हें खोजते यहीं मुझे पाया था पड़ा एक मंजीर;
मानों मौन साध सहता था तव-पद-कमल-विरह की पीर ॥

[२४]

झुका छदों को उधर जिधर हे भीरु! तुम्हें ले गया चपाट,
मुझे मूक ये बेले डालों से सस्नेह बतातीं बाट ॥

[२५]

तज दर्भांकुर, दृग दक्षिण को करती हुई विरुनियां तान,
प्रिये! हरिणियां भी देती थीं भ्रान्त मुझे तव गति का ज्ञान ॥

[२६]

वह निकला गिरि माल्यवान का शृङ्ग नभ-स्पर्शी हे नारि!
मुझ से तव विरहाश्रु, घनों से बरसे जहाँ संग नव वारि ॥

[२७]

सलिल-सिक्त-छद-सुरभि, अर्ध-विकसित-केसर कदम्ब के फूल,
मृदु मयूर-रव तव वियोग में जहाँ मुझे देते थे शूल;

[२८]

तव सकम्प पूर्वानुभूत गाढ़ालिंगन की करके याद;
भीरु! सहा था ज्यों त्यों मैंने जहाँ गुहा-गुञ्जित घन-नाद;

[२९]

तव विवाह-धूमारुण दृग-छवि जहाँ मुझे देती थीं शूल,
करते जिसकी रीस आर्द्र-भू-वाष्प-विकासित कन्दल-फूल ॥

[३०]

उतर दूर से श्रान्त दृष्टि पीती सी है पम्पा का नीर;
लगते सारस लोल तनिक से, तट पर खड़े सघन वानीर ॥

[३१]

मुझ वियुक्त ने प्रिये! यहाँ देखे थे कोक-द्वन्द्व सचाह,
जो रह पास परस्पर देते थे सरसिज-केसर सोत्साह ॥

[३२]

कुच-सम-कलित-गुच्छ-नत कोमल मैंने यह तट-लता अशोक
समझी तू, पर मिलनोद्यत मैं लिया साश्रु लक्ष्मण ने रोक ॥

[३३]

सारस सुन रव यान-लग्न कंचन-किंकिणियों का रमणीय,
गोदा-तट से उड़ नभ में करते अनुधावन सा भवदीय ॥

[३४]

उन्मुख-हरिणा पंचवटी प्राचीन निरख मन हुआ निहाल।
यहाँ क्षीण-कटि भी तुमने सींचे थे घट से बाल-रसाल ॥

[३५]

यहीं तरङ्ग-वात से मृगया-श्रम हर शिर तवाङ्क में लाद,
गोदा-तीर बेत-कुञ्जों का गुप्त शयन आता है याद ॥

[३६]

कलुष- नीर - निर्मल-कारी उस मुनि का है वह पार्थिव धाम,
नहुष इन्द्र-पद-पतित किया था जिसने केवल कर भ्रू वाम;

[३७]

जिस शुचि-यश का यान-पथागत हवि-गन्धित त्रेतानल धूम
सूँघ, हृदय मम रजोमुक्त हलका सा होता है मालूम ॥

[३८]

मानिनि ! शातकर्णि का ये पंचाप्सराख्य है क्रीड़ा नीर,
मेघावृत शशि-सदृश दूर से रुचता जो वन-वेष्टित-तीर ॥

[३९]

पहिले था यह मृग-सहचर, कुश-मात्र-वृत्ति, पर तप से त्रास,
हरि ने पाकर, पंचाप्सर-यौवन-कुपाश में डाला फाँस ॥

[४०]

इस जल-मग्न-भवन-वासी की सतत मृदंग-गान की घोर
गूँजी यान-चन्द्रशाला में पल भर चल कर नभ की ओर ॥

[४१]

तपता अन्य यती वह—जिसका वृत्त सौम्य, है नाम सुतीक्ष्ण
जलता है परितः पावक, शिर पर पड़ता सूर्यातप तीक्ष्ण ॥

[४२]

दृष्टि सहास अप्सराओं की, छल से कुछ कुछ रशनाभास
डिगा न इसको सके, देख यह हुआ पुरन्दर को भी त्रास ॥

[४३]

मम मानार्थ ऊर्ध्व-भुज यह करता है दक्षिण भुज इस ओर,
धर अक्ष-स्रग्वलय, मृगों को मल, लुनती है जो कुश-कोर ॥

[४४]

मौन-व्रत यह मम प्रणाम लेकर करके कुछ कम्पित भाल,
यानावरण-मुक्त नयनों को फिर रवि पर देता है डाल ॥

[४५]

आहिताग्नि शरभंग यती का है यह पुण्य शरण्यागार,
शुचि तनु भी जिसने हुताश में होमा समिध होम बहु बार ॥

[४६]

करते हैं उसके सुपुत्र-सम अब ये वृक्ष अतिथि-सन्मान।
बहु फल मधुर बितरते, करते हैं छाया से दूर थकान ॥

[४७]

शृंगों पर घन-वप्र-पंक है, गुहा-वक्त्र में धारा-ध्वान।
मत्त-वृषभ-सम चित्रकूट ने बंधुराङ्गि ! बाँधा मम ध्यान ॥

[४८]

लखो दूर वह सूक्ष्म विमल निस्पन्द-वेग गंगा की धार,
रुचती जो नग-निकट यथा वसुमती-कंठ में मुक्ता-हार ॥

[४६]

अनुगिर उस तमाल का मैंने ले सुरभित दल, रचा त्वदीय
कुण्डल, लगा यवाङ्कुर-सम कुछ पाण्डु गंड पर जो रमणीय ॥

[५०]

अत्रि-तपोवन का देखो अद्भुत प्रभाव, जिसमें हैं दीन
निग्रह-भीति-विहीन जीव, पादप फलते हैं सुमन-विहीन ॥

[५१]

प्रथम यहाँ लाईं अनुसूया मुनि-स्नान-हित सुरसरि-धार,
हेम-पद्म सप्तर्षि जहाँ चुनते है, जो है हर-शिर-हार ॥

[५२]

ध्यान-मग्न वीरासनस्थ ऋषियों के पवन-विना गति-हीन,
वेदि-मध्य-गत तरु भी लगते हैं मानों समाधि में लीन ॥

[५३]

वट श्यामाख्य यही तुमने याचा था, जो, होकर फलवान,
छवि पाता है पद्मराग-संगत-मरकत-संघात-समान ॥

[५४]

कहीं विभास्वर इन्द्रनील-मिश्रित-मुक्तामय-हार-समान;
इन्दीवर-संग्रथित-धवल-कमलावलि-सदृश कहीं द्युतिवान ॥

[५५]

नीलहंस-मिश्रित-मराल-माला—सी कहीं, कहीं रमणीक,
धरणी पर ज्यों कालागुरु-पत्राङ्क-सहित चन्दन की लीक;

[५६]

छाया-पतित तिमिर-कर्बुर चन्द्रिका-समान कहीं अभिराम;
कहीं छिद्र-लक्षित-नभ-मय-सित—शरद्घनावलि-सदृश-ललाम;

[५७]

भस्म-लिप्त कृष्णोरग-भूषित कहीं ईश-तनु के अनुसार;
अनवद्याङ्गि ! देख यमुना-कल्लोल-भिन्न गंगा की धार ॥

[५८]

गंगा-यमुना के संगम पर पूतात्मा, करके अभिषेक,
होते हैं शरीर-बन्धन से मुक्त बिना ही तत्व-विवेक ॥

[५९]

है यह गुह-पुर, जहाँ मौलि-मणि हटा जटायें रचती बार,
"फली चाह तव कैकेयी !"—रोये सुमन्त्र यह कर उद्गार ॥

[६०]

जसकी हेम-कमल-रज करती है किन्नरी-कुच-श्री-वृद्धि,
उसी ब्रह्मसर से प्रसूत जो है, जैसे प्रधान से बुद्धि;

[६१]

यूप-युक्त हैं तट, जिसका साकेत-निकट बहता है नीर;
हय-मखावभृथ से जिसको शुचितर करते रघु-कुल के वीर,

[६२]

उत्तर-कोसलेश्वरों की जो माता है मम—मतानुसार;
जिसका पय पी पले, किये जिसके पुलिनाङ्क-मध्य सुविहार;

[६३]

वह सरयू शीतल-समीर-मय लहर-करों को मानों तान,
अवधागत मुझ से मिलती है भूप-हीन-मम-मातृ-समान ॥

[६४]

करती है आगे नभ में गोधूलि-ताम्र-रज यह संकेत—
भरत ससैन्य पवनसुत-सूचित आगत है मम स्वागत हेत ॥

[६५]

श्री पूर्ण-प्रण मुझे साधु वह सौंपेगा अवश्य अवदात;
जैसे तुम सौंपी थीं लक्ष्मण ने खरादि-बध के पश्चात् ॥

[६६]

आगे गुरु को, सेना को पीछे रख, ढक वल्कल से अंग,
भरत सार्घ्य पैदल आते हैं इधर वृद्ध सचिवों के संग ॥

[६७]

यौवन में भी त्याग पितागत अंक-लिप्त श्री को मम हेत,
असिधार व्रत मानों उससे इतने दिन तक किया सचेत ॥"

[६८]

दाशरथी के यह कहते, निज इष्टदेव से जान तदाशय,
नभ से उतरा यान, लखा भरतानुग जनता ने कर विस्मय ॥

[६९]

आगे बढ़ भू-लग्न फटिक-सोपान विभीषण ने दिखलाये।
सेवा-पटु-कपीश-कर धरके उतर यान से रघुवर आये ॥

[७०]

प्रयत राम कुल-गुरु-वन्दन कर, मिले भरत से अर्घ्य ग्रहणकर,
किया भ्रातृ-हित राज्य-तिलक-त्यागी ललाट का घ्राण रुदनकर ॥

[७१]

वृद्ध सचिव लंबी डाढ़ी से जटा-जटिल-वट-सदृश विकृत-मुख,
प्रणति-शुभेक्षण-मधुरवचन-कुशलप्रश्नों से किये सहित सुख ॥

[७२]
"ये सुग्रीव विपत्ति-बन्धु मम, ये हैं समराग्रणी विभीषण"—
सादर कहा राम ने, युग-हित झुके भरत, बिसराये लक्ष्मण ॥
[७३]
उठा प्रणत लक्ष्मण को गाढ़ालिङ्गन किया, दुखी सी छाती,
शुष्क-मेघनादास्त्र-व्रण-कर्कश उर से संघर्षण खाती ॥
[७४]
रामाज्ञा से मद-जल-धारा-वर्षी द्विरदों पर चढ़ करके,
प्लवग-सेनपों ने भोगा भूधरारोह-सुख नर-तन धरके ॥
[७५]
रामादिष्ट दनुज-नायक भी सानुग चढ़े रथों पर, जिनके
कृत्रिम-चित्रण-सदृश नहीं थे माया-रचित यान भी उनके ॥
[७६]
चंचल-केतु काम-गति पुष्पक पर फिर चढ़े सावरज रघुपति;
तरल-दामिनी-सहित सान्ध्य घनमें ज्यों चन्द्र सबुध-वाचस्पति॥
[७७]
शान्त-सिया-हित झुके भरत, जो मुक्तराम ने रावणभयसे-
की, ज्यों प्रभा शरद ने घनच्चय से, वराह ने धरा प्रलय से ॥
[७८]
रावण-विनय-विघात-दृढ़व्रत, ज्येष्ठ-बन्धु-परिचर्या-तत्पर—
वन्द्य सिया-पद, जटिल भरत-शिर युग मिल पावन बने परस्पर ॥
[७९]
अर्ध क्रोश चल प्रजा-पुरःसर मन्द-वेग पुष्पक से रघुवर,
बसे अवध-उपवन में जा, जिसमें रिपुघ्न ने रचे शिविर वर ॥

इति महाकवि श्रीकालिदास विरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन
हिन्दीभाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
दण्डकप्रत्यागमनो नाम त्रयोदशः सर्गः

चतुर्दश सर्ग

[१]

मिला राम-लक्ष्मण को माताओं का शोच्य और ही हाल
कान्त-मरण-वश, ज्यों लतिकों का आने पर आश्रय-तरु-काल ॥

[२]

क्रमशः दोनों ने दोनों वे प्रणत हतारि शौर्य-विख्यात,
हो वाष्पान्ध न लखे, कर लिये सुत-स्पर्श-सुख से ही ज्ञात ॥

[३]

शीतल सुखाश्रुओं से युग के तप्त दुखाश्रु हो गये बन्द;
ग्रीष्म-तप्त गंगा-सरयू-जल ज्यों पाकर हिमाद्रि-निस्यन्द ॥

[४]

सदय सुताङ्गों पर छूतीं दनुजास्त्रों के गीले से घाव,
क्षत्राणीप्सित भी न 'वीरसू' पद का वे करती थीं चाव ॥

[५]

"मैं अभागिनी सीता पति-दुःखदा हुई"—यों ले निज नाम,
पुत्र-वधू ने विधवा सासों को की भक्ति-समेत प्रणाम ॥

[६]

"बेटी ! उठ, तव विमल वृत्त से ही तव पति को सानुज मुक्ति
मिली दुखों से,"—कही प्रियार्हा से यों प्रिय भी सच्ची उक्ति ॥

[७]

तब रामाभिषेक, जिसका था जननी-सुखाश्रु से प्रारम्भ,
किया सचिव-गण ने तीर्थों से लाकर स्वर्ण-घटों में अंभ ॥

[८]

मेह विंध्य-शिर पर जैसे, विजयी-शिर पर बरसा वह नीर,
सरिता-सिंधु-सरों से जिसको लाये दनुज-कपीश्वर वीर ॥

[९]

मुनि-भूपा-भूषित होकर जो लगते थे अत्यन्त ललाम,
द्विगुणित छवि से युक्त हो गये राज-वेष-धारी वे राम ॥

[१०]

सचिव-दनुज-कपि-सहित राजधानी में वे आये दल साज।
तोरण तने, तूर्य सुन हर्षी प्रजा, गृहों से वर्षी लाज ॥

[११]

रथासीन राघव पर सानुज लक्ष्मण चँवर रहे थे ढार;
किया भरत ने छत्र, मूर्त-सामादि-संघ-सम थे वे चार ॥

[१२]

उठा मन्दिरों से कालागुरु-धूम, जो कि हो वात-विभक्त,
हुआ गृहागत राघव द्वारा मुक्त-पुरी-केशों-सा व्यक्त ॥

[१३]

कर्णी-रथ पर चढ़ी श्वश्रु-सज्जिता राम-पत्नी अभिराम,
की गवाक्ष-लक्ष्याञ्जलियों से पुर-स्त्रियों ने जिसे प्रणाम ॥

[१४]

मलकर अनुसूया-प्रदत्त वह अंगराग शाश्वत-द्युतिवान,
पति से, पौरों से शुचि दर्शित हुई अग्नि-गत सी फिर भान ॥

[१५]

चित्र-शेष गुरु के पूजा-मय मंदिर में मैत्री-निधि राम
साश्र प्रविष्ट हुए, सुहृदों को दे वर वेश्मों में विश्राम ॥

[१६]

हरी वहाँ कैकेयि-हिचक साञ्जलि राघव ने कह यह बात—
"साध सत्य को स्वर्ग गये गुरु तव सुकर्म से ही हे मात!"

[१७]

त्यों ही कृत्रिम भोगों से सुग्रीव-विभीषणादि-परिचार
किया, सोचते हो फल पाते उन्हे हुआ आश्चर्य अपार ॥

[१८]

आराधे मुनिवर जो आये सुर-पुर से यश-गान-निमित्त;
सुना स्वविक्रम-गौरव-सूचक हत रिपु का प्रभवादिक वृत्त ॥

[१९]

गये मुनीश, रक्ष-कपि-पति भी, सुख में जिन्हे न सूझा पक्ष,
विदा राम ने किये, स्वयं सीता ने रक्खी भेंट समक्ष ॥

[२०]

रावण-जीवन-संग हरा जो, था जो सुर-पुर-सुमन-समान,
धनदोद्वहन-निमित्त किया प्रेषित वह स्वेच्छा-सुलभ विमान ॥

[२१]

गुरु-नियोग से यों करके वनवास राज्य-भोगी रघुनाथ,
ज्यों धर्मार्थ-काम के, त्यों सम-चित्त रहे अनुजों के साथ ॥

[२२]

सब अंबों का वत्सलत्व-वश किया उन्होंने मान समान;
यथा कृत्तिकाओं का गुह ने षड्-वदनों से कर पय-पान ॥

[२३]

क्रियावान हर विघ्न, उन्होंने हो निर्लोभ किये धनवान,
शासक होकर पितृवान, हर शोक कर दिये जन सुतवान ॥

[२४]

एक समय कर पौर-कार्य सीता-समेत रमते थे राम।
रुचे रमा-संगत से, भोगेच्छा से कर तद्गात्र ललाम॥

[२५]

रंग-महल में इष्टेन्द्रिय-सुख पाते उनको आया ध्यान
दंडक-वन के दुःखों का, होते थे जो अब सुख से भान॥

[२६]

दृग कुछ स्निग्ध हुए सीता के, मुख कुछ हो आया था पीत,
मूक भाव से गर्भ जता कर किया जिन्होंने पति को प्रीत॥

[२७]

लज्जावती, कृशाङ्गी, नील-पयोधराग्र-वाली वह वाम
की अंकस्थ, अकेले में रुचि लगे पूछने निश्चित राम॥

[२८]

उसने चाहा पुनर्गमन गंगा-तटाश्रमों में, नीवार
हिंस्र जहाँ चरते, रहतीं वैखानस-कन्याएँ कर प्यार॥

[२९]

सुनके उसकी चाह, चढ़ गये श्रीरघुवर अनुचरों-समेत
अभ्रङ्कष प्रासाद-शिखर पर, लखने को समृद्ध साकेत॥

[३०]

राज-मार्ग में ऋद्धापण, सरयू में नौका-भ्रमण ललाम,
रसिक-रमण पुर-निकट उपवनों में निहार कर, हर्षे राम॥

[३१]

वाग्मी-वर, सद्वृत्त, शेष-सम-भुजोरुधर, अरि-मर्दन धीर,
लगे पूछने वृत्त भद्र चर से स्व-विषय में श्रीरघुवीर॥

[३२]

बोला साग्रह-पृष्ट दूत, "सब चरित सराहे जन-समुदाय,
दनुज-भवन-वासिनी-जानकी-स्वीकृति के हे देव ! सिवाय" ॥

[३३]

पाकर के दयिता-निन्दा-दुःसह अपयश का घोर प्रहार,
हुआ विदीर्ण हृदय राघव का, घन से तापित-अयानुसार ॥

[३४]

"अयश-कथा की करूँ उपेक्षा, या दूँ त्याग अदूषित वाम ?"
हुए दोल-सम लोल-चित्त 'क्या करूँ' इसी द्विविधा में राम ॥

[३५]

निरख न अपर उपाय, मिटाना चाहा तज पत्नी अपमान।
विषयों से क्या, है स्वदेह से भी गुरु यशोधनों को मान ॥

[३६]

मिले क्षीण-रुचि वे अनुजों से, बिलखे जो लख हृदय-विकार,
फिर निकले उनके श्री-मुख से स्वापमान-विषयक उद्गार—

[३७]

"सूर्य-सूत राजर्षि-वंश में देखो कैसा लगा कलंक
सदाचार-शुचि मुझ से, ज्यों दर्पण में लगे वाष्प से पंक !

[३८]

तैल-विन्दु लहरों में ज्यों, त्यों पौरों में प्रसरित यह दाग
सह न सकूँगा, सहै न जैसे आलानिक-स्तंभ को नाग ॥

[३९]

प्रसवोद्यता नारि को भी तज दूँगा करने तत्परिहार,
सिन्धु-नेमि भू जनकाज्ञा से पहिले दी थी यथा विसार ॥

[४०]

मानूँ उसे अनघ मैं, पर लोकापवाद होता बलवान।
शुचि मयंक पर भू-छाया भी ली कलंक जग ने है जान॥

[४१]

किया वैर-शोधन को, मम श्रम निश्चर-बध का गया न व्यर्थ।
क्रुद्ध सर्प पादस्पर्शी को डसता क्या शोणित के अर्थ?

[४२]

चाहो यदि निकाल निन्दा-शर धरता रहूँ प्राण चिरकाल,
तो करुणार्द्र-चित्त हो इस मम निश्चय को दो आप न टाल॥"

[४३]

स्वामी के यह कहते, करते क्रूराग्रह सीता के अर्थ,
खंडन या मंडन-निमित्त अनुजों में कोई था न समर्थ॥

[४४]

आज्ञाकारी लक्ष्मण को ले अलग राम त्रिभुवन-विख्यात,
कहने लगे सत्य-भाषी, "हे सौम्य! सुनो मेरी यह बात—

[४५]

तव दोहदिनी भावज का था ही तपोवनों से अनुराग।
सो तुम इस मिस ले रथ में आओ वाल्मीक्याश्रम में त्याग"॥

[४६]

गुरु-नियोग से माता पर सुन भार्गव का सा घोर प्रहार,
माना ज्येष्ठादेश, बड़ों की आज्ञा में चलता न विचार॥

[४७]

ली सुमंत्र ने रास, गर्भिणी-वहन-योग्य जुड़ गये तुरंग,
अभिमत से संतुष्ट जानकी को ले चले यान में संग॥

[४८]

रम्य प्रदेशों में सीता थी मुदित प्रियंकर प्रिय को मान,
सुरतरु से असिपत्र-विटप वे बने ज्ञान यह उसको था न ॥

[४९]

कहा फड़कते दक्षिण दृग ने, जिसका प्रिय-दर्शन था लुप्त,
भावी संकट विकट, मार्ग में रक्खा जो लक्ष्मण ने गुप्त ॥

[५०]

अशकुन-जनित-दुःख से झट उड़ गया वदन-पंकज का रंग।
चाहा भद्र अन्तरात्मा से अवनिप का अनुजों के संग ॥

[५१]

साध्वी वनिता को वन में तजते लक्ष्मण भ्रातात्ज्ञा मान,
मानों गंगा ने आगे से रोके निज तरंग-कर तान ॥

[५२]

थामे अश्व सूत ने, रेती पर रथ से ली सिया उतार,
सत्य-संध ने संधा-सम की केवट-नौ से गंगा पार ॥

[५३]

वाष्प-रुद्ध था कंठ, वचन लक्ष्मण ने जिस तिस भाँति निकाल,
घन ने ज्यों औत्पातिकाश्म, नृप-शासन दिया सिया पर डाल ॥

[५४]

अपमानानिल-निहत, गिराती भूषण-सुमन, लता सी वाम,
निज-शरीर-संभव-कारिणि-धरणी—ऊपर गिर पड़ी धड़ाम ॥

[५५]

"तजे तुझे सहसा यों क्यों सद्वृत्त सूर्य-वंशज प्राणेश ?"
कर यह संशय, दिया न मानों मातृ मही ने उसे प्रवेश ॥

[६४]

दनुजाक्रान्त तपस्विनियों को त्वत्प्रसाद से दे विश्राम,
मैं कैसे लूं शरण अन्य की आज तुम्हारे रहते राम!

[६५]

बिछुड़ सदा को तुम से इस हत जीवन का रखती न विचार,
विघ्न न यदि बनता त्वदीय—अन्तस्थ-गर्भ-रक्षण का भार॥

[६६]

सो मैं जन संतान, सूर्य पर जमा दृष्टि, साधूँगी योग,
जिससे मिलो तुम्हीं फिर पति, जन्मान्तर मे भी हो न वियोग॥

[६७]

वर्णाश्रम-पालन ही है नरपाल-धर्म श्रीमनु को मान्य।
अतः बहिष्कृत भी मैं हूँ त्वद्-रक्ष्य तपस्विनि ज्यो सामान्य"॥

[६८]

दृग-पथ से जब लुप्त होगये लक्ष्मण कर स्वीकृत संदेश,
तब रोई भीता सीता कुररी-सम पाकर क्लेश विशेष॥

[६९]

नृत्य मयूरों ने, वृक्षों ने सुमन, तजी मृगियों ने घास।
वन ने भी अति रुदन किया हो सिया—दुःख से सदृश-उदास॥

[७०]

कुश-समिधार्थागत कवि उसके पीछे लगे रुदन-अनुसार,
श्लोक-रूप बन गया शोक जिनका निषाद-हत क्रौञ्च निहार॥

[७१]

दृग-रोधक जल पोंछ, रुदन तज, की सीता ने उन्हें प्रणाम,
गर्भ-चिन्ह लख, सुसुताशिष दे, बोले मुनि ये वचन ललाम—

[७२]

"मिथ्या-दोष-दुखित-पति से त्यक्ता जानी करके प्रणिधान।
सीते! तू देशान्तरस्थ जनकालय आई, बिलग न मान॥

[७३]

सत्य-संध अविकत्थन उसने किये त्रिजग के कंकट लोप।
पर त्वदर्थ सहसा अव-रत लख होता मुझे राम पर कोप॥

[७४]

विशद-कीर्ति तव श्वसुर सखा मम, सज्जन-भव-दुख-हर तव तात,
तू पतिव्रता-प्रमुख, दया तुझ पर न करूँ ऐसी क्या बात?

[७५]

मुनि-संसर्ग-शान्त-जन्तुक इस वन में रह होकर भय-मुक्त॥
होगी यहाँ सुसन्तति तव संस्कारादिक विधियों से युक्त॥

[७६]

न्हा तम-हर तमसा में, जिसके तट हैं मुनि-कुटियों से व्याप्त,
तत्पुलिनों पर पूजन कर, होगा तव मन प्रसाद को प्राप्त॥

[७७]

लातीं ऋतु-फल-फूल वनैले तथा बीज पूजादि-निमित्त,
बंहलावेंगों मुनि-कन्या हँस बोल नवल-दुख-मय तव चित्त॥

[७८]

निज-बल-सदृश नीर-कुम्भों से पोषित कर तू, निस्संदेह,
आश्रम-बिरवों को, सीखेगी प्रसव-पूर्व ही पुत्र-स्नेह"

[७९]

दया-मुग्ध उसको दयार्द्र वाल्मीकि ले गये अपने धाम,
जहाँ शान्त मृग संध्या को करते थे वेदि-निकट विश्राम॥

[८०]

सौंपी दुखिया सिया मुनि-तियों को, था जिन्हें तदागम-हर्ष;
पितर-भुक्त शश्यन्त्य-कला को दे ज्यों ओपधियों को दर्श ॥

[८१]

बिछा अजिन पावन भीतर, इंगुदी—तैल का दीपक बाल,
पूजानन्तर सौंपी कुटिया सिया-वास को सायंकाल ॥

[८२]

वहाँ स्नान-शुचि सीता करती रहती सविधि अतिथि-सत्कार,
पति-सन्तति-निमित्त जीती थी, धर वल्कल, कर वन्याहार ॥

[८३]

सोच शक्रजित्-मर्दन ने—होवे प्रभु को अब भी अनुताप—
अग्रज से कह दिया सिया-संदेश, कथित था जो सविलाप ॥

[८४]

सहसा हुए सवाष्प राम हिम-वर्षी—पौष-चन्द्र-अनुसार।
अयश-भीत उनने सीता दी थी घर से, न कि मन से, टार ॥

[८५]

सुधी राम वर्णाश्रम-रक्षण-सजग रोक स्वयमेव स्वशोक,
रजो-मुक्त, मित-भोग, यथावत् लगे पालने सानुज लोक ॥

[८६]

निन्दा से डर कर जिस नृप ने तज दी सती एक ही वाम,
उसके उर पर सुख से बस, श्री रुची सपत्नी-रहित ललाम ॥

[८७]

लंकेश-रिपु ने जानकी तज के न पर वनिता वरी,
की यज्ञ संपादित उसी की मूर्ति को कर सहचरी—

यह कान्त का वृत्तान्त जब वैदेहि-कर्णों में पड़ा,
ज्यों त्यों विचारी ने सहा निज त्याग का दुखड़ा कड़ा ॥

इति महाकवि श्रीकालिदासविरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन
हिन्दीभाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
सीतापरित्यागो नाम चतुर्दशः सर्गः ॥

———

पंचदश सर्ग

[१]

जब से उस अवनीश्वर ने यों अवनि-सुता तज डाली,
तब से भोगी अवनी ही रत्नाकर-रशना-वाली ॥

[२]

अवधेश-शरण में आये वे मुनि यमुना-तट-वाले,
जिनके मख लवणासुर ने विध्वंसित थे कर डाले ॥

[३]

राघव को लख, न उन्होंने उसको स्वतेज से मारा ।
बिन रक्षक शापास्त्रों से तप खप जाता है सारा ॥

[४]

प्रण किया राम ने उन से संकट समस्त हरने को ।
अवनी-तल पर आते है, हरि धर्म-धुरी धरने को ॥

[५]

रघुवर से कहे उन्होंने यों बधोपाय निश्चर के—
"अविजेय लवण शूली है, मारो त्रिशूल ही करके ॥"

[६]

मुनि-रक्षणार्थ रिपुहन से आदेश हो गया हरि का ।
तन्नाम किया सार्थक-सा करने से निग्रह अरि का ॥

[७]

रघुकुल का एक परंतप कोई भी अरि दुर्गम का
कर सकता है व्यावर्तन, जैसे अपवाद नियम का ॥

[८]

अग्रज से आशिष पाकर, दाशरथी रथी सिधारे।
वन कुसुमित सुरभित चलते रिपुहन ने ललित निहारे ॥

[९]

सेना तदर्थ-साधन को पीछे राम ने पठाई,
पठनार्थ-धातु-'इङ्'-संगत 'अधि' सी जो दी दिखलाई ॥

[१०]

वे प्रतापियों में उत्तम पथ यानाग्रग मुनियों से
जानते रुचे यों जाते, ज्यों सूर्य बालखिल्यों से ॥

[११]

पथ-वश वाल्मीक्याश्रम में रह गये एक निशि जाके,
मृग जहाँ शब्द स्यन्दन का सुनते थे कंठ उठा के ॥

[१२]

ऋषि ने पूजे रिपुमर्दन, जिनके तुरंग थे हारे,
उत्कृष्ट पदार्थों से, जो तप-बल से पाये सारे ॥

[१३]

दो कुँवर उसी यामिनि में, गर्भिणी भ्रातृ-रमणी ने
सम्पन्न जने आश्रम में, ज्यों कोश- 'ड धरणी ने ॥

[१४]

सन्तान ज्येष्ठ की सुन के, थे मुदित सुमित्रा-नन्दन।
मुनि से सांजलि कह प्रातः चल दिये सजा निज स्यन्दन ॥

[१५]

वह मधूपघ्न में पहुँचे, झट लवणासुर भी आया,
जो सत्व-निकर को कर-सा लेकर कानन से लाया ॥

[१६]

वह धूमल मज्जा-गंधी, पावक-पिशंग-कच-वाला,
क्रव्याद्गण-संगत दरसा, ज्यों चलित चिता की ज्वाला ॥

[१७]

लक्ष्मणावरज ने रोका अपशूल लवण को जाके।
छिद्र-प्रहारियों को जय मिलती है सम्मुख आके ॥

[१८]

"इस दिवस-उदर मेरे को अत्यल्प भक्ष्य लख करके,
भेजा सुभाग्य से तू है धाता ने मानों डरके ॥"

[१९]

लवणासुर ने यह कहकर, सौमित्रानुज को डाटा।
मुस्ताङ्कुर ज्यों, तरु भारी तद्घात-निमित्त उपाटा ॥

[२०]

पैने शत्रुघ्न-शरां ने आता वह काट गिराया।
राक्षस से क्षिप्त न पादप, तन तक पराग ही आया ॥

[२१]

तरु के विनष्ट होते ही उसने उन पर धर धमकी
पाषाण-शिला भारी, जो थी पृथक् मुष्टिसी यम की ॥

[२२]

ऐन्द्रायुध से रिपुहन ने वह भी झट काट गिराई,
सिकतापन से भी बढ़ जो परमाणुपने तक आई ॥

[२३]

सव्येतर बाहु उठाके, शत्रुघ्न-ओर वह धाया,
गिरि एकतालधर-सा, जो प्रलयानिल ने उकसाया ॥

[२४]

हो भिन्न-वक्ष धरणी पर गिरते नारायण-शर से,
भू कम्पित, यती अकंपित कर दिये गये निश्चर से ॥

[२५]

उस हत क्षपाट के ऊपर खग अंतरिक्ष से बरसे,
पर तदाराति के शिर पर बरसे प्रसून ऊपर से ॥

[२६]

उस भट ने निज को माना, करके संहार लवण का,
सच्चा सोदर बलशाली, हरिजित-जेता लक्ष्मण का ॥

[२७]

उस क्षण कृतार्थ मुनियों से स्वीकृत करते अभिनन्दन,
शौर्योन्नत ह्री-नत शिर से अति रुचे सुमित्रा-नन्दन ॥

[२८]

पौरुष-भूषण, विषयों से निर्मम, आकृति मन-भाई
धरते कुमार ने मथुरा कालिन्दी-कूल बसाई

[२९]

पौरों की सौराज्योन्नत सम्पत्ति-सहित यों भाई—
स्वर्गातिरिक्त-जन लाके मानों वह पुरी बसाई ॥

[३०]

वे लख सकोक यमुना को सौधों से, होते हर्षित,
जो हेम-भक्ति-मय भू की होती वेणी सी दर्शित ॥

[३१]

ऋषि ने भी, जो कि सखा थे दशरथ-विदेह के, हित से
संस्कार मैथिलेयों के, कर दिये रीति समुचित से ॥

[३२]

जिनके सब गर्भोपद्रव कुश-लव से गये निवारे,
वे दो क्रमशः कुश-लव ही कविवर ने अतः पुकारे ॥

[३३]

कुछ कुछ समर्थ होने पर श्रुति साङ्ग उन्हें पढ़वाई।
कवियों की पहिली पद्धति तदनन्तर स्वकृति गवाई ॥

[३४]

अभिराम स्वरों से गाते मा-सम्मुख राम-कथा को,
कुछ कुछ कुमार कम करते तद्विरहोत्पन्न व्यथा को ॥

[३५]

त्रेतानल-सम-तेजस्वी थे अन्य तीन रघु-वंशज।
पतिवत्नी तद्वधुओं ने दो दो सुत जने तदंशज ॥

[३६]

मथुरेश बहुश्रुत को कर, रिपु-जयी सुबाहु कुँवर को
दे विदिशा, ज्येष्ठोत्सुक हो, शत्रुघ्न पधारे घर को ॥

[३७]

कवि-तप न रुके, फिर उनके आश्रम में अतः न आये,
मृग जहाँ गान कुश-लव का सुनते थे ध्यान लगाये ॥

[३८]

संयमी अयोध्या पहुँचे, जहँ तोरणादि थे ताने।
वे लखे लवण-बध-कारण अति गौरव से जनता ने ॥

[३६]

तब सभासदों से सेवित श्रीराम, सभा में जाके,
जानकी-त्याग से, देखे पति असामान्य वसुधा के॥

[४०]

वह प्रणत लवण-बध-कारी राघव ने बहुत बखाने;
सुख कालनेमि-बध से पा जैसे उपेन्द्र मघवा ने॥

[४१]

था कहा आद्य कवि ने-"सुत दूँगा अवसर आने पर,"
तज उनको, अतः खबर सब कहदी पूछे जाने पर॥

[४२]

लघु मृत सुत को गोदी से अवनिप के द्वारे रख के,
तब विप्र नगर का कोई आ रोया बिलख बिलख के-

[४३]

"दशरथ से राम-करों में जब से हे अवनि! गई है,
हो गई हाय! तब से ही तू अधिक विपत्ति-मयी है॥"

[४४]

द्विज-शोक-हेतु को सुनके, सकुचाये राघव त्राता।
इक्ष्वाकु-राष्ट्र को छूने असमय का मरण न पाता॥

[४५]

"दो क्षमा"—दुखी द्विज से ये कहके, दे क्षणिक दिलासा,
ध्याया पुष्पक रघुवर ने, कर यम की भी विजयाशा॥

[४६]

चल दिए शस्त्र-सज्जित हो पुष्पकासीन रघुराई।
आगे उनको नभ-वाणी यह दी उस समय सुनाई

[४७]

"राजन्! भवदीय प्रजा में अपचार कहीं है कोई।
होगे कृतकृत्य, दबा दो, अन्वेषण कर, उसको ही॥"

[४८]

वर्णापचार हरने को जब आप्तोच्चार सुना ये,
जब से अचल-ध्वज-वाले पुष्पक से राघव धाये॥

[४९]

तपता नर एक विलोका ऐक्ष्वाकु वीर ने सम्मुख;
दृग धूम-ताम्र कर तरु से लटका था जो कि अधोमुख॥

[५०]

नृप ने नामान्वय पूछा, धूमप ने दिया समुत्तर—
"शंबुक-नामक स्वर्गार्थी मैं हूँ श्वपाक हे नरवर!"

[५१]

तप-अनधिकार के कारण वह दुःखद जग को जाना।
कर शिरच्छेद्य निर्धारित आयुध रघुवर ने ताना॥

[५२]

तद्वक्त्र, दग्ध थे श्मश्रु सब जिसके ज्योतिष्कण से,
हिम-हत-किंजल्क-कमल-सा तत्काल उड़ाया धड़ से॥

[५३]

सद्गति श्वपाक ने पाई नृप से ही निग्रह पाकर,
पाई न घोर तप से भी, जो किया स्वमार्ग गँवाकर॥

[५४]

पथ-दर्शितात्म, अमित-प्रभ, पावन अगस्त्य मुनिवर से
रघुनाथ मिले, मिलता है ज्यों शरत्काल हिमकर से॥

[५५]

कुम्भज ने, निज निष्क्रय-सम जो पीत सिन्धु से पाया,
वह सुर-ग्राह्य आभूषण श्री रघुवर को पहिनाया ॥

[५६]

मृत द्विज-सुत जिया प्रथम ही, पीछे आये रघुनन्दन,
मैथिली-कंठ से वंचित निज भुज में धर वह मंडन ॥

[५७]

लौटाली पहिली निन्दा भूसुर ने पाकर नन्दन;
की स्तुति उस त्राता की जो, दरता यम का भी बन्धन ॥

[५८]

यज्ञार्थ मुक्त-हय उन पर कपि-दनुज-नरेश-निकर से
बरसे उपहार, घनों से ज्यों सलिल सस्य पर बरसे ॥

[५९]

भौम ही नहीं, ज्योतिर्मय आवासों को बिसरा के,
आये महर्षि लोकों के अवधेश-निमन्त्रण पाके ॥

[६०]

उपशल्य-स्थित ऋषियों से थी चतुर्द्वार-मुख-वाली
साकेत यथा अज-काया, जिसने झट सृष्टि बनाली ॥

[६१]

उस एक-नारि का सीता तजना भी श्लाघ्य कहाया,
थी जिसकी मख-शाला में वह ही हिरण्मयी जाया ॥

[६२]

शास्त्राधिक तैयारी से मख हुआ राम का जारी,
विधि-विघ्न-रूप राक्षस ही करते जिसकी रखवारी ॥

[६३]

तब ही सीता-सुत कुश-लव गुरु-मत से, करके गायन,
फिर इतस्ततः, पढ़ते थे वाल्मीकि-रचित रामायण ॥

[६४]

वाल्मीकि-काव्य ! राघव का वर्णन ! कुश-लव से गायक
किन्नर-कंठी ! न वहाँ था क्या श्रोता-श्रुति-सुख-दायक ?

[६५]

तद्-ज्ञाताओं से अर्पित शिशु-रूप, गीत-मधुराई
लखके, सुनके, विस्मय में डूबे सानुज रघुराई ॥

[६६]

एकाग्र, अश्रु-मुख परिषद् सुनकर तद्गान, बनी यों,
निर्वात प्रभात-समय में हिम-निष्यन्दिनी बनी ज्यों ॥

[६७]

दोनों की, रघुनन्दन की समता वय-वेष-विलक्षण,
अनिमेषित नयनों से सब लग गये देखने तत्क्षण ॥

[६८]

उन कुँवरों के कौशल से थे लोग न विस्मित उतने,
नरपति की रति करने में निस्पृहता से थे जितने ॥

[६९]

"यह किस कवि की रचना है? किसने यह गीत बनाये ?"
पूछे जब स्वयं नृपति ने, तब ऋषि वाल्मीकि बताये ॥

[७०]

तब सानुज श्रीराघव ने वाल्मीकि-निकट जा करके,
कर दिया निवेदित उनको निज राज्य, देह दे करके ॥

[७१]

उस समय मैथिलेयों को कह के उनके ही नन्दन,
सीता-स्वीकृति-हित याचे सकरुण कवि ने रघुनन्दन ॥

[७२]

"तव स्नुषा तात ! पावक में मम सम्मुख शुद्ध वहाँ की ।
पर दनुज-शाठ्य-वश जनता करती न प्रतीति यहाँ की ॥

[७३]

स्वचरित्र-विषय में सीता करदे विश्वास प्रजा में,
सुतवती उसे ओटूँगा तत्क्षण तव आज्ञा पा मैं ॥"

[७४]

नृप के यह प्रण करने पर बुलवाली निज शिष्यों से
मुनि ने आश्रम से सीता जैसे कि सिद्धि नियमों से ॥

[७५]

दूसरे दिवस राघव ने पौरों को कर एकत्रित,
प्रस्तुत निर्णय करने को वाल्मीकि किये आमंत्रित ॥

[७६]

सुतवती जानकी को ले मुनि मिले राम से ऐसे,
मिलते स्वरवती ऋचा से रवि तेज-धाम से जैसे ॥

[७७]

थे नयन नियत चरणों में; काषायाच्छादित देही
थी शान्त, पुनीता सीता अनुमित होती जिनसे ही ॥

[७८]

प्रतिसंहृत निज नयनों को करके सीता-सम्मुख से,
नर फलित-शालि-सम सारे संस्थित थे अवनत मुख से ॥

[७६]

आसनासीन मुनि बोले "बेटी! समक्ष निज पति के,
मेटो स्वचरित्र-विषय में संशय समस्त वसुमति के॥"

[८०]

ऋषि-शिष्य-दत्त शुचि पय से मैथिली आचमन करके,
इस सत्य गिरा को बोली सम्मुख सब पौर-निकर के—

[८१]

"यदि बना न अघ पति के प्रति मन-वचन-कर्म से मुझ से,
तो स्वगर्भ में हे धरणी! धरली जाऊँ मैं तुझ से॥"

[८२]

विद्युत्सम ज्योतिर्मण्डल तत्काल-भिन्न धरती से,
प्रस्फुटित हुआ, ज्यों निकले ये वचनोद्गार सती से॥

[८३]

उस द्युति में फणी-फण-स्थित सिंहासन पर जम करके,
प्रकटी प्रत्यक्ष धरित्री, रत्नाकर-रशना धरके॥

[८४]

पति-दत्तेक्षणा सिया को उर पर धरके वह धाई
भूतल को, "मत हर! मत हर!!" कहते छोड़े रघुराई॥

[८५]

सीता-प्रत्यर्पण-कामी रघुवर को भू पर आया
जो क्रोध, दैव-बल-दर्शी गुरु ने वह तुरत दबाया॥

[८६]

सादर ऋषियों मित्रों की मख के पश्चात् विदा की।
तत्संतति में रघुपति ने रति रख दी निज प्रमदा की॥
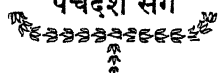
[८७]

संदेश युधाजित के से सब सिन्धु देश, तदन्तर,
कर दिया भरत के अर्पित नृपवर ने, विभव वितर कर ॥

[८८]

जब से उस जगह् भरत ने गंधर्वों पर जय पाई,
तब से, तज शस्त्र, उन्होंने बस वीणा ही अपनाई ॥

[८९]

सुत तक्ष तथा पुष्कल थे अभिषेक-योग्य, जिनका कर
अभिषेक तदाख्य पुरों में, वे फिरे जहाँ थे रघुवर ॥

[९०]

निज चन्द्रकेतु, अंगद दो पुत्रों को भूप बना के
कारापथ के, लक्ष्मण भी आये रामाज्ञा पाके ॥

[९१]

इस भाँति हुए आरोपित नन्दन उन त्राताओं के।
श्राद्धादि कर दिये क्रमशः स्वर्याता माताओं के ॥

[९२]

मुनि-वेष काल ने आ तब राघव से वचन उचारे—
"त्यागो उसको, मिथ-भाषी हम दो को जो कि निहारे ॥"

[९३]

विवृतात्मा यम यों बोला कर दिया राम ने जब प्रण—
"परमेष्ठी-शासन से अब सुर-पुर को करो पदार्पण।"

[९४]

दें शाप न दुर्वासा, जो थे राम-दर्शनार्थागत—
द्वार-स्थ विज्ञ लक्ष्मण से संवाद हुआ वह व्याहत ॥

[९५]

उस योगी ने सरयू-तट जाकर, तन तजकर तत्क्षण,
कर दिया सर्वथा सच्चा निज ज्येष्ठ भ्रातृवर का प्रण ॥

[९६]

निज चतुर्थांश लक्ष्मण के पहिले जाने पर ऊपर,
राघव, ज्यों धर्म त्रिपादी, पड़ गये पस्त से भू पर,

[९७]

वे रिपु-नागाङ्कुश कुश को स्थापित कर कुशावती में,
सूक्तों से अश्रु-लव-प्रद लव को कर शरावती में,

[९८]

अविचल-मति, अनल-पुरःसर सानुज सरयू पर आये,
साकेत-निवासी सारे पति-रति-वश पीछे धाये ॥

[९९]

अनुसृत था पथ तन्मन के ज्ञाता कपि-दनुज-निकर से,
जिस पर कदंब-मुकुलों-से गुरु अश्रु प्रजा के बरसे ॥

[१००]

आया विमान-वर लेने भक्तानुरक्त रघुवर को,
सरयू की स्वर्ग-नसेनी अनुगामी पौर-निकर को ॥

[१०१]

संमर्द गोप्रतर-सम था स्नानार्थों का सरयू पर।
वह तीर्थ इसी संज्ञा से विख्यात हो गया भू पर ॥

[१०२]

उस विभु ने विबुधांशों को निज पद के पा जाने पर ॥
नव स्वर्ग रचा, पौरों को सुरता तक आजाने पर ॥

[१०३]

दक्षिण तथा उत्तर दिशा के कर नियुक्त पहाड़ पर,
लंकेश—मारुति को—स्वयश के स्तंभ से दो गाढ़ कर,
कर के सुर-व्यापार सब दशवक्त्र के संहार का,
हरि हुए लीन स्वरूप में, आश्रय जहाँ संसार का ॥

इति महाकवि श्रीकालिदासविरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन
हिन्दीभाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
श्रीरामस्वर्गारोहणो नाम पंचदशः सर्गः ॥

षोडश सर्ग

[१]

तब वय-गुण में ज्येष्ठ कर दिया कुश विशेष रत्नों का पात्र
अपर सप्त राघव वीरों ने, था कुलानुगत तत्सौभ्रात्र ॥

[२]

कृषि-गजबन्ध-पुलादि सफल कर्मों से थे यद्यपि श्रीमान्,
पर ज्यों तट न समुद्र, लाँघते वे अन्योन्य-देश-सीमा न ॥

[३]

चतुर्भुजांशोत्पन्न दान-रुचि-रत उनके कुल का विस्तार
हुआ अष्टधा, साम-यानि दिग्-द्विरदों के कुल के अनुसार ॥

[४]

थिर थे दीप, सुप्त थे जन, था शान्त शयन-घर आधी रात,
कुश ने जग देखी प्रोषितपतिकाकृति युवति एक अज्ञात ॥

[५]

इन्द्र-तेजसी, साधु-सदृश राज्यश्री-धर, रिपु-जयी महीप
कुश का कर जयकार, नारि सांजलि समुपस्थित हुई समीप ॥

[६]

दर्पण में छाया सम जिसका सार्गल गृह में हुआ प्रवेश,
तज शय्या पूर्वार्ध देह से, बोले उससे चकित नरेश—

[७]

"आई तू सावरण गेह में, लसै न तुझ में यौगिक सार।
धरती है दुःखिताकार, जैसे मृणालिनी हैम विकार ॥

[८]

शुभे ! कौन है ? किसकी स्त्री है ? क्यों मेरे आ गई समीप ?
बता समझ पर-नारि-विमुख-मन होते हैं रघुवंश्य महीप" ॥

[९]

बोली वह—"जिस पुर के पौरों को ले निज पद को रघुनाथ
चले गये, जानो नृप ! मुझको उसकी अधिदेवता अनाथ ॥

[१०]

जो सुराज्य-सोत्सव वैभव से इन्द्र-पुरी का हरती मान,
वह मैं हुई दीन रहते तुझ-सा रघुवंश्य महीप महान ॥

[११]

टूट गये हैं शतों अट्ट, प्रभु विना गिरा प्राकार समस्त।
पुर दिनान्त-सम है, जब होते सूर्य अस्त घन वात-व्यस्त ॥

[१२]

अभिसारिका-सुनूपुर करते जहाँ रात्रि में थे झनकार,
वहाँ माँस लखते फिरते हैं सरव-मुखोल्का से अब स्यार ॥

[१३]

युवति-कराहत जो करता था ध्वनि मृदंग की सी गंभीर,
वन्य-महिष-शृङ्गाहत रोता आज वापियों का वह नीर ॥

[१४]

यष्टि-भंग-वश बसे द्रुमों में, नाचें सुन न मुरज की घोर;
दावानल से तचे बचे पर, बन-चर बने पालतू मोर ॥

[१५]

मेरे जिन सोपान-पथों पर पड़ते थे प्रमदा-पद लाल,
हन हरिणों को, सरुधिर पद धरते हैं वहाँ व्याघ्र विकराल ॥

[१६]

पद्म-वनागत चित्रित गज, पाते करिणी से सरसिज-खंड,
सहें क्रुद्ध-हरि-मार, भिन्न हैं नखांकुशाघातों से गंड ॥

[१७]

प्रमदा-प्रतिमा-स्तंभ होगये धूसर, भंग हुआ है रंग।
नाग-मुक्त-निर्मोक-पटल तत्पट हैं सटे कुचों के संग ॥

[१८]

हर्म्यों पर, जो पड़े श्याम, है इतस्ततः उग आई घास,
मुक्ता-गुण-सम कान्त चन्द्र-कर भी जिन पर करते न प्रकाश ॥

[१६]

लचा डाल ललनाएँ जिनके दया-सहित लुनती थीं फूल,
अब उन उपवन-बल्लरियों को वानर-बननर देते शूल ॥

[२०]

उठै खिड़कियों से न धूम, मकड़ों ने जाल दिये हैं तान;
दीप-तेज यामिनि में, कामिनि-मुख जिनमें दिन में दिखता न ॥

[२१]

पुलिनों पर पूजा न, स्नान-रागादि-रहित है सरयू-नीर।
शून्य तीर पर निरख आज वानीर-कुञ्ज होती है पीर ॥

[२२]

तो मुझ वंश-राजधानी में तज यह पुरी पधारें आप;
हेतु-मनुज-तनु तज, स्वमूर्ति में जैसे मिले आपके बाप" ॥

[२३]

'अच्छा' कह रघुकुल-प्रमुख ने ली सहर्ष तद्विनती मान।
हुई मुदित-वदना नगरी भी देह-बन्ध से अन्तर्धान ॥

[२४]

अद्भुत रजनी-वृत्त सभा में कहा द्विजों से प्रातः आन।
सुन नृप को प्रत्यक्ष कुल-पुरी-वृत पति, किया उन्होंने मान॥

[२५]

सौंप श्रोत्रियों को कुशावती, सावरोध, यात्रोचित काल,
चले अवध नृप; चली सैन्य पीछे, समीर के ज्यों घन-जाल॥

[२६]

गज विहार-गिरि, केतु-माल उपवन, थे रथ जिसके आगार,
वह कुश-सैन्य प्रयाण-समय थी सचल-राजधानी-अनुसार॥

[२७]

छत्र-विमल-मंडल-धर नृप से पाकर अवध-ओर प्रस्थान,
वह दल रुचा उदित शशि से तट-ओर-प्रचालित-सिन्धु-समान॥

[२८]

सही मही से नहीं गई चलते उस कुश के दल की पीर;
अतः धूलि-मिस धाई मानों अन्तरिक्ष की ओर अधीर॥

[२९]

पीछे गमनोद्यत, आगे रुकती, या करती पथ-संचार;
दीखी जहाँ सैन्य उस नृप की, लगी वहीं वह पूर्णाकार॥

[३०]

कुश-करियों के मद-जल से, हय-खुराघात से पथ के बीच,
कीच रेणु हो जाती, हो जाती थी तथा रेणु भी कीच॥

[३१]

विन्ध्य-घाटियों मध्य हेरती गैल, फैल सैना चहुँ ओर,
रेवा-सम गुरु रव कर, भरती थी विवरों में गूँज कठोर॥

[३२]

तूर्य गमन-रव-मय थे, थे रथ-चक्र धातु से रक्ताकार।
विन्ध्य पार पहुँचा निहारता नृपति पुलिन्दार्पितोपहार॥

[३३]

विन्ध्य-तीर्थ में नाग-सेतु से पश्चिमगा गंगा को पार
करते उसको बने बिना श्रम चँवर हंस नभ में पर मार॥

[३४]

जिसने कपिल-कोप से भस्मित-तन तत्पूर्वों को सुर-धाम
दिया, किया कुश ने उस नौ-मर्दित गंगोदक-हेतु प्रणाम॥

[३५]

यों कर पंथ समाप्त कुछ दिनों में सरयू-तट आये भूप,
लखे जहाँ वेदिस्थ शतों याज्ञिक-रघुकुल-भूपों के यूप॥

[३६]

कुसुम-द्रुम-डालियाँ हिलाकर, छूकर शीतल सरयू-नीर,
लेने चला क्लान्त-दल उस नृप को साकेतोद्यान-समीर॥

[३७]

सबल, कुल-ध्वज, पौर-प्रिय, अरि-मर्दन उस नृप ने उस काल,
जा रोका नगरोपशल्य में चलित-ध्वज निज व्यूह विशाल॥

[३८]

नृप-नियुक्त हो शिल्पि-संघ ने, जुटा साज, वह नगरी हीन,
मेघों ने ज्यों ताप-तप्त भू जल से, करदी तुरत नवीन॥

[३९]

पूर्ण उपोषित वास्तु-विधानाज्ञों-द्वारा पूजादिक कार
करवाये देवालय-मय पुर के कुश ने दे पशूपहार॥

[४०]

कान्ता-मन में कामी-सम, कर राज-भवन में स्वयं प्रवेश,
दिये यथोचित यथारूप अन्यानुजीवियों को सुनिवेश ॥

[४१]

घुड़सालों में हय, गजशाला-स्तंभ-नद्ध थे नाग महान;
थे सपण्य आपण; नगरी थी पूर्ण-सज्जिता-नारि-समान ॥

[४२]

पूर्व-कान्ति-धर उस पुर में उस मैथिलेय ने करके वास,
न तो सुरेश्वर और न अलकेश्वर-निमित्त भी की अभिलाष ॥

[४३]

मणि-मय चादर, श्वास-हार्य-पट, अति-पाण्डु-स्तन-लंबी माल—
मानो यह तत्प्रिया-वेष करने आगया धर्म उस काल ॥

[४४]

लगा दमकने जब कि सामने दक्षिण से हो सूर्य निवृत्त,
सुख-शीताश्रु-सदृश हिम-वर्षण में उत्तर दिक् हुई प्रवृत्त ॥

[४५]

हुई क्षपा अति क्षीण तथा होगया दिवस का ताप महान ।
उभय बन गये कलहान्तरित अशान्त कामिनी-कान्त-समान ॥

[४६]

दिन दिन तजता सोपानों को, जिनमें नीचे लगी सिवार,
फुल्ल-कमल-मय गृह-वापी-पय था नारी-नितंब-अनुसार ॥

[४७]

वन में प्रति विकास-सुरभित मल्लिका-कोष में निज पद डाल,
मानों करते थे सशब्द अलि-गण तद्गणना सायंकाल ॥

[४८]

स्वेद-सहित नव-नख-क्षताङ्कित कट पर सटा शिखा अत्यन्त,
श्रुति-तट से हटकर भी गिरता था न सरस का सुमन तुरन्त ॥

[४६]

धारागारों में, फुआर यंत्रों की जहाँ रही थीं व्याप,
चन्दन-जल-निर्धौत शिलों पर सोकर धनिक मिटाते ताप ॥

[५०]

स्नान-सिक्त बिखरे केशों में बसा धूप, मल्लिका सुवास
गुथतीं सायं, जिनसे पाता वसन्तान्त-निर्बल बल काम ॥

[५१]

रज-रंजित होने से सब पिंजर अर्जुन-मंजरी उदार
थी हर-रोष-दग्ध-तन स्मर की खंडित मौर्वी के अनुसार ॥

[५२]

जुटा सुगंधित आम्र-मंजरी, मधु पुराण, नव पाटल फूल,
आतप ने कर दिये कामियों के तापादि शूल निर्मूल ॥

[५३]

थे उस कठिन निदाघ-काल में सब को ये दो कान्त विशेष—
पद-सेवा से सकल ताप-हर उदित नरेश तथा राकेश ॥

[५४]

ग्रीष्म-सुखद तट-लता-सुमन-धर सरयू-जल में, जहाँ मराल
थे लहरों में लोल, हुए रमणियों-संग रमणेच्छु नृपाल ॥

[५५]

नक्र निकाले जालिक-गण ने, तट पर ताने गये वितान ।
विष्णु-तेज नृप ने विहार-हित श्री-यश-सदृश किया प्रस्थान ॥

[५६]

करतीं मिथःवलय-घर्षण, चरणों से नूपुर-रणित रसाल,
तट-सोपानागत वनिताओं से व्याकुल हो गये मराल॥

[५७]

परस्पराभ्युक्षण-रत ललनाओं का लख जल-केलि-विलास,
नौ-स्थित नृप ने कहा किराती से, जो चँवर ढारती पास—

[५८]

"धुला शतों मम प्रमदाओं का अंगराग कर वारि-विहार,
जिससे बहु वर्णों को धरतो देख साभ्र-संध्या-सी धार॥

[५९]

नौ-मर्दित जल ने जो अंजन किया अंगनाओं का लोप,
फेर दिया है वह नयनों में भर मद-जनित लालिमा-ओप॥

[६०]

कुच-नितंब-गुरुता-वश वनिताएँ निज को सकतीं न सम्हाल,
पर मद-वश सक्लेश तैरतीं साङ्गद बाँहों से इस काल॥

[६१]

जल-रमणी-रमणी-श्रुतिभूषण में चंचल शिरीष के फूल,
नदी-स्रोत में गिर, शैवल-लोलुप मीनों में भरते भूल॥

[६२]

बिखरे गले हार भी इनके, वारि रही हैं जो कि उलीच,
दीख न पाते कुंचोत्पतित मुक्ता-सम ललित शीकरों बीच॥

[६३]

भ्रू लहरों सी, कुच कोकों सी, नाभि-छटा है भँवर-समान।
रूपाङ्गादिक उपमेयों को मिले पास ही हैं उपमान॥

[६४]

व्यापा है कर्णों में इनका जल-मृदंग-रव रम्य सगान,
जिसे मोर सुनते, तट पर कर कलित केक, पंखों को तान ॥

[६५]

नारि-नितंब-सक्त वस्त्रों में, शशि-आवृत-उडु-सम अभिराम,
बनी मौन रशनादि, क्योंकि हैं भरे नीर से रंध्र तमाम ॥

[६६]

सखियों पर, सखियाँ इन पर कर होड़ डालतीं कर से वारि,
गिरा रही हैं ऋजु केशाग्रों से चूर्णारुण कण ये नारि ॥

[६७]

मिटी पत्र-रचना, खिसले मणि-मय ताटंक, खुले हैं केश,
पर मनोज्ञ है इन प्रमदाओं का जल-केलि-विकृत मुख-वेष" ॥

[६८]

लोल-हार नृप उतर नाव से जल में रमा रमणियों संग,
उद्धृत नलिनी डाल अंस पर वन-गज यथा करिणियों संग ॥

[६९]

द्युति-मय नृप के संग लगा अति ललित सकल ललना-संघात !
मुक्ता रुचिर पूर्व ही है, पा भास्वर इन्द्रनील क्या बात !

[७०]

आयताक्षियों ने काञ्चन शृङ्गों से डाला रति में रंग,
जिससे रुचा भूप, भूधर ज्यों रक्त-धातु-धारा के संग ॥

[७१]

सरयू में रमते उससे अन्तःपुराङ्गनाओं के साथ,
अनुकृत हुआ अप्सरावृत नभ-सुरसरि-रमणशील सुर-नाथ

[७२]

पा कुम्भज से दिया राम ने था जो कुश को राज्य-समेत,
जैत्राभरण विहारी का वह जल में डूबा, हुआ न चेत ॥

[७३]

स्नान यथा-रुचि कर वितान में ज्योंही गया सदार नरेश,
पट भी पहिन न सका कि देखा दिव्यांगद-विहीन भुज-देश ॥

[७४]

था न लोभ, गिनता प्रसून-सम भूषण को वह, पर जय-दान
देता था, गुरु से प्रयुक्त था पूर्व-अतः तत्पतन सहा न ॥

[७५]

तब सब कुशल जालिकों को आज्ञा दी वलय-खोज के अर्थ।
मुदितानन वे बोले नृप से सरयू में रम, श्रम कर व्यर्थ—

[७६]

"नृप! श्रम किया, न किन्तु मिला, तव भूषण श्रेष्ठ लुका जल बीच,
कुमुद नाग सलिलान्तर-वासी लोलुप उसे ले गया खींच ॥

[७७]

धीर धनुर्धर ने संधाना धनु, दृग हुए क्रोध से लाल,
तट पर जा, भुजङ्ग-बध को झट खींच लिया गरुडास्त्र कराल ॥

[७८]

शर तनते ही हुआ क्षुब्ध ह्रद देरता तट तरंग-कर तान;
जालिक-गर्त-पतित-वन-गज-सम-गर्जन करने लगा महान ॥

[७९]

नक्र-हीन ह्रद से, कन्या आगे कर, सहसा उठा भुजंग;
मथ्यमान नीरधि से निकला सुर-तरु यथा रमा के संग ॥

[८०]

नृप ने, प्रत्यर्पण हित कर में भूषण लाते उसे निहार,
रोक लिया गरुडास्त्र, न करते क्रोध प्रणत पर सन्त उदार ॥

[८१]

रिपु-अंकुश मूर्धाभिषिक्त कुश से, जिसके गुरु थे भगवान्,
मानोन्नत शिर को भी नत कर, बोला कुमुद अस्त्र-विद्वान्—

[८२]

"जानूँ—हो कार्यार्थ—मनुज हरि का पुत्राख्य दूसरा अङ्ग।
सो मैं पूज्य आपकी रुचि को क्योंकर कर सकता हूँ भङ्ग?

[८३]

इस कन्या ने कर से फेंकी गेंद कि, नभ से ज्यों नक्षत्र,
गिरा जैत्र तव भूषण ह्रद से, लपक लिया इसने जो तत्र ॥

[८४]

तो अब यह आजानु-विलंबित, ज्या-घर्षण-लांछित, हे देव!
तव भूम्यार्गल-सदृश भुजा से शुभ संयोग करे पुनरेव ॥

[८५]

करो भूप! इस कुमुद्वती नामक ममानुजा को स्वीकार।
तव पद भज कर सदा करेगी स्वापराध का यह परिहार ॥

[८६]

"हैं आप श्लाघ्य स्वजन"—वचन यह बोलते नृप को दिया
आभरण उसका सौंप, संभाषण तथा ऐसा किया।
सब विधि-समेत भुजङ्ग-वर ने संग में बांधव लिये,
नृप और कन्या वंश-भूषण-रूप संयोजित किये ॥

[८७]

साहचर्य-हित नृप ने जब थामे बाला के
ऊर्ण-वलय-मय कर समीप जलती ज्वाला के,
दिव्य तूर्य बज उठे, दिगन्तों में जो छाये;
मेघों ने फिर सुरभि-सुमन अद्भुत बरसाये ॥

[८८]

यों त्रिभुवनपति-सुत को स्वजन किया अहि उस ने,
पंचम-तक्षक-तनुज उसे ऐसे ही कुश ने,
रहा एक को गुरु-बध-शत्रु गरुड का त्रास न;
किया प्रजा-प्रिय अहि-निर्भय पर ने जग-शासन ॥

इति महाकवि श्रीकालिदासविरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन
हिन्दी भाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
कुमुद्वतीपरिणयो नाम षोडशः सर्गः ।

सप्तदश सर्ग

[१]

मिला कुश से अतिथि-नाम कुमुद्वती को लाल,
अन्त्य यामिनि-याम से ज्यों बुद्धि को बल-जाल ॥

[२]

जनक-जननी-वंश, पाकर अनुपम-द्युति पूत,
सूर्य से ज्यों दक्षिणोत्तर, हो गये अति पूत ॥

[३]

अर्थ-विद् ने प्रथम कुल-विद्या-सदर्थ समस्त,
फिर कराये ग्रहण उसको राज-कन्या-हस्त ॥

[४]

समझता था वशी शूर कुलीन-वर वह भूप
वशी शूर कुलीन सुत से आप को बहु-रूप ॥

[५]

हना रण में, इन्द्र को देकर कुलोचित साथ,
दैत्य दुर्जय, तथा स्वयमपि मरा उसके हाथ ॥

[६]

कुमद-भगिनी-कुमुद्वत्यनुगत हुआ अवनीश;
कौमुदी से ज्यों कि कुमुदानन्द हो रजनीश ॥

[७]

एक ने पाया वृषा-पीठार्थ का अधिकार;
बन शची-संगिनि अपर ने अंश से मंदार ॥

[८]

युद्ध-गामी नाथ के अन्तिम - कथन-अनुसार,
वृद्ध सचिवों ने किया राज्यस्थ भूप-कुमार ॥

[६]

शिल्पियों से उच्च-वेदिक चतुः - स्तंभ-समेत,
अति ललित मंडप रचाया नृप-तिलक के हेत ॥

[१०]

कनक-घट-गत तीर्थ-जल ले, सचिव सेवा-लीन
हुए नृप-हित, जो वहाँ था भद्र-पीठासीन ॥

[११]

बजे बाजे कर मधुर गंभीर धौंसा-घात,
हुआ जिनसे भूप-भद्र परंपरागत ज्ञात ॥

[१२]

ज्ञाति-गुरुओं ने नृपति की आरती उस काल,
की, जुटा दूर्वा, यवाङ्कुर, नवल दल, बट-छाल ॥

[१३]

द्विज-पुरोहित-आदि जैत्र अथर्व-मंत्र उचार,
जिष्णु को अभिषिक्त करने लगे प्रथम पधार ॥

[१४]

अतिथि-शिर पर सरव गिरती प्रबल शुचि जल-धार
रुची शिव-शिर पर पतित शुचि सुरसरी-अनुसार ॥

[१५]

वन्दियों ने उस समय उसका किया यश-गान।
लगा सारंगाभिनन्दित - घन-सदृश बलवान ॥

[१६]

भूप, करता हुआ मंत्र-पवित्र जल से स्नान,
वृष्टि से वैद्युत-अनल-सम रुचा अति द्युतिवान ॥

[१७]

धन यथेच्छित, मख-अवधि तक दक्षिणा पर्याप्त
स्नातकों को दी, हुआ अभिषेक जब कि समाप्त ॥

[१८]

दी उन्होंने मुदित हो आशिष नृपति के अर्थ,
जो कि तत्कर्मज फलों ने अन्त में की व्यर्थ ॥

[१९]

मुक्त बध्य, अबध्य बध्य, स्वतन्त्र पशु-समुदाय
मार से उसने किया, कीं दोह-मुक्ता गाय ॥

[२०]

पालतू भी भूप के खग पींजरों में बन्द,
तत्कथन से मुक्ति पाकर हो गये स्वच्छन्द ॥

[२१]

कक्ष में शुचि सावरण गजदन्त - पीठ विशाल
जमा, जिस पर जा विराजा साज - हित नरपाल ॥

[२२]

धूप से नृप-कच सुखाकर, स्वकर जल से माँज,
साजकों ने अवनिपति को सब सजाये साज ॥

[२३]

बाँध मुक्ता-हार ऊपर, माल्य नीचे डाल,
जड़ा उसके मुकुट में द्युति - वलय - शोभी लाल ॥

[२४]

किया कस्तूरी - सुरभि श्रीखंड - लेप समाप्त,
पत्र - रचना की पुनः गोरोचना से व्याप्त ॥

[२५]

पहिन भूषण, हंस - चिन्ह दुकूल, हार ललाम,
लगा राज्य-श्री-वधू-वर अवनिपति अभिराम ॥

[२६]

उदित रवि में मेरुगत मन्दार के अनुरूप,
स्वर्ण-दर्पण में पड़ी छाया लखा जब रूप ॥

[२७]

सुर-सभा-सम निज सभा में गया नृप उस बार।
पार्श्वगों ने किया धर छत्रादि जय-जयकार ॥

[२८]

चढ़ गया सवितान पैतृक पीठ पर नरपाल,
रगड़तीं पद-पट्ट जिसका नृप-मुकुट-मणि-माल ॥

[२९]

हुआ मंगल-भवन शोभित नृपति से उस काल,
विष्णु-उर श्रीवत्स-लांछित यथा कौस्तुभ डाल ॥

[३०]

कुंवरपन से या नृपतिपन रुचा वह अवनीश,
यथा रेखा-भाव से पा पूर्णता रजनीश ॥

[३१]

मुदित-मुख वह, बात करता प्रथम कर कुछ हास,
लगा निज अनुजीवियों को मूर्ति-धर विश्वास ॥

(३२]

विचर सुर-करि-सम विशद करि पर किया पुर स्वर्ग
इन्द्र-सम उसने, हुआ सुर-तरु-सदृश ध्वज-वर्ग ॥

[३३]

अतिथि- शिर पर ही तना था छत्र निर्मल कान्त,
पर हुआ कुश-विरह-ताप समस्त जग का शान्त ॥

[३४]

उदय, फिर रवि-कर; प्रथम है धूम, पीछे ज्वाल
अग्नि की; तद्वृत्ति तज गुण-सँग उठा नरपाल ॥

[३५]

देखती थीं मुदित नयनों से उसे पुर-वाम,
यथा ध्रुव को तारकों से शरद-रात्रि ललाम ॥

[३६]

विशद-भवनार्चित नगर-सुर मूर्तियों में वास
कर, जताते हित हितोचित नृपति के आ पास ॥

[३७]

वेदिका का सूख भी पाया न अभिषेकाप;
भूप का वेलान्त तक फैला प्रचंड प्रताप ॥

[३८]

विमल मंत्र वसिष्ठ गुरु के, भूप-बाण महान—
उभय मिल क्या कार्य कर सकते न थे आसान ?

[३९]

वादियों प्रतिवादियों के संशयस्थ विवाद
आप गुनता न्यायकों के संग, तज उन्माद ॥

[४०]

मुदित मुख से व्यक्त थे जो इष्ट फल निर्णीत,
भूप भृत्यों को सुनाता उन्हें हो कर प्रीत ॥

[४१]

नदी नभ ने ज्यों, प्रजा की तज्जनक ने वृद्ध ।
हुई किन्तु नभस्य-सम उससे अतीव समृद्ध ॥

[४२]

जो कहा वह था न मिथ्या; दिया दान लिया न;
पर जमा उद्धृत परों को दिया व्रत को भान ॥

[४३]

रूप-धन-वय में अलं है एक गर्व-निमित्त ।
किन्तु इन सब-सहित भी गर्वित न था नृप-चित्त ॥

[४४]

प्रति दिवस इस भाँति भरता वह प्रजा में हर्ष,
नव्य भी दृढ़-मूल-तरु-सम हो गया दुर्द्धर्ष ॥

[४५]

भूप ने जीते प्रथम आन्तरिक षड्-रिपु नित्य,
क्योंकि होते वाह्य रिपु दूरस्थ और अनित्य ॥

[४६]

सहज-चंचल चंचला भी उस मुदित-मुख धीर
नृपति में थीं थिर, निकष में ज्यो सुवर्ण-लकीर ॥

[४७]

भीरुता है नीति केवल, पशुपना शूरत्व;
सिद्धि पाता था अतः वह जोड़ दोनों तत्व ॥

[४८]

हुईं उसकी प्रणिधि-किरणें राज्य-मध्य प्रविष्ट,
अतः निर्घन-सूर्य-सम कुछ था उसे न अदृष्ट ॥

[४६]

नृपों के दिन-रात्रि-भागों के नियत व्यापार
भूप करता था सनिश्चय, सकल संशय टार ॥

[५०]

मंत्रियों के संग करता था सदैव विचार,
जो विचारित भी न होता प्रकट गुप्त-द्वार ॥

[५१]

स्व-पर-जन का नृपति, सोता भी समय पर शान्त,
मिथः अविदित चर-निकर से जानता वृत्तान्त ॥

[५२]

अरि-जयी भी भूप के थे अगम दुर्ग समस्त ।
सिंह गज-मर्दन न सोता है दरी में त्रस्त ॥

[५३]

नित-निरीक्षित भद्रकर निर्विघ्न उसके कर्म
पाक पाते गुप्त थे, धर धान-जैसा धर्म ॥

[५४]

कुपथ-गत वह था न पाकर भी महान विकास ।
सरित-मुख से ही करै संवृद्ध सिन्धु निकास ॥

[५५]

भूप यद्यपि था प्रकृति-वैराग्य-शमन-समर्थ,
पर न जनता वह उचित थी रोक जिसके अर्थ ॥

[६४]

बाग से बन, वेश्म से गिरि, दीर्घिका-अनुसार
बनी नदियाँ, निडर नर करते जहाँ संचार ॥

[६५]

विघ्न-गण से तप, रखाते तस्करों से स्वर्ण,
उसे निज निज सौंपते षष्ठांश आश्रम-वर्ण ॥

[६६]

भू उसे, जन रत्न खानों से, बनों से नाग,
अन्न क्षेत्रों से, स्व-रक्षण-सदृश देती भाग ॥

[६७]

षड्-गुणों का षड्-बलों का शूर ज्योंकि कुमार,
जानता था साध्य-वस्तु-निमित्त सद्व्यवहार ॥

[६८]

कर चतुर्विध नृपति-नय को इस प्रकार प्रयुक्त,
भूप ने मन्त्र्यादिकों से किया तत्फल भुक्त ॥

[६९]

लड़ा कपट-रणज्ञ भी वह धर्म के अनुसार।
नृपति हित करती जय-श्री वीरगा अभिसार ॥

[७०]

लड़ न पाते शत्रु, जाते तेज से ही भाग,
गन्ध-गज की गन्ध से ही भागते ज्यों नाग ॥

[७१]

शशि घटै बढ़ कर, उसी के है जलधि अनुरूप,
किन्तु उनके सदृश बढ़ कर घटा तनिक न भूप ॥

[७२]

नृप-निकट जा याचना को दीन भी विद्वान्
पा गये दातृत्व, नीरधि-निकट मेघ-समान ॥

[७३]

स्तुत्य करता कृत्य था स्तुति से सलज्ज नरेश।
यश बढ़ा, यद्यपि किया यश-गायकों से द्वेष ॥

[७४]

दुरित दर्शन से, मिटा कर ज्ञान से अज्ञान,
की प्रजा स्वाधीन नृप ने उदित-सूर्य-समान ॥

[७५]

पद्म में शशि-कर, कुमुद में सूर्य-कर जायें न।
पर गुणी के गुण बनाते शत्रु में भी ऐन ॥

[७६]

थे यदपि हय-मख-निमित्त जिगीषु के व्यापार,
शत्रु के छलनार्थ, पर थे धर्म के अनुसार ॥

[७७]

शास्त्र-पथ से तेज-द्वारा यों सयत्न नरेश।
नृप नृपों का हुआ, देवों का यथा देवेश ॥

[७८]

पाँचवाँ लोकप, कुलाचल आठवाँ, संसार
छठा कहता तत्व उसको धर्म्म-साम्य निहार ॥

[७९]

सुर पुरन्दर का यथा, लिपि-बद्ध भूपादेश
साधते गत-छत्र शीर्षों से समस्त नरेश ॥

[८०]

विशद विधि में ऋत्विजों को दिया इतना दान,
धनद का उसका हुआ जिससे कि मान समान ॥

[८१]

वर्षा वृषा ने की, अगद-उद्गार यम ने दर दिये।
नौ-चारियों को वरुण ने जल-मार्ग सुन्दर कर दिये।
लख पूर्वजों को धनद ने भंडार भूपति के भरे।
शरणागतों के चरित नृप-हित लोकपों ने आचरे ॥

इति महाकवि श्रीकालिदासविरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन
हिन्दीभाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
अतिथिवर्णनो नाम सप्तदशः सर्गः ॥

अष्टादश सर्ग

[१]

जन्मा सुत उस निषिद्धारि का नैषध-राज-सुता से जात,
निषधाचल-सम सबल हुआ जो निषध नाम से ही विख्यात ॥

[२]

जन-रक्षा-क्षम वीर युवा उससे गुरु हुआ अतीव प्रसन्न;
जैसे लोक सुवृष्टि-योग से पकता निरख सस्य संपन्न ॥

[३]

'राज'-शब्द स्थापित कर उसमें, सुख शब्दादि भोग पर्याप्त,
किया स्वर्ग कौमुद्वतेय ने कुमुद-विमल कर्मों से प्राप्त ॥

[४]

एक-वीर, कमलाक्ष, जलधि-सम-धीर, पुरार्गल-सम-भुजदंड
धरे अतिथि-सुत ने भी भोगा एक-छत्र सजलधि भू-खंड ॥

[५]

हुआ भूप तत्परे कमल-मुख अनल-तेज तत्सुत नल-नाम,
गजने नड्वल ज्यों, जिसने दलदिया शत्रु-बल-जाल तमाम ॥

[६]

नभचराभिनन्दित नल का सुत हुआ नभस्तल-श्याम-शरीर,
लोक-प्रिय नभ-मास-सदृश जो ख्यात हुआ नभ-नामक वीर ॥

[७]

नभ-निमित्त धर्मोत्तर नृप ने उत्तर कोसल-राज्य विसार,
देह-बन्ध-मुक्त्यर्थ किया संबंध मृगों से जरानुसार ॥

[८]

द्वप-दुर्जय ज्यों पुंडरीक, नृप-दुर्जय पुंडरीक तज्जात
भजा सपुंडरीक श्री ने पुंडरीकाक्ष-सम गुरु-पश्चात् ॥

[९]

प्रजा-क्षेम-पटु, क्षमा-युक्त निज तनुज क्षेमधन्वा को राज
दे, अमोघ-धन्वा सहिष्णु वह गया विपिन को तप के काज ॥

[१०]

रण में अग्रग अनीकिनी का देवानीक हुआ तज्जात,
सुर-सम जिसका नाम होगया स्वर्ग-लोक में भी विख्यात ॥

[११]

हुआ पिता वह उस सेवा-रत सुत से वैसे ही सुतवान्,
जैसे हुआ पुत्र-वत्सल उस गुरु से था वह सुत गुरुवात ॥

[१२]

अद्वितीय गुण-निधि विधि-रत वह जनक आत्म-सम सुत को भार
सौंप चिर-धृत चतुर्वर्ण का, यष्टृ-लोक को गया सिधार ॥

[१३]

वशी वशंवद तत्सुत था स्वजनों सम अरियों को भी इष्ट।
भीत मृगों को भी मार्दव से करता एक बार आकृष्ट ॥

[१४]

वही अहीनगु-नाम अखिल-अवनी-पति धर भुज-शौर्य अहीन,
हीन संग से विमुख युवा भी दुर्व्यसनों से रहा विहीन ॥

[१५]

गुरु-पीछे नर-अन्तरज्ञ अवतीर्ण आदि-नर-सम अवनीश,
चतुर अस्खलित चतुरुपक्रमों से बन बैठा चतुर्दिगीश ॥

[१६]

उस अरि-जित के स्वर्ग-गमन पर पारियात्र तत्सुत अवदात
हुआ भूप, जिसने दी उन्नत शिर से पारियात्र को मात ॥

[१७]

शिल सुशील तत्सुत, विशाल था शिला-पट्ट-सम जिसका वक्ष,
शरमा जाता था स्तुति सुन कर शर से दूर कर भी अरि-पक्ष ॥

[१८]

करके ही युवराज सुमति सद्वृत्त युवक को, हुआ प्रवृत्त
सुख में वह, होता सुख-रोधक भूप-वृत्त बन्दी का वृत्त ॥

[१९]

वह अतृप्त रति-जनक भोग से, भोग्य विलासिनियों के अर्थ,
सुन्दर हरा जरा ने, जो अरतिक्षम भी कुढ़ती है व्यर्थ ॥

[२०]

सुत प्रसिद्ध उन्नाभ-नाम, वास्तव में धरे नाभि गंभीर,
शिल का हुआ, नाभि सब नृप-दल की था जो अच्युत-सम धीर ॥

[२१]

वज्रणाभ वज्राकर-भूषित धरणी का पति उसके बाद
हुआ वज्रधर-तेज, जो कि करता था रण में वज्र-निनाद ॥

[२२]

पिता सुकृत से गया स्वर्ग, सुत शंखण ने डाले अरि मेट।
सागरान्त भू ने की आकर से लाकर रत्नों की भेट ॥

[२३]

अश्वि-रूप रवि-तेज तनुज गुरु-पद पर आया तत्पश्चात्;
वेला पर रखकर भटाश्व व्युषिताश्व हुआ जो बुध-विख्यात ॥

[२४]

जना विश्वसह आत्म-रूप सुत उस नरेश ने भज विश्वेश;
विश्व-सखा जो था समर्थ पालन करने को विश्व अशेष ॥

[२५]

सुत हिरण्यनाभाख्य हिरण्याक्षारि-अंश जन्मा जिस काल,
तरु को ज्यों सानिल हिरण्यरेता, अरि को नृप हुआ कराल ॥

[२६]

पितृ-उऋण गुरु कृती अन्त में सुख अनंत की इच्छा ठान,
राजा कर आजानु-लंबि-भुज उसे, होगया वल्कलवान ॥

[२७]

उस यज्वा रवि-कुल-भूषण उत्तरकोसल-पति का उर-जात,
अपर सोम-सम नयन-सुखद नन्दन कौसल्य हुआ विख्यात ॥

[२८]

अवनिप, दे ब्रह्मिष्ठ स्वसुत ब्रह्मिष्ठ-नाम को निज अधिकार,
ब्रह्म-लोक तक विदित श्लोक से, ब्रह्म-लोक को गया सिधार ॥

[२९]

सुप्रज कुल-किरीट-सम उसके भू-शासन करते निर्बाध,
सुख-वाष्पाकुल नयन जनों के हुए, मिल गया मोद अगाध ॥

[३०]

गरुड़ध्वज की स्पष्टाकृति, पुष्कर-दल-नेत्र पुत्र ने बाप
सुतवानों में किया प्रथम, गुरु-सेवन से सुपात्र बन आप ॥

[३१]

विषय-विमुख, भावी हरि-सहचर वह उस कुलकर से स्थिति मान
कुल की, प्राप्त हुआ सुरता को त्रिपुष्करों में करके स्नान ॥

[३२]

तत्पत्नी से पौष्या तिथि में छवि-जित-पुष्पराग पा पुष्य,
पुष्ट पूर्णतः हुई प्रजा, मानों था उदित दूसरा पुष्य ।।

[३३]

सुत को सौंप स्वराज्य, मनोषी जैमिनि के चरणों में बैठ,
जन्म-भीरु ने पढ़ योगी से योग, मुक्ति में पाई पैठ ।।

[३४]

तदनन्तर नर-नाथ हुआ ध्रुव के समान तत्सुत ध्रुवसन्धि,
उत्तम सत्य-संध जिससे ध्रुव हुई प्रणत रिपुओं की सन्धि ।।

[३५]

नव-शशि-सम-प्रिय-दर्शन था जब पुत्र सुदर्शन केवल बाल,
मृगया-निरत मृगाक्ष वीर नर-सिंह सिंह ने डाला घाल ।।

[३६]

उसके स्वर्ग-गमन पर सचिवों ने, लख जनता दीन अनाथ,
किया एक मत से तत्सुत कुल-तन्तु एक ही कोसलनाथ ।।

[३७]

लघु नृप से रघु-कुल था उस नभ, कानन या कासार समान,
जहाँ एक हो नव-शशि, हरि-शावक, या पुष्कर कुड्मलवान ।।

[३८]

धरे मुकुट वह गुरु-सम ही होगा—यह था लोगों का ध्यान ।
कलभाकार मेघ भी मारुत-आगे चलता होता भान ।।

[३९]

धरता सूत वस्त्र, जब गजपर रमता निजपुर में नर-नाथ ।
षड् वर्षी प्रभु भी पौरों ने देखा गुरु गौरव के साथ ।।

[४०]

यद्यपि वह शिशु गुरु-सिंहासन को न भर सका भले प्रकार,
पर वह भरा सुवर्ण-गौर-तेज-द्युति से कर तन-विस्तार ॥

[४१]

कुछ नीचे लटके उसके छू सके कनक-पदपट्ट न पाद,
लाक्षारस-रंजित जिनका नृप मुकुटों से करते अभिवाद ॥

[४२]

लघु मणि को भी 'महानील' पद होता ज्यों न तेज-वश व्यर्थ,
अति प्रसिद्ध पद 'महाराज' था वृथा न त्यों शिशु के भी अर्थ ॥

[४३]

ढुरते थे चहुँ ओर चौंर, दो लटें कपोलों पर थीं लोल।
जलधि-तटों पर भी न कटा शिशु-मुख से निकल गया जो बोल ॥

[४४]

हँस-मुख ने धर कनक-पट्ट भूषित ललाट पर तिलक ललाम,
उससे ही विहीन कर डाले अरि-स्त्रियों के वक्त्र तमाम ॥

[४५]

सरस-सुमन से भी कोमल भूषण से वह जाता था हार;
किन्तु धरा शिशु ने वसुन्धरा का नितान्त भारी भी भार ॥

[४६]

अक्षर-पट्टाङ्कित लिपि में वह हुआ नहीं जब तक अभ्यस्त,
तब तक वृद्ध-योग से उसने नृप-नय-फल पालिये समस्त ॥

[४७]

तद्विकास की आशा धरके, उर में कुछ कुछ करके स्थान,
छत्रच्छाया-मिस मानो श्री मिली बाल से लज्जा मान ॥

[४८]

मिला न युग-सादृश्य, तथा ज्या-घात-चिह्न भी पाया था न,
खड्ग-मुष्टि छूई न, भुजा से तो भी रक्षित रहा जहान ॥

[४६]

कालान्तर में बढ़े न केवल उस शिशु के शरीर के अंग,
बढ़ते गये जन-प्रिय, प्रथम-स्तोक, कुलागत गुण भी संग ॥

[५०]

मानों त्रिवर्ग-मूल त्रिविद्या, पूर्व जन्म में पूर्णाधीत,
पूज्य-सुखद उसने स्मृत कर, की पित्र्य प्रजा के संग ग्रहीत ॥

[५१]

तान पूर्व-तन कुछ, कच ऊँचे बाँध, झुकाकर घुटना वाम,
खींच सशर धनु श्रुति तक, पढ़ता अस्त्र दीखता था अभिराम ॥

[५२]

है जो कि मधु दृग-पेय मंजुल अङ्गनाओं के लिये,
कमनीय कुसुम अनंग-तरु का, राग का पल्लव लिये,
प्राकृतिक सर्वाङ्गीण-भूषण-रूप है जो अङ्ग का,
यौवन उसे वह मिला, आद्य-स्थल विलास उमंग का ॥

[५३]

जो दूति-दर्शित चित्र-रचना से रुचिर पाई गईं,
सत्सचिव-गण से शुद्ध संतति-चाव से लाई गईं,
वे राज-कन्याएँ रहीं सापत्न्य भावों से भरी
श्री तथा भू के संग, पहले ही युवक ने जो वरीं ॥

इति महाकवि श्रीकालिदास विरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन
हिन्दीभाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
वंशानुक्रमो नाम अष्टादशः सर्गः ॥

एकोनविंश सर्ग

[१]

अग्नि-तेज सुत अग्निवर्ण का करके अपने पद पर टीका,
लिया अन्त में बुध-वर राघव ने आश्रय नैमिष अटवी का ॥

[२]

भुला तीर्थ-जल से वापी को, भुला उटज से वहाँ महल को,
भुला साथरी से शय्या को, तपा महीप भुलाकर फल को ॥

[३]

भुज-जितारि गुरु से भू कंटक-शोधन को न, भोग को आई,
अतः राज्य-पालन में तत्सुत ने न वेदना कुछ भी पाई ॥

[४]

कुलोचिताधिकार कामुक वह कुछ वर्षों तक स्वयं पालकर,
वनिताधीन हुआ यौवन में, सचिवों पर सब भार डाल कर ॥

[५]

नारि-सखा-कामुक-भवनों में सदा गूँजता था मृदंग-रव;
पहिलों से पीछे के बढ़ते गये शान में रास-रंग सब ॥

[६]

रह सकता था वह न एक भी क्षण इन्द्रिय-विषयों से खाली;
भीतर रमता सतत, प्रजा दर्शनोत्सुका जाती थी टाली ॥

[७]

करते यदि जब कभी सचिव अनुरोध देखकर चाह प्रजा की,
तो बस चरण निकाल झरोखे से नृपाल दे जाता झाँकी ॥

[८]

नव रवि के प्रकाश से रंजित मंजु कंज की समता पाते,
मृदु स्व-नख-द्युति-दीप्त भूप-पद में अनुजीवी शीस नवाते ॥

[९]

यौवन-गुरु-नारी-कुच-मर्दन-लोल-कमल, जल-गत विहार-घर
थे जिनमें, वह कामुक करता उन्हीं वापियों में विहार वर ॥

[१०]

धुलते जल से अधर-राग-लालिमा तथा कज्जल नयनों से;
अधिक लुभाती थीं ललनाएँ उसे सहज सुन्दर वदनों से ॥

[११]

फिर वह घ्राण-मधुर-मधु-गंधित रुचिर रचित पान-स्थलियों में
जाता था सस्त्रीक, सकरिणी गज ज्यों कुसुमित कमलिनियों में ॥

[१२]

रहसि चाहतीं प्रमदायें नृप-दत्त मुखासव अति मद-कारी,
वकुल-तुल्य रुचि रख चखता था वह भी उनसे उसे विहारी ॥

[१३]

वीणा मृदु-झनकार-कारिणी, रमणी रम्यालापन-वाली—
अङ्क-विहारोचित इन दो से रहा न अङ्क भूप का खाली ॥

[१४]

वलय-हार हिल जाते थे जब पटु ठेका स्वयमेव जमाता;
अभिनय-विचलित नर्तकियों को गुरु-पार्श्वगों-मध्य शरमाता ॥

[१५]

चारु नृत्य कर श्रम-जल से मिटते उनके वदनों के टीके;
हरि-कुबेर से भी बढ़ता ले श्वास प्रेम की उनको पीके

[१६]

जभी गुप्त या प्रकट भाव से नव विषयों में गया रमण ने,
तभी उसे तद्भोग भोगने दिया अधूरा रमणी-गण ने ॥

[१७]

भ्रू-विभंग से वक्र निरीक्षण, अंगुलि-पल्लवाग्र से तर्जन,
पुनि पुनि रशना-बन्धन पाता, जब करता अंगना-विसर्जन ॥

[१८]

विरह-विकल प्यारी जो कहती वचन दूति से हारे हारे,
सुरत-वार की रातों में सुनता था उन्हे बैठ पिछवारे ॥

[१९]

आतीं जब रानियाँ, रंडियाँ लुकतीं, ज्यों त्यों, पा दुचिताई,
लिखता था तद्रूप, स्विन्न उँगली से जाती सरक सलाई ॥

[२०]

प्रेम-रुष्ट सौतों के मत्सर, तथा प्रबल मन्मथ के कारण,
उत्सव-मिस पातीं कृतार्थता कामिनियाँ कर मान-निवारण ॥

[२१]

देता दुःख खंडिताओं को प्रातः दिखा भोग-शोभी मुख;
सांजलि उन्हें मनाता, पर हो प्रणय-शिथिल फिर भी देता दुख ॥

[२२]

सौत-बखान सेज पर सुन प्यारी धमकी दे लेती करवट;
हो चुप, अश्रु गिरा बिस्तर पर, तमक फेंक देती कंकण झट ॥

[२३]

सुमन-सेज-सज्जित-कुंजों में लेजातीं दूतियाँ बुलाके।
दासी-भोग वहाँ करता था महिषी-भय से देह कँपाके ॥

[२४]

"नाम जान तव प्यारी का चाहूँ तत्सुभग भाग्य भी पाना;
है तदर्थ मन लोलुप"—यह ललना लंपट को देतीं ताना ॥

[२५]

चूर्ण-पीत, लाक्षारस-रंजित, छिन्न-हार-रशना-मय बिस्तर
करता था उठते कामुक की काम-केलि को व्यक्त सविस्तर ॥

[२६ [

ध्यान न रहता उसे स्वयं रमणी-चरणों में राग लगाते—
रशना-रुचिर शिथिल-पट जंघ-नितंब अंबकों को ललचाते ॥

[२७]

चुम्बन करते अधर फेर, मेखला खोलते समय थाम कर,
रोक केलि में तद्रुचि को भी कामिनि देतीं दीप्त काम कर ॥

[२८]

भोग-विकार मुकुर में लखती युवती-पीछे लुकता जाकर;
सस्मित तच्छाया लख जाया नीचा मुख करती शरमाकर ॥

[२९]

जाता जब पर्यङ्क छोड़ कर वह व्यतीत होने पर यामिनि,
पद पर पद रख, डाल गले में बाहु, माँगती चुम्बन कामिनि ॥

[३०]

दर्पण में मघवा से बढ़कर राज-वेष अपना लख इतना
तुष्ट न होता, व्यक्त-चिह्न परिभोग-छटा लख होता जितना ॥

[३१]

प्यारी कहतीं मित्र-कार्य-मिस उसे खिसकते जब विलोकतीं—
"शठ ! जानी तव चाल सर्वथा," तथा खींच कर बाल, रोकतीं ॥

[३२]

निर्दय-रति-श्रान्त कान्ताएँ कंठ-सूत्र का कैतव करतीं,
सोती थीं तद्वृहद्वक्ष में, कठिन कुचों से चन्दन हरतीं ॥

[३३]

प्रिया जान दूती से निशि में गुप्त सुरत-हित उसका जाना,
ले आतीं आगे जा, 'ठग ! ठगता क्यों तम में ?'—दे यह ताना ॥

[३४]

प्रमदा-स्पर्शण से उसको सुख शशि-भा-स्पर्शण का होता था;
बना कुमुद-कानन-सम, रजनी में जगता, दिन में सोता था ॥

[३५]

दुःख नख-क्षत-जघना दन्त-क्षताधरा गायकियाँ पातीं
वीणा-वेणु उभय से, तो भी वक्र दृष्टि से उसे लुभातीं ॥

[३६]

तन-मन-वचनात्मक अभिनय वह रहसि रमणियों में दर्शाता;
मित्रों सहित वाद करता उनसे, जो थे विशेष' तज्ज्ञाता ॥

[३७]

नीप-रेणु का अङ्गराग रच, कुटजार्जुन की माला डाले,
वर्षा में कृत्रिमाचलों पर रम, लखता मयूर मतवाले ॥

[३८]

शीघ्र मनाता वह न प्रिया जब होती विमुख सेज पर लड़के;
सन्मुख हो वह स्वयं अंक भरती सचाह घन-रव से डर के ॥

[३९]

बिरमाता सवितान विशद भवनों में रसिक कार्तिकी यामिनि;
करता सुरत-श्रम-हर-निर्घन-विमल-चन्द्रिका-भोग सभामिनि ॥

[४०]

सुन्दर सरयू, पुलिन-नितंबों पर मराल-मेखला-धारिणी,
लखता भूप सौध-जालों से स्ववल्लभा-शोभानुकारिणी ॥

[४१]

अगुरु-धूप-वासित, सुवर्ण-रसना-दर्शी पट मर्मरकारी,
हैमन धर, हरती मन नीवी-बंध-मोक्ष-रत मध्या नारी ॥

[४२]

सुरतोचित सर्वथा शिशिर रातें, बनकर निश्चल-दीपाक्षी,
वात-रहित अन्तरालयों में नृपति-केलि की होतीं साक्षी ॥

[४३]

मलयानिल-संजात आम्र-मंजरी तथा पल्लव निहार के,
सहतीं विरह न, उसे मनातीं वनिताएँ विग्रह विसार के ॥

[४४]

कर स्वाङ्कस्थ उन्हें परिजन-सज्जित झूले में रसिक झुलाता,
पतन-भीति-मिस गुण तजती बाहों से गाढ़ालिंगन पाता ॥

[४५]

ललनाएँ कुच-गत चन्दन से, मुक्ता-ग्रथित अलंकारों से,
भजती उसे नितंब-लंबि रशनादि ग्रीष्म के शृङ्गारों से ॥

[४५]

वसन्तान्त में संमिश्रित सहकार-रक्तपाटल की हाला
पीकर, वह कामुक होता था पुनरपि प्रबल-काम-बल-वाला ॥

[४७]

विषय भोगते इस प्रकार नृप ने सब कर्मों से मुख फेरा;
यों स्वचिह्न-सूचित ऋतुओं को विरमाता अनंग का चेरा ॥

[४८]

उस प्रमत्त पर भी न शत्रु चढ़ सके प्रताप मानकर भारी;
किन्तु, चन्द्र पर दक्ष-शाप-सम, गिरी विलास-जनित बीमारी ॥

[४९]

सुनी न वैद्यों की, न दोष लखकर भी संगज लतें विसारीं ।
चसकों के वश हुईं इन्द्रियाँ जाती हैं दुःख से निवारी ॥

[५०]

पीला मुख, ढीला स्वर, कम भूषण धर, चलने लगा सहारे ।
कामुकता-वश सम गति में नृप-चन्द्र पड़े यक्ष्मा के मारे ॥

[५१]

अन्त्यकला-स्थित-शशि-युत नभ सा, पंक-शेष आतप का सर-सा,
लघु-शिख दीप-पात्र सा, वह कुल विमल क्षयातुर नृप से दरसा ॥

[५२]

"निश्चय सुत-जन्मार्थ पार्थ यह करता है आये दिन अर्चा—"
छिपा रोग मंत्री करते यह अघ-शंकिनी प्रजा से चर्चा ॥

[५३]

शुचि संतति न एक लख पाया, यद्यपि थीं अनेक नृप-जाया ।
दीप वात से ज्यों, महीप वह गद असाध्य से उबर न पाया ॥

[५४]

गृहोपवन में ही सचिवों ने अन्त्येष्टिज्ञ पुरोहित लाके,
रोग-शान्ति को जता, जलाया ज्वलितानल में उसे छिपाके ॥

[५५]

प्रमुख पौर-जन बुला लखी शुभ-गर्भ-लक्षणा नृप की नारी,
निपुण मंत्रियों से तुरंत ही राज्य-श्री जिसने स्वीकारी ॥

[५६]

पहिले यों पति-विरह-ताप था जिसने पाया,
नयनों के संतप्त नीर ने जिसे तपाया,
गर्भ वही अभिषेक-समय शीतल रानी का
हुआ स्वर्ण-घट-मुख से सिंचन पा पानी का ॥

[५७]

प्रसव-काल-कांक्षिणी-प्रजा-भूत्यर्थ गर्भ को धरती,
अंतर्गूढ़ यथा श्रावण में बुए बीज को धरती,
सत्सचिवों के संग स्वर्ण-सिंहासनस्थ वह रानी
करती थी पति-राज्य सविधि, आज्ञा न किसी ने मानी ॥

इति महाकवि श्रीकालिदासविरचिते रामप्रसाद सारस्वतेन
हिन्दीभाषायाम्पद्यत्वेनानूदिते रघुवंशे महाकाव्ये
अग्निवर्णश्रृङ्गारो नाम एकोनविंशः सर्गः ॥

श्रीहरये नमः ॥

शब्दार्थ

प्रथम सर्ग

छंद १ से १० तक

वागर्थ = वाणी और अर्थ
उडुप = छोटी नाव।
प्रांशु = उन्नत मनुष्य।
खर्व = बौना।
प्रांशु······समान = उन्नत मनुष्य को प्राप्त होने योग्य फल के लिये भुजा उठाते हुए बौने के समान।
फलाप्ति = फल की प्राप्ति।
नभग = आकाश-गामी।
मित-भाषी = कम बोलने वाले।
जिगीषु = विजयेच्छुक।

छंद ११ से २० तक

वैवस्वताख्य = वैवस्वत-नामक।
मनस्वि-वंशराध्य = धीर मनुष्यों में माननीय
प्रणव = ओंकार।
आद्य = प्रथम।
दीर्घ-वक्ष = बड़ी छाती वाला।
प्रलंब-भुज = लंबी भुजा वाला
वृषभांस = बैल के से कंधे वाला
शालाकार = शाल वृक्ष के से आकार वाला।
सर्वातिरिक्त = सब से अधिक या उत्कृष्ट।
अरका = स्थित हुआ।
भीम = भयंकर।
भयदाश्रयद = भय देने वाला और आश्रय देने वाला।
नेमि-वृत्ति = पहिया के घेरे की सी वृत्ति वाली।
क्षुण्ण = अभ्यस्त, प्रयुक्त।
पारग = पारंगत।
धनुर्गत ज्या = धनुष पर चढ़ी हुई डोरी।
इङ्गिताकृति = संकेत और चेष्टा

छंद २१ से ३० तक

कीर्त्यरुचि = यश की अनिच्छा
सोदर = एक ही उदर से उत्पन्न हुए भाई।

प्रसूति = सन्तान ।
परिणय = विवाह ।
युग-भुवन-भरणार्थ = दोनों लोकों के पालन के लिये ।
अगद = औषधि ।
अहि-दष्ट = सांप से काटी हुई ।
समन्वित = युक्त, सहित ।
महाजन-तत्व = वह मसाला जिसके महापुरुष बनते हैं ।
परिखा = खाई ।
प्राचीर = कोट, शहरपनाह ।

छंद ३१ से ४० तक

मगध-वंश्य = मगध वंश की ।
दाक्षिण्य = विनय, नम्रता, दया ।
अवरोध = रनवास ।
प्रयत = पवित्र, संयत ।
विरल = कम ।
सानीक = सेना सहित (अनीक = सेना) ।
संघात = समूह ।
रथोन्मुख = रथ के शब्द के कारण ऊपर को मुख करते हुए ।
षड्ज-मय = सात स्वरों में से एक स्वर जो नासिका, कंठ, उर, तालु, जीभ और दाँत इन छः स्थानों के संयोग से उत्पन्न होता है । मोर इसी स्वर में बोलते कहे जाते हैं ।

छंद ४१ से ५० तक

अस्तंभ = बिना खंभों की ।
तोरण-माल = दरवाजे की माला, बंदनवार ।
सामोद = प्रसन्नतापूर्वक, आमोद सहित ।
कंजामोद = कमलों की सुगंध (आमोद = सुगंध)
यूप = वह स्तंभ जिससे बलि-पशु बाँधा जाता है ।
ऋत्विज = यज्ञ करने वाला ।
घोष = छोटा ग्राम ।
जरठ = बूढ़ा ।
सद्य = ताजा, सद ।
चित्रा = नक्षत्र-विशेष ।
प्रिय-दर्शन = प्रिय है दर्शन जिस का—दर्शनीय ।
श्रान्त-वाहन = थकी सवारी (वाहन) वाला ।
उटज = कुटी ।

छंद ५१ से ६० तक

उटज-अजिर = कुटियों के आँगन ।

आतपात्यय = ग्रीष्म का अन्त ।
नीवार = बनैले चावल ।
पवनोद्धूत = पवन से उठाया हुआ ।
पूत = पवित्र ।
शास्त्र-चक्षु = शास्त्र ही है आँख जिसकी–शास्त्रीय दृष्टि से सब वस्तुओं को देखने वाला ।
सकलत्र = स्त्री (कलत्र) सहित ।
सांध्य-विध्युपरांत = सायंकालीन कर्म के बाद ।
अग्न्यनुग स्वाहा = अग्नि की अनुगामिनी स्वाहा, जो अग्नि की स्त्री है ।
पृष्ठ = पीछे ।
पार्थ = राजा ।
अथर्व-निधान = अथर्व वेद में निपुण ।
सप्तांग = राज्य के सात अंग— स्वामी, मंत्री, मित्र, कोश, राष्ट्र दुर्ग, और सेना ।

छंद ६१ से ७० तक

मंत्र-कृत् = मंत्रों के कर्त्ता या रचयिता ।
लक्षित-लक्ष्य-भिद् = दीखते हुए निशाने को बेधने वाले ।
सविधि-हुत = विधिपूर्वक होमा हुआ ।
हवि = स्वच्छ घी; अग्नि में होमने की सामग्री ।
ब्रह्म-सुत = वशिष्ठ ।
रत्न-सू = रत्नों के पैदा करने वाली ।
सद्वीप = अच्छे द्वीप वाली ।
स्वधा = पितरों को अर्पित किया हुआ अन्न ।
स्वनिश्वासोष्ण = अपनी (दुःख की) श्वांस से तपा हुआ ।
लोकालोक अद्रि = लोकालोक नामक पहाड़ (अद्रि) जिस पर पुराणानुसार प्रकाश और अंधकार की सीमा मानी जाती है, अर्थात् जिस पर प्रकाश और अन्धकार दोनों का राज्य है ।

छंद ७१ से ८० तक

सुप्त-मीन-तड़ाग = वह तालाब जिसमें मछलियाँ सो रही हों ।
धरागम = पृथ्वी पर आना ।
ऋतु-स्नाता = मासिक धर्म के पश्चात् ही स्नान की हुई ।

प्रदक्षिण-योग्य = परिक्रमा के योग्य।

उद्दाम = खुली रस्सी वाले, खुले हुए।

हव्य = देखो—हवि।

छंद ८१ से ६५ तक

कामदा = मनोरथ को पूर्ण करने वाली।

स्निग्ध = चिकना।

पाटल = पीलापन लिए हुए लाल।

ऐन = स्तनों के ऊपर दूध की कोथरी।

अवभृथ = यज्ञान्त में पवित्र स्नान या वह जल जिससे वह स्नान हो।

कोष्ण = कुछ उष्ण।

सफल याची = सफलतापूर्वक याचना करने वाला।

याज्य = यज्ञ करने की योग्यता रखने वाला।

सुसुत-जनक = अच्छे पुत्रों के बाप।

प्रणत = प्रणाम करता हुआ, विनय-युक्त।

कल्प-विद = नियम (कल्प) का ज्ञाता।

वन-संविधा = वन की सामग्री।

कुलपति = १००·० वटुओं का आचार्य।

द्वितीय सर्ग

छंद १ से १० तक

पीत = पिया हुआ।

खुर-न्यास-शुचि = खुर रखने से पवित्र।

दयिता = स्त्री।

अन्यानुग = (अन्य अनुग) दूसरे अनुचर।

दंश = डाँस।

खर्जन = खुजाना।

कवल = कौर।

चिह्न-रहित-राज्य श्री-धर = बाहरी निशानों से विहीन राज्य-लक्ष्मी को धारण करने वाला।

तेजानुमेय = तेज से ज्ञात या अनुमित।

दान = वह द्रव जो मद-मत्त हाथी अपने गंडों से टपकाता है।

सन्निधि-स्थ = निकट-स्थ, पास खड़े हुए।

अग्न्याभ = अग्नि की सी आभा रखने वाले।

उपचारार्थ = सेवा-निमित्त।

छंद ११ से २० तक

मारुत-रणित = पवन से बजाये हुए।

वंश-वंशी = बांस रूपी बांसुरी।

तार-स्वर = उच्च स्वर।

तुषार = जल-कण।

आशाएँ = दिशाएँ, उम्मेदें।

निलय = अस्त या गुप्त होने का स्थान; रहने का स्थान।

शाद्वल = हरी घास के मैदान।

गुरूध-धारिणी = भारी ऐन धारण करने वाली।

गृष्टि = एक बार ब्याई हुई गाय।

छंद २१ से ३० तक

पयस्विनी = दुधार।

शृङ्ग-मध्य = सींगों के बीच का भाग।

बलि-दीप = पूजा के निमित्त रखे हुए दीपक।

हिम-गिरि-गह्वर = हिमालय की घाटी।

प्रपात = झरना।

गुहा-गूँज-गुरु = कन्दरा की गूँज से महान हुआ।

शार्दूल = सिंह।

गैरिक = गेरू।

पठार = चट्टान।

शरण्य = शरणागत के लिये साधु।

साभिषंग = क्रुद्ध।

छंद ३१ से ४० तक

बद्ध-भुज = बँधी हैं भुजायें जिसकी।

वृष = बैल।

गिरीश-सित = कैलास के समान गौर।

कट = कपोल।

घर्षण = घिसना।

गह्वर = घाटी, दर्रा, विवर।

पारण = व्रत के अन्त का भोजन।

शस्त्रारक्ष्य = शस्त्रों को अरक्ष्य; शस्त्रों द्वारा जिसकी रक्षा न हो सके।

छंद ४१ से ५० तक

प्रगल्भ = निर्भीक, उद्दण्ड।

कुण्ठितायुध = भोंतरे (बेकार) हैं हथियार जिसके।

मुमुक्षु = छोड़ने की इच्छा रखने वाला।

प्रच्छन्न = गुप्त।

पंचास्य = सिंह।

हास्य = हँसने योग्य।

स्थावर-जंगम-सर्ग-स्थिति-लय।
हेतु = जड़ों और चेतन्यों की उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय के कारण (करने वाले)।

साग्नि = यज्ञ की पवित्र अग्नि की स्थापना करके वाला।

अनपेक्ष्य = जो लापरवाही करने योग्य न हो।

दंष्ट्रा-किरण = डाढ़ों की कांति।
भूतेश्वर = शिव।
अग्न्योपम = अग्नि के समान।
कुम्भापीन = घड़े के समान आपीन (ऐन) रखनेवाली।

छंद ५१ से ६० तक

प्रतिनाद = प्रतिध्वनि, गूँज।
तदाक्रमण = उसका प्रहार।
तद्विरुद्धचर = इसके प्रतिकूल चलने वाला।

ऋष्यनुनय = ऋषि की प्रसन्नता करना।

अशक्य = असंभव।
रक्ष्य = रक्षा करने योग्य।

वार्तानुग = वार्तालाप के पीछे जाने वाला।

विद्याधर = देव-योनि-विशेष।

छंद ६१ से ७० तक

हिंस्र = हिंसक जीव।
गौ-प्रसाद = गौ की प्रसन्नता।
स्तन्य = दूध।
वशी = संयमी।
प्रास्थानिक = विदा की।

छंद ७१ से ७५ तक

हुत = हवि।
सन्मगलज = शुभ मांगलीक कार्य से उत्पन्न।
श्रुति = कान।
प्रजार्थ व्रत = सन्तान (प्रजा) के निमित्त किया हुआ व्रत।
अत्रि-दृगज-भा = अत्रि ऋषि के दृगों से उत्पन्न हुई ज्योति, अर्थात् चन्द्रमा।

(पुराणानुसार तप करते हुए अत्रि मुनि ने चन्द्रमा को अपने नयनों से उत्पन्न किया)
अग्नि-दत्त शिव-तेज = अर्थात् स्कन्द या कुमार।

(तारकासुर संहार के लिए देवताओं को शिव के वीर्य से उत्पन्न सेनापति की आवश्यकता थी। उनकी प्रार्थनानुसार

शिवजी ने अपने वीर्य-रूप तेज को अग्नि में डाल दिया। अग्नि ने उसे गंगा में छोड़ दिया। वहाँ से वह स्नानार्थ आई हुई छै कृत्तिकाओं की कुक्षियों में प्रवेश पा गया। फलतः प्रत्येक ने एक एक पुत्र जना। छहों को जोड़ने से छै मुखों और बारह भुजाओं वाला एक जीव बना, जो पुराणों में षड़ानन, षण्मुख, गुह, स्कन्द, कुमार इत्यादि नामों से विख्यात है। यही शिवजी के पुत्र तारकासुर पर चढ़ाई करने वाली देव-सेना के प्रधान हुए, और इन्होंने ही उस दैत्य का संहार किया।)

लोकप-तेज-विशिष्ट = लोकपालों के तेज से युक्त।

"अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः" (मनु)

तृतीय सर्ग

छंद १ से १० तक

सखी-दृग-द्युति-धाम = सखियों की आँखों में प्रकाश करनेवाले।

लोध्र = वृक्ष-विशेष जिसके फूल पीले या सफ़ेद रंग के होते हैं।

पाण्डु = पीला।

विरल = थोड़े।

मृत्सुरभि = मिट्टी की सी गंध रखने वाला।

मृद्रुचि = मिट्टी की इच्छा।

दोहद = गर्भ, गर्भिणी की इच्छा।

शमी – वृक्ष विशेष जिसके अंदर आग बताई जाती है।

वसु-गर्भा = धन है गर्भ में जिसके।

अन्तःसलिला = गुप्त जलवाली

छंद ११ से २० तक

गरिमा = भारीपन, गुरुता, गौरव

साभ्र = अभ्र (मेघ) सहित।

असूर्यग = जो सूर्य-मंडल में न आये हों, अर्थात् अस्त न हुए हों।

विदित-भाग्य-धन = विदित है भाग्य और धन जिसका।

त्रिसाधना-शक्ति = प्रभाव, उत्साह मंत्र इन तीनों साधनों वाली शक्ति।

भ्रमित-ज्वाल = घूमती हुई ज्वाल (लौ) वाली।

अरिष्ट = सूतिका-गृह, जच्चा का घर

तल्प = शय्या ।
निशीथ = आधीरात ।
चित्रार्पित = चित्र-लिखे ।
अमृत-सदृशाक्षर = अमृत के समान (मीठे) अक्षरों वाले ।
सुत-संभव = पुत्र-जन्म ।
निवात पद्म = निश्चल कमल ।
पुरोधा = पुरोहित ।
जातकर्म = जन्मकालीन संस्कार ।

छंद २१ से ३० तक

तनु-योगज = शरीर के स्पर्श से उत्पन्न ।
स्थिति-पालक = मर्यादा-पालक ।
प्रजाधिपति = ब्रह्मा ।
वलित = युक्त ।
सवय = एक उमर के ।
सुधी = अच्छी बुद्धि (धी) वाला

छंद ३१ से ४० तक

कृष्ण-मृगाजिन = काले हरिण का चर्म ।
अजिन = चर्म ।
कलभ = हाथी का बच्चा ।
निकाई = शोभा ।
युग-दीर्घ-बाहु = जूए (युग) के समान दीर्घ भुजाओं वाला ।
प्रकृति-संस्कृति-विनीत = स्वभाव और संस्कार दोनों से नम्र ।
नृप-मूलस्थल = राजा रूपी प्रधान स्थान ।
उत्पल = नील कमल ।
आंशिकाश्रय = थोड़ा सा आश्रय ।
ज्ञात-शक्ति = विदित थी शक्ति जिसकी ।

छंद ४१ से ५० तक

अद्रि-पक्ष-भेदी = पहाड़ों के पंखों को तोड़ने वाला (इन्द्र)
नभग = आकाश-व्यापी ।
हरि = इन्द्र ।
विधि = यज्ञ ।
मलीमस = मलीन ।
सगर-सुत-पदवी = सगर के पुत्रों की स्थिति ।

छंद ५१ से ६० तक

ओटो = सहन करो ।
आलीढ़-रुचिर = शर-क्षेप के समय का आसन-विशेष जिस में सीधा घुटना आगे और बायां पीछे रक्खा जाता है, आलीढ़ कहलाता है । उससे अच्छा लगने वाला ।
क्षण-लांछित = क्षण भर को चिह्नित ।

अपीत-पूर्व = नहीं पिया है पूर्व में जो।

शची-पत्र-चित्रित = इन्द्राणी द्वारा पत्र-रचना से भूषित।

मोर-पत्री = मोर की पंख वाले।

प्रकोष्ठ = कलाई के ऊपर हाथ का हिस्सा।

छंद ६१ से ७० तक

अव्याहत = न रुका हुआ।

पुंख = तीर का सबसे पिछला भाग

हरैकांशता = महादेव जी की एक कला या मूर्ति।

(शिवजी की आठ मूर्ति ये हैं–पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और यज्ञ-कर्ता। राजा दिलीप यज्ञकर्ता होने के कारण हर की एकांशता रखता था।)

मातलि-सारथि = मातलि है सारथी जिसका, अर्थात् इन्द्र।

महनीय = पूजनीय।

सितातपवारण = श्वेत छत्र।

अनुसारण = अनुसरण।

चतुर्थ सर्ग

छंद १ से १० तक

अर्थ-गुरु = अर्थ से उत्कृष्ट, अमितार्थ।

अभुक्त-पूर्वा = जो पहिले न भोगी गई हो।

निर्दिष्ट = सूचित।

छंद ११ से २० तक

श्रुति-तट-स्पर्शी = कानों के सिरों को छूने वाले।

लब्ध-शान्ति-स्वस्थ = पाये हुए राज्य की शांति से निश्चिंत।

निर्वृष्ट = पूरी तरह बरसे हुए, रीते।

कुशेशय = कमल।

रीस = समता, नकल।

कासार = सरोवर।

इक्षु = ईख।

छंद २१ से ३० तक

अभिभाव = हार।

गुरु-ककुद = बड़ी हैं टांटें (ककुद) जिनकी।

मद-सुरभि = मद के जल की सी गंध रखने वाले।

शारद = वृक्ष विशेष।

पाँझ = जो पैदल पार की जा सकें।

शुष्क-कर्दम = सूख गई है कर्दम (कीच) जिनकी।

नीराजन = आरती।

गुप्त = रक्षित।

पृष्ठारि = पीछे के शत्रु।

मन्दरोद्गत = मन्दराचल से उछली हुई।

प्राचीनवर्हि = इन्द्र ।

छंद ३१ से ४० तक

सुप्रतर = आसानी से पार करने योग्य ।

उत्खात = उखाड़े हुए ।

वैतसी बान = बेतों की वृत्ति । (वेत जल-प्रवाह के सामने झुक जाते हैं।)

स्तूप = स्तंभ ।

उद्धृतारोपित = उखाड़ कर लगाये हुए।

कलम = चावल विशेष जिनकी पौध उखाड़ कर फिर दूसरी जगह जमाई जाती है ।

गंभीरवेदी = वह मदमत्त गज जिसको घोर प्रहारों से भी चेत न हो ।

छंद ४१ से ५० तक

नारिकेलासव = नारियल की शराब ।

मसकी = छीनी ।

पूगावलि = सुपारी के पेड़ों की पंक्ति ।

नदी-नाथ = समुद्र।

हारीत = पक्षि-विशेष।

मारीच = वृक्ष विशेष ।

छंद ५१ से ६० तक

अनीक = सेना।

राम-शर-चालित = परशुराम के शर से खदेड़ा हुआ

पराग = धूल, रज।

मुरला-वात-वाहित = मुरला नामक नदी के पवन द्वारा उड़ाई हुई ।

छंद ६१ से ७० तक

मधु-मद = मदिरा पीने से चेहरे पर आई हुई लालिमा ।

हय-बल = घोड़ों की सेना (बल) रखने वाले ।

प्रतिभट = मुकाबिले के योद्धा।

क्षौद्र = मधुमक्षिकाओं के छत्ते।

अक्षोट = वृक्ष विशेष ।

छंद ७१ से ८० तक

सम-सत्व = बराबर बल (सत्व) रखने वाले ।

भूर्ज = भोज वृक्ष ।

प्रस्तर = पत्थर ।

नमेरु = वृक्ष विशेष।

स्नेह-विनैव = बिना ही स्नेह (तैल) के।

ग्रैव = पघैया, जेवरा।
डील = आकार।
पर्वतीगण = हिमालय प्रांत की एक जाति विशेष जो 'उत्सव संकेत' नाम से पुकारी जाती है
शर-सेलाश्म = बाण, सेल और पत्थर (अश्म)।

छन्द ८१ से ८८ तक

कालागरु = चन्दन की किस्म का एक वृक्ष।
दुर्दिवस = मेघाच्छन्न दिन।
हाटकासन = सोने का सिहासन।
विश्वजित = यज्ञ विशेष, जिसमें सर्वस्व का दान कर दिया जाता है।
सर्वस्व-दक्षिणा = सर्वस्व है दक्षिणा जिसकी।
प्रसाद = प्रसन्नता।

पंचम सर्ग

छन्द १ से १० तक

हिरण्मय = सोने का।
मृण्मय = मट्टी का।
विष्ठर-स्थ = आसनस्थ।
आलबाल = पेड़ों का थामला।
अभग्न-रुचि = नहीं भग्न हुई है इच्छा जिनकी।
उञ्छ = बीने हुए दाने।
उञ्छ-षष्ठ-चिह्नित = बीने हुए दानों से अंकित (प्राचीन समयों में आय का षष्ठांश राजकर होता था)
तीर्थाप = तीर्थों के जल (आप)
डंगर = पशु, चौपाये।

छन्द ११ से २० तक

तीर्थ = सत्पात्र।
स्तंब = ढूँड़।
आरण्यक = बनवासी।
वर्णी = ब्रह्मचारी।

छन्द २१ से ३० तक

अर्थ-कार्श्य = दारिद्रय।
श्रुत-निष्क्रय = विद्या-मूल्य।
द्विजराज = चन्द्रमा।
अनघेन्द्रिय-रुचि = अनघ (निष्पाप) है इन्द्रियों की रुचि जिसकी।
रघु-सकाश से = रघु के पास से।
वदान्य = दानी।
महित = पूज्य।
संगर = प्रतिज्ञा।
मंत्रोक्षण = मंत्र द्वारा उक्षण करना, अर्थात् पानी छिड़कना
प्रदोष = सायंकाल।

सामंत-भाव से = आश्रित राजा समझकर।

छन्द ३१ से ४० तक

रुच्यधिक-प्रद = इच्छा से अधिक देने वाला।
गुरु-देयाधिक-निस्पृह = गुरु को दी जाने वाली रक़म से अधिक लेने की इच्छा न रखने वाला।
वृत-स्थित = राज-मर्यादा में स्थित।
कामसू=कामना पूरी करनेवाली
पुनरुक्त-भूत = दुहराया हुआ।
प्रवर्तित = (प्रसंगानुसारः—) चलाया हुआ।

छन्द ४१ से ५० तक

धौत = धुला हुआ।
तद्वप्र-केलि = उसकी वप्र-केलि।
वप्र-केलि = सीगों या दातों से पृथ्वी को खोदने या चट्टानों को तोड़ने का खेल।
प्रस्तर-कुण्ठित = पत्थर से घिसे हुए।
व्यास = फैलाना।
संकोच = समेटना।
क्षिप्र = लोल, चपल।
वार्यर्गल = (वारी + अर्गल) वारी का (गजशाला का) बेंड़ा।

भग्नाक्ष=टूटी हैं धुरियाँ (अक्ष) जिनकी।

छन्द ५१ से ६० तक

वाग्मी = वक्ता।
प्रतिषेध = अस्वीकृत।
रौक्ष्य = रूखापन।
उदङ्-मुख = उत्तर की ओर मुख किये हुए।
चैत्ररथ = कुबेरोद्यान।

छन्द ६१ से ७० तक

पुरःसर = आगे चलने वाला।
रसा = पृथ्वी।
खंडिताबला = (खंडिता + अबला) खंडिता वह नायिका कहलाती है जो अपने पति को अन्य स्त्रियों में रमण करता हुआ जानकर हृदय में क्षुब्ध होती है।
सद्य = तुरन्त।
हिमाम्भ = ओस।
ताम्र = लाल।
सुधौत=अच्छी तरह धुला हुआ
द्विजावली = दन्त-पंक्ति।

छन्द ७१ से ७६ तक

अनूरु = अरुण।
प्रचार=संचार।
दन्त-कोश = कली (कोश) के समान दन्त या दाँत रूपी कली।

कुधर = पहाड़ ।
धातु = गेरू ।
नीरजाक्ष = कमल की सी आखों वाले ।
वनायुदेशी = बनायु नामक देश के, ईरानी ।
वक्त्र-वाष्प = मुख की भाप ।
सुप्रतीक = ईशान-दिग्गज ।
गांग पुलिन = गंगा की रेती ।
सुनयन-पद्मा = अच्छी बिरू-नियों वाला ।

षष्ठ सर्ग

छन्द १ से १० तक

सोपचार पीठ = सजावट सहित सिंहासन ।
शिला-विभंग=चट्टानों के कटाव
बह्नि-पीठ-स्थ = बह्नि (मोह) की पीठ पर स्थित ।
कुमार = कार्तिकेय ।
मदोत्कट = मद से भिदे हुए हैं गण्ड जिसके ।
पतिंवरा=पति को वरने वाली ।

छन्द ११ से २० तक

नयन-शतैक-लक्ष्य = सैकड़ों नयनों की एक ही दर्शनीय वस्तु।
पराग-परिवेष = रज-मण्डल ।
कोटि = किनारा, सिरा ।
वलय = कंकण ।
त्रिक=रीढ़ का नीचे का भाग ।
विभ्रमार्थ = विलास के लिए ।
कमल-रक्त-तल = कमल के समान लाल हथेली वाले ।
रेख-केतु-लांछित = रेखा-रूप ध्वजा से चिह्नित (राजाओं के हाथों में रेखा-रूप वज्र, छत्र ध्वजादि के चिह्न होते हैं) ।
स्वपद-स्रस्त = अपने स्थान से हटा हुआ, या खिसलता हुआ

छन्द २१ से ३० तक

मधूक = वृक्ष विशेष या उसके फूल ।
पवनज = पवन से उत्पन्न ।
हरि-पद = इन्द्र-पद ।
गज-शास्त्री = गज सम्बन्धी रहस्यों के विशेषज्ञ ।
काम्य = कामना करने योग्य, सुन्दर ।

छन्द ३१ से ४० तक

कृश-वर्तुल-कटि = पतली और गोल कमर वाला ।

विश्वकर्मा=देवताओं का शिल्पी।
सान-कसा = सान पर चढ़ाया हुआ।
(विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा का विवाह सूर्य के साथ हुआ था। जब संज्ञा से सूर्य का तेज न सहा गया तो उसके पिता ने सूर्य को सान पर कसकर उसके अतिरिक्त भाग को छाँट दिया और इस प्रकार उसे अपनी पुत्री के लिये सह्य बना दिया)
सामन्त = अधीन राजा।
मौलि-मणि = मुकुट-मणि।
मयूख = किरण।
महाकाल = शिवजी का एक प्रसिद्ध मन्दिर जो उज्जयिनी में स्थित है।
शशि-शेखर = शिव।
रंभोरू=रंभा (केला) के समान उरू (जंघा) वाली।
क्षिप्रा = उज्जयिनी-तटस्थ नदी विशेष।
अरि-कर्दम = शत्रु रूपी कीच (कर्दम)
सुदती = अच्छे दाँतों वाली।
ज्या-बन्धन-जड़-भुज = प्रत्यंचा बाँधने से जकड़ी हुई (निश्चेष्ट) भुजाओं वाला।
हरि-जित = इन्द्र को जीतने वाला।

छन्द ४१ से ५० तक

श्रुत-गुरु-निरत = विद्वानों और वयोवृद्धों की सेवा में तत्पर।
माहिष्मती = पुरी विशेष।
वप्र-नितंब = कोट-रूपी नितंब।
पूर्ण-कल=पूर्ण कलाओं वाला।
नीपान्वय=नीप नामक अन्वय (कुल) वाला।
तार्क्ष्य = गरुड़।
प्रवाल = पल्लव।

छन्द ५१ से ६० तक

नृपान्तर-वधू-भाविनी = अन्य नृप की पत्नी होने वाली।
सांगद-भुज=अंगद (कंकण) से भूषित भुजाओं वाला।
याम-तूर्य = पहर बताने वाला बाजा।
बालातप = बाल (प्रातःकालीन-नवोदित) सूर्य।

छन्द ६१ से ७१ तक

जन-स्थान = देश विशेष जो

दंडकवन का एक भाग था और जहाँ खर राज्य करता था ।
सपत्नि = सोत ।
रोचना = एक लाल रंग का पदार्थ जो गौ के मस्तक से निकलता है (गोरोचन) ।
इन्दीवर = नील कमल ।
नृप पथाट्ट=राजमार्ग या प्रधान मार्ग के सहारे का अट्टा ।
अनुक्रमज्ञ = पूर्वापर-संबंध को जानने वाली ।

छन्द ७१ से ८० तक

महोक्ष = बड़ा बैल ।
मृद्-भाजन-शेष = मट्टी के पात्र ही बच पाये हैं जिसके ।
मान = वह चीज़ जिससे नापा जाय ।
माप = नाप ।
धुर्य = धुरन्धर, उत्तरदायित्व के भार को वहन करने में समर्थ ।

छन्द ८१ से ८६ तक

कुटिल-केशी = घूंघरवाले केशों वाली ।
करभोरू = करभ के समान उरू (जांघ) वाली । (कलाई से लेकर छिंगुली उँगली के छोर तक हाथ का भीतरी किनारा करभ कहलाता है । इसकी विशेषता यह है कि वह ऊपर मोटा और नीचे लगातार पतला होता जाता है । इसीलिये यह जंघाओं का उपमान हैं)
वरेण्य = वरने योग्य ।
म्लान = मलीन, उदास ।

सप्तम सर्ग

छन्द १ से १० तक

गुह = कार्तिकेय ।
शची-सन्निधि = इन्द्राणी की समीपता ।
सौध = भवन ।
प्रसाधिका=साज सजाने वाली ।
वातायन = खिड़की ।
शलाका = सलाई ।
नीवी = कमरबन्द, नाड़ा ।
द्रुत = तेज़ ।
स्खलित = गिरती-पड़ती, असावधान ।

छन्द ११ से २० तक

करण = इन्द्रियाँ ।
परस्परापेक्षित=अन्योन्याश्रित ।

अन्तश्चत्वर = अन्दर का चौकोर आँगन ।

मधुपर्क = दही, घी, शहद, खाँड़ और जल के मिश्रण से बनाया हुआ भोज्य पदार्थ विशेष ।

युग्म = जोड़ा ।

छन्द २१ से ३० तक

स्विन्नाङ्गुलि = पसीने से पसीजी हैं (स्विन्न) उँगलियाँ जिसकी।

प्रकोष्ठ = कलाई के ऊपर बाहु का भाग ।

स्मर = कामदेव ।

कंटक = रोमाञ्च ।

नितंब-गुर्वी = नितंबों से भारी।

लाज = खीलें ।

शमी = वृक्ष विशेष (छोंकरा) ।

आचार-धूम = यज्ञ का धूआँ।

स्नातक = गुरुकुल से लौटने वाला विप्र ।

पुरंध्रियाँ = स्त्रियाँ ।

आर्द्राक्षत = गीले चावल ।

(विवाह-समय पर चावल या जौ बोने की एक प्रथा होती है) ।

गूढ़-ग्राह = छिपे हैं ग्राह जिसमें।

उपदा = उपहार, भेंट ।

छन्द ३१ से ४० तक

प्रमदामिषाहरण = प्रमदा (स्त्री) रूपी आमिष (माँस) का हरना या छीनना ।

कृथकैशिक = देश विशेष ।

इन्द्र-रिपु = इन्द्र का शत्रु (बलि का बाबा प्रह्लाद) ।

शराक्षर = शरों में खुदे हुए अक्षर ।

मत्स्य-केतु = मछली की शकल वाली ध्वजाएँ ।

छन्द ४१ से ५० तक

सान्द्र = घनी ।

फल = शर के अग्रभाग में लगी हुई अनी ।

सवर्म = कवचधारी ।

शिवा = शृगाली ।

अंगद-कोटि = अंगद (कड़ूला) की नोक या सिरा ।

छन्द ५१ से ६० तक

कबंध = शिर-रहित शरीर ।

रार = लड़ाई ।

भग्न-सैन्य = नष्ट कर दी गई है सेना जिसकी ।

कक्ष = तिनका, घास ।
दृप्त = स्वाभिमानी ।
क्रियमाण = काम करता हुआ, व्यापृत ।
सहाँक = हाँक (हुँकार) सहित ।
कंकट = कवच ।

छन्द ६१ से ७१ तक

एकांस ओर = एक कधे (अंस) की तरफ़ ।
प्रिया-पीताधर-स्थ = प्रिया से पिये हुए (पीत) अधर (ओष्ठ) पर स्थित ।
मुकुलित = बंद, संकुचित ।
नवजलार्द्र = नये मेह से भीगी हुई ।
साकेत = अयोध्या ।

अष्टम सर्ग

छन्द १ से १० तक

भोज्या = भोज-वंश को (इन्दुमती) ।
उच्छ्वास = साँस ।
अथर्वज्ञ = अथर्व वेद के ज्ञाता ।
नवोढ़ा = नई विवाही हुई
जमा = प्रतिष्ठित, सुस्थित ।

छन्द ११ से २० तक

वेष्टन = साफ़ा ।
अहित्वचा = साँप की केंचली ।
स्नुषा = पुत्र-बधू ।
यति-भूत-रूप-धर = संन्यासी (यती) और राजा के रूपों को धारण करनेवाले ।
परम पद = मोक्ष ।

छंद २१ से ३० तक

अव्यय तम-मुक्त पुरुष = परमात्मा ।
अन्त्येष्टि = दाहादिक क्रिया ।
साग्नि = गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण इन तीन पवित्र अग्नियों को धारण करने वाला ।
दशशतकर = सूर्य ।
दशमुखारि-गुरु = रावण के शत्रु का पिता ।
परिवेप = घेरा, मण्डल ।

छंद ३१ से ४० तक

श्रुत = पवित्र ज्ञान ।
गोकर्ण = स्थान विशेष ।
कुसुमानुग = फूलों के पीछे चलने वाले ।
लतिका-ऋतु-कान्ति = बेलों की अनुकूल ऋतु में प्राप्त हुई शोभा ।

आर्तस्वर = करुण क्रन्दन ।
संकुल = विषम रूप से मिश्रित ।
उपचारादिक = प्रतीकारादिक, उपायादिक ।

छंद ४१ से ५० तक

उतरी = ढीली हुई ।
वल्लकी = वीणा ।
विवर्ण = फीकी ।
मृगलेखा = हरिण का (लेखा) चिह्न ।
हिम-हत = पाले (हिम) की मरी हुई ।
शुचि-स्मित = पवित्र है मुसकराहट (स्मित) जिसकी ।

छंद ५१ से ६० तक

भृंगाभ = भ्रमरों की सी आभा वाले ।
कुसुमार्चित = फूलों से सज्जित (अर्च् धातु का सजाने के अर्थ में भी प्रयोग होता है)
जड़ी = औषधि, बूटी, रूखड़ी ।
मूकालि = (मूक + अलि) निःशब्द भौंरे ।
गुप्तानुचरी = गुप्त सखी ।
विभ्रम = विलास, रति-जनित क्रीड़ा कटाक्षादि ।
मन्थर = मन्द ।
वाताहत = पवन से चंचल ।
वल्लरी = बेल, लता ।

छंद ६१ से ७० तक

कालिनी = लता विशेष ।
दोहद = कलियाते समय वृक्षों की इच्छा, (फल धारण करने के लिये अशोक युवा स्त्रियों से पादताड़न चाहता है और बकुल उनका मुखासव ऐसी कवि-कल्पना है) ।
किन्नर = देवयोनि विशेष जो गायन में निपुण समझी जाती है ।
किन्नर-कंठि ! = हे किन्नरों के कंठ के समान कण्ठ वाली ।
मदिराक्षि = उन्मत्तकारक नयनों वाली ।
स्रुत = टपके हुए, रिसे हुए ।
शाखा-रसाश्रु = शाखा-रस रूपी आँसू ।

छंद ७१ से ८० तक

गुण-शेष = गुण ही बचे हैं जिसके ।
सुवृत्त = अच्छे आचरण वाले ।
तृणविन्दु = एक ऋषि का नाम ।
हरिणी = एक अप्सरा का नाम ।
तपस्या-हरिणी = तप के हरने वाली ।

छंद ८१ से ९५ तक

भू-स्पर्शन = पृथ्वी से संसर्ग।
वंश्या = वंश में उत्पन्न।
कलत्री = कलत्र (स्त्री) वाले।
अविच्छिन्नाधिक = अविरल और अधिक।
शल्य = बाण।
अङ्गाङ्गी = देह और आत्मा।
साम्य-चित्रण = तसवीर।
सौध-तल = मकान का तला।
रोगज = रोग से उत्पन्न।

नवम सर्ग

छंद १ से १० तक

समाधिगम = प्राप्ति।
समय-वर्षिका = समयानुसार वर्षा करने का गुण।
शम-रति = शान्ति में लीन।
वसु = धन।
हरि = इन्द्र।
निदेशकारी = आज्ञाकारी।
अयो-हृदय = लोहे के हृदय का; कठोर हृदय वाला।
जलधि-मेखल = समुद्र है मेखला जिसकी, अर्थात् समुद्र-वेष्टित।

छंद ११ से २० तक

वरूथी = वरूथ (रथ की रक्षा के लिये एक लकड़ी का घेरा) से युक्त।
मरुत = देवता।
अकचा = बिना बाल वाली, अर्थात् विधवा।
अलका = इन्द्र की नगरी।
अनलस = आलस-रहित।
आदि-पुरुष = विष्णु।
कमला = लक्ष्मी।
दुहिता = पुत्री।
तीन शक्तियाँ = प्रभु, मंत्र, उत्साह ये तीन राज-शक्तियाँ हैं।

छंद २१ से ३० तक

यत-गिर = संयत है गिरा जिसकी।
अजिन = मृगचर्म।
विषाण = सींग।
शुनासीर = इन्द्र।
वंन्दित-विक्रम = प्रशंसित है शौर्य जिसका।
धनदाशा = उत्तर (धनद अर्थात् कुवेर की आशा, अर्थात् दिशा)
छद = पल्लव।
मधु-विरचित = वसंत द्वारा रचे हुए।

कृष्या = कृषि-योग्य।

दशम सर्ग

छंद १ से १० तक

इन्द्र-वर्चस् = इन्द्र का सा तेज रखने वाला।

सद्य = तुरन्त।

कर-छद = पाणि-पल्लव।

क्षौम = रेशमी वस्त्र।

विभ्रम-मुकुर = विलास का दर्पण।

श्रीवत्स = विष्णु भगवान् के वक्षस्थल पर श्वेत बालों का एक भौंरी का सा चिह्न जो भृगुजी के चरण प्रहार का चिह्न माना जाता है।

छंद ११ से २० तक

मद = उन्मत्तता।

वनिता-तनय = गरुड़।

निर्जर = देवता।

दिव्याप = (दिव्य + आप) मेह का जल।

अनर्थी = निस्पृह।

अमित = असीम।

मित-लोक = सीमित है लोक जिससे।

अनाथ = नहीं है नाथ जिसका, अर्थात् सबका स्वामी।

छंद २१ से ३० तक

साम = सामवेद के मंत्र या पद्य-बद्ध कोई स्तुति।

सप्ताप = सात समुद्र।

सप्तार्चि = अग्नि।

भ्वादि = पृथ्वी आदि

छंद ३१ से ४० तक

वर्ण-स्थान = कण्ठादिक नाद-यंत्र।

दशन-भा = दाँतों की भा (कान्ति

छंद ४१ से ५० तक

स्वासि = अपनी तलवार।

रावणावग्रह-विकल = रावण रूपी अवग्रह (अनावृष्टि) से पीड़ित।

तरु-जात = तरुगण।

ऋत्विजवर्ग-विस्मय = याज्ञिकों के हृदयों में उत्पन्न हुआ विस्मय।

छंद ५१ से ६० तक

अर्णवाविष्कृत = अर्णव (समुद्र) से प्रकटित या प्रकाशित।

अमृताख्य = अमृता-नामक।

यव-संपदा = जौ की फसल।

छन्द ६१ से ७० तक

सौर-घर = सूतिकागार, सोभर का घर ।
शातोदरी = (गर्भ-मोचन के कारण) क्षीण उदर वाली ।
तल्पस्थ = शय्या-गत ।
शरत्कृश = शरद् ऋतु के आगम के कारण कृश ।

छन्द ७१ से ८० तक

यम = युग्म, जुड़वाँ ।
चतुरूप = (चतूरूप) चार रूपों वाले ।
वादित्रादि = बाजे इत्यादि ।
हविर्भुज = अग्नि ।
अनघ = विमल, स्वच्छ ।

छन्द ८१ से ८६ तक

असुरासि-धार-भिद् = असुरों की असि (तलवार) की धार को तोड़ने वाले ।
नृप-नय = राज नीति ।
चार साधन=साम, दाम, दण्ड और भेद ।

एकादश सर्ग

छन्द १ से १० तक

बुध-रत = विद्वत्सेवी ।
तद्रक्षण-शक्ताशिप= उनकी रक्षा करने में समर्थ आशीर्वाद ।
मधु-माधव = चैत्र-बैसाख ।
उद्धय-भिद्य = नद-विशेष ।
वाहनार्ह = सवारी के योग्य ।
पाद-चार = पैदल चलना ।

छन्द ११ से २० तक

सुकेतु-सुता = ताड़का ।
चंचल-कपाल-कुंडला = हिलते हुए कपाल का कुंडल पहिने हुए ।
बलाकिनी = बलाकों (बगुलों) से युक्त ।
मृत-पट = कफ्फन ।
पुरुषान्त्र-मेखला = पुरुष की अन्तड़ियों की कर्धनी (कोंधनी)
शिला-घन = शिला के समान कठिन ।
निश्चरी = राक्षसी; अभिसारिका ।
प्राणेक = प्राणों का ईश अर्थात् काल; अभिसारिका-पक्ष में 'प्रियतम' ।

छन्द २१ से ३० तक

दनुजघ्न = दैत्य-घातक ।
विकंकत = वृक्ष-विशेष जिसकी

लकड़ी की हवनादि की करछी बनती थी।

स्रुवा = हवन की कलछी या चमची।

महोरग-काल = बड़े बड़े सर्पों का घातक।

छद्म = छल।

छन्द ३१ से ४० तक

हरि-कलत्रता = इन्द्र की स्त्री होने का भाव।

पुनर्वसु = नक्षत्र-विशेष।

कुशिक-कुल-वर्धक = कौशिक, विश्वामित्र।

शुल्क = मूल्य।

कलभ = हाथी का बच्चा।

करतब = वीरता का कार्य या व्यापार।

छन्द ४१ से ५० तक

राघव-सार = राम का सार (बल)।

इन्द्रगोप = वीरवधूटी।

पार्श्वग = नौकर, परिचारक।

जीमूत = मेघ।

सत्य-संध = सत्य-प्रतिज्ञ।

छन्द ५१ से ६० तक

प्रकृति = मूल शब्द,

प्रीति-रोध = प्रेम का घेरा।

मवासे = बसेरे।

परिधि = सूर्य या चन्द्रमा के चारों ओर घिरने वाला कुहरे का सा घेरा।

सान्ध्य-मेघ-रुधिरार्द्र = सायं-कालीनलालबादल रूपी रुधिर से गीले अर्थात् रँगे हुए।

श्येन-पर धूसर-लट=बाज नामक पक्षियों क पंखरूपी मैले बाल।

छन्द ६१ से ७० तक

कृत्य-विद = कार्यज्ञ,

पित्र्यंश, मात्र्यंश = (परशुधर के पिता ब्राह्मण थे और माता क्षत्राणी)।

गोलक = दाने, मनिका।

अभिधान = नाम।

छन्द ७१ से ८० तक

गिरयक्षतास्त्र-धारी = पहाड़ पर भी अकुंठित अस्त्रों को धारण करने वाला।

हैहय = क्षत्रिय कुल विशेष (कीर्त्तिवीर्य सहस्रार्जुन)।

छन्द ५१ से ६३ तक

हर-सूनु = कीर्त्तिकेय।

धाम = तेज।

परमेष्ठी = परम पुरुष; परमेश्वर।

क्लृप्त = सुसज्जित ।
शर्व=शिव या विष्णु का नाम।
शर्वरी=रात्रि ।

द्वादश सर्ग

छन्द १ से १० तक

विषय-स्नेह=भोग-विलासरूपी । तैल ।
ऊषा-दीपकार्चि = प्रातःकाल के दीपक की शिखा।
कुल्या = नहर, नाली ।
मन = मनाई जाकर, प्रसन्न होकर ।
बिला = छिद्र, विवर ।

छन्द ११ से २० तक

आमिष = मांस ।
अभुक्तोत्कर्ष = नहीं भोगा है । उत्कर्ष (समृद्धि) जिसका, अर्थात् बिना भोगे ज्यों की त्यों ।
परिवेत्ता = बड़े भाई से पहिले ही विवाहित छोटा भाई ।

छन्द २१ से ३० तक

हरि-तनुज = इन्द्र का पुत्र (जयंत)।
छिद्रान्वेष = दोष-दर्शन ।
रामावबोधित = सीता द्वारा जगाये हुए।
दाम = मूल्य ।
आथितेय = अच्छी तरह अतिथि सत्कार करने वाले ।
अंगराग=सुगंधित शरीर-लेप ।
संध्याभ्र = संध्याकालीन अभ्र (बादल)।
कपिश = पीला ।

छन्द ३१ से ४० तक

वृषभांस = वृषभ के कन्धे के समान कन्धे वाले (अंस = कन्धा)।
क्षपाटी = राक्षसी ।
शिवा = शृगाली ।
नियोजित = संयुक्त ।

छन्द ४१ से ५० तक

पर्व = गाँठ; जोड़ ।
शित = पैने ।
कबंध-कलाप=रुंडों का समूह ।

छन्द ५१ से ६० तक

स्वसृ-निग्रह = बहिन का पराभव ।
आप्त = योग्य ।
दशरथ-रति = दशरथ के प्रति प्रेम ।

निर्मम = ममत्वरहित ।

छन्द ६१ से ७० तक

दृप्त = उत्तेजित ।

खात = खाई ।

जलधि-परिवेश = समुद्र का घेरा ।

विधान = रचना, कार्य ।

लवणाम्भ = समुद्र ।

छन्द ७१ से ८० तक

पिंगल = पीला ।

प्लवंग = वानर ।

प्रकार = किले की बाहरी दीवार।

हाटक = सोना ।

नग-गण = पहाड़ों के समूह ।

घननादास्त्र-बंधन = मेघनाद द्वारा बाँधा हुआ धन (नाग-पाश) ।

टंक = टाँकी ।

गैरिक = गेरू ।

छन्द ८१ से ६० तक

कपिलाश्व-कर्षित = लाल रंग के घोड़ों से खींचा हुआ ।

नभ-गंगोर्मि-शीत = आकाश-गंगा की उर्मियों (लहरों) से शीतल ।

धनदावरज = रावण (धनद = कुबेर; अवरज=छोटा भाई) ।

छन्द ६१ से १०४ तक

विक्रम-क्रम = वीरता का क्रम या सिलसिला ।

कूटशाल्मली = यम की गदा का नाम ।

शतघ्नी = लोह-कंटकों से युक्त साँग ।

परंपरा = श्रेणी ।

वीचियाँ = लहरें ।

पुनःसन्धान = फिर जुड़जाना ।

नियराये = निकट आये ।

त्रयोदश सर्ग

छन्द १ से १० तक

शब्द गुणात्मक निज पद = आकाश ।

फेनिल = फेनयुक्त ।

छायापथ = आकाश-गंगा ।

शरण्य = शरण-दाता ।

वराह-वर = वाराहावतार रूपी वर या दूलह ।

उद्वाह = उत्थान या विवाह ।

छन्द ११ से २० तक

तद्गंड=उनके गंड (कपोल) ।

प्ररोह = अंकुर ।

अयश्चक्र = लोहे का चक्र ।

पूग = सुपारी ।

अपनीत = दूर, निःशेष ।

छंद २१ से ३० तक

चंडी = अपनी प्रिया के लिये प्रयुक्त एक प्रेम-सूचक शब्द (मानिनी)।

गवाक्ष = गौख, खिड़की।

चपला वलय = विद्युत्प्रभा का घेरा या चक्र।

मंजीर = बिछुआ।

छंद ३१ से ४० तक

कुच-सम-कलित-गुच्छ-नत = स्तनों के समान सुन्दर गुच्छों से झुकी हुई।

उन्मुख-हरिण = ऊपर को मुख किये हुए हैं हरिण जिसमें।

पार्थिव = पृथ्वीसंबंधी भू-लोक पर स्थित।

त्रेतानल = गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण नामों वाली तीन पवित्र अग्नियाँ।

कुशमात्र-वृत्ति = केवल कुश का आहार करने वाला।

पंचाप्सर-यौवन-कुपाश में = पाँच अप्सराओं के यौवन-रूपी जटिल फंदे में।

चंद्रशाला = अट्टा, ऊपर का कमरा या कोठा।

छंद ४१ से ५० तक

रशनाभास = (रशना आभास) कोंधनी का प्रदर्शन।

ऊर्ध्वभुज = ऊपर को उठी है भुजा जिसकी (शरीर को कसने के लिये तपस्वी लोग भिन्न भिन्न क्रियाएँ करते थे, जिनमें से एक यह थी कि खड़े हो कर वे एक भुजा को अविरल ऊपर को ताने रहते थे, यहाँ तक कि यह भुजा रुधिर-प्रवाह के रुक जान के कारण विकृत और व्यर्थ हो जाती थी)।

अक्ष-स्रग्वलय = रुद्राक्ष की माला का कंकण।

आहिताग्नि = तीन पवित्र अग्नियों को धारण करने वाला।

बंधुराङ्गि! = हे निम्नोच्च अंगों वाली।

छंद ५१ ६० तक

संघात = समूह।

संग्रथित = साथ गूँथी या गुही हुई।

कालागुरु-पत्रांक = काले अगर

से काढ़े हुए पत्र-पुष्पाकार चिह्न जो मस्तक पर बनाये जाते हैं।

कृष्णोरग-भूपित = काले सर्प से युक्त।

अनवद्याङ्गि ! = हे निर्दोष अङ्गों वाली।

प्रधान = मूल प्रकृति।

छंद ६१ से ७० तक

पुलिनाङ्क = पुलिनरूपी गोद।

आसिधार-व्रत = युवा पत्नीका सतत सहवास करते हुए भी संभोगेच्छा को रोके रहनेकी प्रतिज्ञा।

घ्राण = सूँघना।

छंद ७१ से ७६ तक

सानुग = परिचारकों सहित।

काम-गति = इच्छानुसार चलने वाला।

सावरज = छोटे भाई के साथ।

जटिल = जटाधारी।

प्रजा-पुरःसर = प्रजा आगे है जिसके।

चतुर्दश सर्ग

छंद १ से १० तक

हतारि = मार दिये हैं शत्रु जिन्होंने।

वाष्पान्ध = आंसुओं के कारण अन्धी।

हिमाद्रि-निस्पद = हिमालय का निर्झर।

क्षत्राणीप्सित = क्षत्राणियों से चाहा हुआ।

वीरसू = वीरों को पैदा करने वाली।

छंद ११ से २० तक

सामादि-संघ = साम, दाम, दण्ड और भेद का वर्ग।

कर्णीरथ = स्त्रियों के योग्य छोटा रथ।

गवाक्ष-लक्ष्याञ्जलि = खिड़कियों से दीखने वाली अंजलि (हाथ जोड़ना)

प्रभवादिकजन्मादिक।

धनदोद्वहन-निमित्त = कुबेर की सवारी के लिये।

छंद २१ से ३० तक

गुरु-नियोग = पिता की आज्ञा।

कृत्तिका = छै नक्षत्र-रूप-धारिणी देवियाँ जिन्होंने कुमार को पोषण किया था।

गुह = कुमार या कार्तिकेय।

ऋद्धापण = समृद्ध बाजार।

छन्द ३१ से ४० तक

वाग्मी-वर = वक्ताओं में श्रेष्ठ।
अयानुसार = लोहे के समान।
वाम = (वामा) स्त्री।
सूर्य-सूत = सूर्य से उत्पन्न।
आलानिक-स्तंभ = बँधन-स्तंभ।
सिन्धु-नेमि = समुद्र है घेरा (नेमि) जिसका, अर्थात् सागरावेष्ठित।

छन्द ४१ से ५० तक

दोहदिनी = गर्भिणी।
प्रियंकर = प्रिय करनेवाला।
असिपत्र विटप = खड्गाकार पत्रों वाला वृक्ष-विशेष।

छन्द ५१ से ६० तक

औत्पातिकाश्म = उत्पात-सूचक पाषाण (अश्म)।

छन्द ६१ से ७० तक

क्रौञ्च = पक्षि-विशेष।

छन्द ७१ से ८० तक

प्रणिधान = ध्यान।
अविकत्थन = शेखी न मारने-वाला, सरल।
सज्जन-भव-दुख-हर = सन्तों के सांसारिक दुःखों को दूर करने वाला।
शान्त-जन्तुक = शान्त हैं जन्तु जिसमें।
दर्श = अमावास्या।

छन्द ८१ से ८७ तक

शक्रजित्-मर्दन = लक्ष्मण।
मित-भोग = परिमित (अल्प) है भोग जिसका; अल्पभोगी।

पंचदश सर्ग

छन्द १ से १० तक

शूली = शूल धारण किये हुए।
विशूल = शूल-रहित।
व्यावर्तन = बाध, परिहार, संहार।
अपवाद = छूट (Exception)
'इङ्' धातु पठनार्थक है। 'अधि' उपसर्ग लगने पर भी वह उसी अर्थ का द्योतक रहता है।
बालखिल्य = ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न अंगुष्ठ-प्रमाण के साठ सहस्र देव-विशेष जो सूर्य-रथ के आगे-आगे चलते हैं।

छन्द ११ से २० तक

मधूपघ्न = लवणासुर का नगर।
पावक-पिशंग=अग्नि के समान पीले।

क्रव्यागृद्ध्ण = (गृध्रादि) ।
मुस्ता=घास-विशेष(हि० मौथा)

छन्द २१ से ३० तक

सव्येतर = दाहिनी ।
पौरुष-भूषण=पुरुषार्थ में श्रेष्ठ ।
सौराज्योन्नत = सुन्दर शासन के कारण उत्कर्ष को प्राप्त हुई।
स्वर्गातिरिक्तजन=स्वर्ग के अतिरिक्त (हिसाब से अधिक; फालतू) प्राणी ।
हेम-भक्ति = सुवर्ण-रचना ।

छन्द ३१ से ४० तक

ज्येष्ठोत्सुक = बड़े भाई के दर्शन के लिये उत्सुक ।

छन्द ४१ से ५० तक

अपचार = बुरा आचार ।
वर्णापचार = वर्ण-व्यवस्था-विरोधी आचरण ।
आप्तोच्चार = विश्वसनीय शब्द ।
जव = वेग ।
श्वपाक = शूद्र ।

छन्द ५१ से ६० तक

शिरच्छेद्य = शिर काटने योग्य।
श्मश्रु = मूँछें ।
हिम-हत-किंजल्क = पाले से मुरझा गये हैं भीतर के तन्तु जिसके ।
पथ-दर्शितात्म=पथ-दर्शी मस्तिष्क या रूप वाले ।
पीत = पिया हुआ ।
मुक्त-हय = छोड़ दिया है घोड़ा जिसने या जिन्होंने ।
उपशल्य = नगर का बाहरी भाग (Suburb) ।

छन्द ६१ से ७० तक

किन्नर-कंठी = किन्नरों के कंठों के से कंठ वाले ।
हिम-निष्यन्दिनी = ओस बरसाने वाली ।

छन्द ७१ से ८० तक

ऋचा = वेद की उक्ति ।
काषायाच्छादित = वल्कल से ढकी ।
प्रतिसंहृत करके = खींचकर ।

छन्द ८१ से ९० तक

पति-दत्तेक्षणा = पति की ओर देखती हुई ।
सीता-प्रत्यर्पण-कामी = सीता की वापिसी के इच्छुक ।
युधाजित = भरत का मामा ।
तदाख्य=उन्हीं के नामों वाले ।

छन्द ९१ से १०३ तक

स्वर्याता = स्वर्ग-गता ।
विवृतात्मा = प्रकटितकर दिया है आपे को जिसने ।

अश्रु-लव-प्रद=आँसू के कणों को उत्पन्न करने वाले।

गुरु अश्रु=बड़े-बड़े आँसू।

संमर्द=जमाव, भीड़।

गोप्रतर = गौओं या अन्य पशुओं के पार जाने योग्य नदी की पाँझ।

षोडश सर्ग

छन्द १ से १० तक

चतुर्भुजांशोत्पन्न = राघवों के पक्ष में विष्णु के अंश से उत्पन्न।

दिग्-द्विरदों के पक्ष में=ब्रह्मा के अंश से उत्पन्न। पुराणानुसार सूर्य-मण्डल के दो पलों को लेकर ब्रह्मा ने सप्त-साम का गायन किया और गाते हुए ब्रह्मा से मतंगज उत्पन्न हुए।

दान-रुचि-रत = राघवों के पक्ष में-दान देने की वृत्ति में लीन।

दिग्-द्विरदों के पक्ष में-मद-जल डालने की इच्छा में लगे हुए।

अष्टधा = आठ प्रकार; आठ शाखाओं में।

साम-योनि=सामवेद से उत्पन्न, सामवेद है योनि (कारण) जिसका।

प्रोषित-पतिका = वह नायिका जिसका पति प्रवास में हो।

हैम = हिम-संबन्धी; पाले या तुषार का।

छन्द ११ से २० तक

अभिसारिका = वह नायिका जो गुप्तरूप से प्रिय के संकेत-स्थल को जावे।

सख-मुखोल्का = शब्दित मुख के अंतर्गत प्रकाश।

यष्टि=पक्षियों के बैठने की पाड़।

नाग-मुक्त-निर्मोक-पटल=सर्पों से छोड़ी हुई केंचली के पर्त।

तत्पट = उनके वस्त्र।

छन्द २१ से ३० तक

वानीर = बेत।

कुल-पुरी-वृत = कुल-नगरी से वरण किए हुए।

सावरोध = रनवास-सहित।

छन्द ३१ से ४० तक

पुलिन्दार्पितोपहार = पुलिन्द-नामक जंगली जाति की दी हुई भेट।

पर = पंख।

चलित-ध्वज = फहरा रही हैं ध्वजाएँ जिसकी।

उपोषित = उपवास किए हुए।
वास्तु-विधानज्ञ = गृह-निर्माण की कला के ज्ञाता।

छन्द ४१ से ५० तक

सपण्य = पण्य (क्रय-विक्रय की वस्तु) सहित।
श्वास-हार्य = फूँक से उड़ने-वाले।
घर्म = ग्रीष्म।
क्षपा = रात्रि।
कलहान्तरित = कलह के कारण एक दूसरे से अलहदा हुए।
नव-नख-क्षताङ्कित = नखों की नवीन खरोंच से चिह्नित।
धारागार = वे आगार या घर जिनमें गर्मी को शाँत करने के लिए शीतल जल की फुआरे डालने का प्रबंध होता है।
यंत्र = फुव्वारे।
वसन्तान्त-निर्वल = वसन्त के अवसान के कारण क्षीण।

छन्द ५१ से ६० तक

पिंजर = पीली।
उदार = सुन्दर।
पुराण = पुराना।
रणित = शब्द।
वलय-घर्षण = कंकड़ों की रगड़।
अभ्युक्षण = छिड़कना।
साभ्र = समेघ।
सांगद = कंकड़ों या बाजुओं सहित।

छन्द ६१ से ७० तक

कुचोत्पतित = स्तनों के ऊपर गिरे हुए।
शशि-भावृत = चंद्रमा की आभा से व्याप्त।
शृङ्ग = पिचकारी।

छन्द ७१ से ८० तक

जैत्राभरण = विजयप्रद आभूषण।
ह्रद = गंभीर जलाशय।
जालिक-गर्त = बहेलिया का गड्ढा।

छन्द ८१ से ८८ तक

मूर्धाभिषिक्त = मस्तक का अभि-षेक कराये हुए, अर्थात् राजा।
कार्यार्थ-मनुज = कार्य के लिए मनुष्य-रूप धारण करनेवाले।
आजानु-विलम्बित = घुटनों तक लटकती हुईं।
ज्या-घर्षण-लांछित = प्रत्यंचा की रगड़ से चिह्नित।
ऊर्ण-वलय-मय = ऊन के कंकण से युक्त।

सप्तदश सर्ग

छन्द १ से १० तक

पूत = पुत्र और पवित्र ।
अर्थ-विद = अर्थज्ञ ।
वशी = संयमी ।
कुमुदानन्द = कुश-पक्ष में—कु (पृथ्वी) के मोद में है आनंद जिसको। चन्द्र-पक्ष में–कुमुदों को आनन्द है जो ।
वृषा-पीठार्ध = इन्द्र के सिंहासन का अर्ध भाग ।

छन्द ११ से २० तक

जिष्णु = जयशील ।
सारंगाभिनन्दित = चातकों से प्रशंसित ।
दोह-मुक्ता = दुहाने से बरी ।

छन्द २१ से ३० तक

हंस-चिह्न = हंसों के चित्रों से चिह्नित ।

छन्द ३१ से ४० तक

तद्वृत्ति = उनका स्वभाव ।
अभिषेकाप=अभिषेक का जल ।

छन्द ४१ से ५० तक

नभ = श्रावण ।
नमस्य = भाद्रपद ।
परों = शत्रुओं ।
निकष = कसौटी ।
प्रणिधि-किरण = चर रूपी रश्मियाँ ।
गुप्त-द्वार = गुप्त है द्वार (प्रकट होने का साधन) जिसका । (गुप्त इंगितों से विचार प्रकट किये जाते थे)

छन्द ५१ से ६० तक

दरी = गुहा ।
पाक=परिपाक,पूर्णता,सफलता।
प्रकृति-वैराग्य = प्रजा की उदासीनता ।

छन्द ६१ से ७० तक

दीर्घिका = वापी, बावड़ी,
अभिसार = नायिका का गुप्त रूप से पति के पास जाना ।
गन्ध-गज = वह मद-मत्त हाथी जिसकी गन्ध से ही अन्य गज भग जाते हैं ।

छन्द ७१ से ८१ तक

दातृत्व = दातापन ।
दुरित = पाप ।
ऐन = घर, स्थान ।
वृषा = इन्द्र ।
कुगद = बुरे रोग ।

अष्टादश सर्ग

छन्द १ से १० तक

निषिद्धारि=रोके हैं शत्रु जिसने।
गुरु=पिता।
नड्वल=सरपतों का क्षेत्र या स्थल।
धर्मोत्तर=धर्म-प्रधान।
तज्जात=उसका जाया अर्थात् पुत्र।
अमोघ-धन्वा=अव्यर्थ है धनुष जिसका।
अनीकिनी=सेना।

छन्द ११ से २० तक

विधि-रत=यज्ञ-निष्ठ।
यष्टृ लोक=स्वर्ग।
वशंवद=मृदु-भाषी।
अहीन=पूर्ण।
आदि-नर=भगवान्।
अस्खलित=अप्रतिहत, अचूक।
चतुरुपक्रम=चार उपाय (साम, दाम, दण्ड, भेद)।
पारियात्र=कुल-पर्वत-विशेष।
विलासिनी=प्रेमिका।
अरतिक्षम=प्रणय के लिये अक्षम अयोग्य या असमर्थ।
नाभि=प्रधान, प्रमुख, मुखिया।

छन्द २१ से ३० तक

वज्राकर-भूषित=हीरे की खानों से भूषित।
वज्रधर-तेज=इन्द्र के तेज का सा तेज रखने वाला।
अश्वि-रूप=अश्विनीकुमारों के से रूप वाले।
हिरण्याक्षारि-अंश=विष्णु का अंश।
सानिल=पवन-सहित।
हिरण्यरेता=अग्नि।
कृती=कृतकृत्य।
ब्रह्मिष्ठ=ब्रह्म-वेत्ता, ब्रह्म-निष्ठ।
सुप्रज=सुन्दर सन्तानवाला।
पुष्कर-दल-नेत्र=कमल-दल के से नेत्र वाला।

छंद ३१ से ४० तक

भावी हरि-सहचर=इन्द्र का सहचर होने की इच्छा रखने वाला, अर्थात् स्वर्ग-गमनेच्छुक।
स्थिति=प्रतिष्ठा।
त्रिपुष्कर=तीर्थ-विशेष।
पौष्या=पुष्य नक्षत्र से युक्त।
छवि-जित-पुष्पराग=छवि से

जीता है पुष्पराग (पुखराज) जिसने ।

पुष्य = राजा का नाम और नक्षत्र का नाम ।

मनीषी = विद्वान् ।

कुल-तंतु एक = कुल का एक-मात्र सूत्र ।

कासार = जलाशय, झील ।

कुड्मलवान = कली-रूप धारण करने वाला ।

छंद ४१ से ५३ तक

लाक्षारस = एक प्रकार का लाल रंग (लाख) ।

अक्षर-पट्टाङ्कित=पट्टी पर लिखे हुए ।

युग-सादृश्य = जूए की समता।

प्रथम-स्तोक=जो पहिले कम थे ।

त्रिवर्ग = धर्म, अर्थ और काम।

पूर्व-तन = ऊपर का शरीर, आगे का अंग।

राग = विलास ।

सापत्न्य = सौतपन ।

एकोनविंश सर्ग

छन्द १ से १० तक

गुरु = पिता ।

अधर-राग-लालिमा = होठों पर लगे लाक्षादि रंग की लालिमा ।

छन्द ११ से २० तक

पान-स्थली = मदिरापान का स्थान ।

मुखासव = मुख में भरी हुई मदिरा ।

अङ्क-विहारोचित = अङ्क में विहार है उचित जिनका; अङ्क में रखने योग्य ।

ठेका = तबले की ताल ।

गुरु-पार्श्वग = उस्ताद और बगलगीर ।

तर्जन = डाट ।

रशना-बंधन=कोंधनी से बंधन ।

सुरत-वार = संयोग-दिवस ।

स्विन्न = पसीने से भीगी हुई ।

छन्द २१ से ३० तक

प्रणय-शिथिल=प्रेम में शिथिल-प्रयत्न ।

चूर्ण-पीत = कुंकुमादि चूर्णों से पीली ।

शिथिल-पट = ढीले हैं वस्त्र जिनके ।

छन्द ३१ से ४० तक

कंठ-सूत्र = आलिंगन-विशेष ।

कैतव = बहाना ।
नीप-रेणु = कदंब का पराग ।
कुटज और अर्जुन = वृक्ष-विशेष ।

छन्द ४१ से ५० तक

निश्चल-दीपाक्षी = निश्चल दीप रूपी आँखों वाली ।
अन्तरालय = भीतरी घर ।
विग्रह = कलह ।
हाला = शराब ।
पाटल = गुलाब ।

छन्द ५१ से ५७ तक

अन्त्येष्टिज्ञ = दाहादिक कर्मों के ज्ञाता ।
अंतर्गूढ़ = भीतर छिपे हुए ।
भानी = तोड़ी ।

——:❀:——
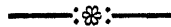
संशोधन

रघुवंश

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१	छत्राधिपत	छत्राधिप
६	४	हारिण	हारिणि
१४	१३	राज्य-श्री	राजश्री
४७	१०	चिर-वर्तिन	चिर-वर्तिनि
५१	११	में	मैं
५५	३	फल	फूलों
५६	७	बोला	बोली
६४	१	पल्लवाच्छदित	पल्लवाच्छादित
६७	७	धप	धूप
८२	१२	हिम-हिति	हिम-हत
८२	१६	आश्रिता	आश्रित
८७	१५	कहै	कहैं
९१	१५	को भा	को भी
९३	१२	कुव	कुरवकों
९९	५	मनाने	मानवे
११३	२	सब	सभी
११४	८	पुत्र	युगल
११६	८	कँपा	कँपी
१३०	५	उटे	उठे
१४६	८	सप्तषि	सप्तर्षि
१७०	५	तद्-ज्ञाताओं	तज्ज्ञाताओं
१७८	१२	कुञ्ज	पुञ्ज
१८१	८	धर्म	घर्म
१८३	११	में	से
१९१	१३	या	पा
१९८	३	अगद	कुगद
२०८	१	रमण ने	रमणने

शब्दार्थ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१६	८	रत्नों के	रत्नों को
२१६	१३	श्वांस	श्वास
२१७	१५	राज्य-लक्ष्मी	राज-लक्ष्मी
२१९	१	लय।	लय–
२१९	१०	मांगलीक	मांगलिक
२२४	१६	सर्वस्व-दक्षिणा	सर्वस्व दक्षिणा
२२५	१४	चलाया हुआ	जलाया-हुआ
२३१	५	कालिनी	फलिनी
२३१	१२	मरी हुई	मारी हुई
२३१	१०	प्रयाग	प्रयोग
२३२	२२	कठार	कठोर
२३८	१२	प्रकार	प्राकार

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३८	१७	ंधन	बंधन
२४०	३	निस्पंद	निस्यंद
२४२	२४	श्मश्र	श्मश्रू
२४३	१	करणों	कर्णों
२४३	११	विष्ण	विष्णु
२४४	१	कंकड़ों	कंकणों
२४६	८	विष्ण	विष्णु
२४६	१३	ब्रह्मवेता	ब्रह्मवेत्ता

भूमिका

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२	२३	प्रक	एक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध
२३	२४	रत्नधर्म-राजकृत
३६	१२	अन्त दृष्टि
६३	२२	प्रणाण
८९	१८	पियासा
८७	६	होजाता
८६	१०	राज्य
१०३	४	स्ततंत्र
१०६	६	रत्नवान